इंग्लैण्ड का आर्थिक विकास

(ECONOMIC DEVELOPMENT OF ENGLAND)

लेखक

डॉ० चतुर्भुज मामोरिया

एम० कॉम०, एम० ए० (भूगोल), पी-एच० डी०

अध्यक्ष, व्यावहारिक अर्थशास्त्र एवं वित्त,

महाराणा भूपाल कॉलेज, उदयपुर

सदस्य, फैकल्टी ऑफ कॉमर्स एवं बोर्ड ऑफ स्टडीज, व्यावहारिक अर्थशास्त्र एवं वित्त,

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

तथा

वाणिज्य समिति, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, अजमेर

एवं

प्रो० एन० के० सुखवाल

एम० ए० (अर्थशास्त्र), बी० कॉम०

वाणिज्य विभाग,

गवर्नमेण्ट कॉलेज, अजमेर

साहित्य भवन

शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक

आगरा

अन्य प्रकाशन :

१. अमेरिका का आर्थिक विकास
२. सोवियत संघ का आर्थिक विकास
३. भारत का आर्थिक विकास

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित सस्करण : १९६४

मूल्य : रु० ५·००

प्रकाशक : साहित्य भवन, अस्पताल मार्ग, आगरा।
मुद्रक : राष्ट्रीय इलैक्ट्रिक प्रेस, शीतला गली, आगरा।

अध्याय १.

संयुक्त-राष्ट्र
(United Kingdom)

स्थिति क्षेत्रफल आदि

ये द्वीप समूह दो बड़े और कई छोटे-छोटे द्वीपों से मिलकर बने हैं जो यूरोप के उत्तर-पश्चिमी कोने पर ५०° उत्तरी अक्षांश तथा ६०° उत्तरी अक्षांश और १°४५′ पूर्वी देशान्तर तथा १०°३०′ पश्चिमी देशान्तरों के बीच में स्थित है। इसकी उत्तर-दक्षिण लम्बाई ६०० मील और पूर्व-पश्चिम चौड़ाई ३०० मील है। इनका क्षेत्रफल १२१,६०० वर्ग मील है। ये दो बडे द्वीप क्रमशः ग्रेट ब्रिटेन (जिसमें इंग्लैंड, वेल्स और स्कॉटलैंड के राज्य सम्मिलित हैं) तथा आयरलैंड (जिनमें उत्तरी आयरलैंड और आयर प्रजातन्त्रीय राज्य हैं) हैं। इंग्लैंड के दक्षिणी तट से दूर ह्वाइट द्वीप और धुर दक्षिण-पश्चिम में सिलीद्वीप तथा उत्तरी वेल्स के उत्तर की ओर एंगलसे द्वीप हैं। पश्चिमी स्कॉटलैण्ड के निकट असंख्य द्वीप हैं जिनमें मुख्य ओर्कने और शटलैंड है। इंग्लैंड का क्षेत्रफल ५०,३२७ वर्गमील है। यह ४९ प्रशासनिक इकाइयों में बँटा है। वेल्स का क्षेत्रफल ८,०१७ वर्गमील है और इसमें १३ इकाइयाँ हैं। स्कॉटलैण्ड में ३३ इकाइयाँ हैं जिनका क्षेत्रफल ३०,४११ वर्गमील है। उत्तरी आयरलैण्ड का क्षेत्रफल ५,४५९ वर्गमील है जिसमें ६ इकाइयाँ हैं। ये सब देश मिलाकर संयुक्त-राष्ट्र (United Kingdom) का निर्माण करते हैं। संयुक्त-राष्ट्र का क्षेत्रफल ९३,०१८ वर्गमील है। विदेशों का क्षेत्रफल एवं जनसंख्या इस प्रकार है :—

देश	क्षेत्रफल (वर्गमील में)	जनसंख्या १९५१	जनसंख्या १९५९
इंग्लैंड	५०,०५१	४१,१५९,२१३	४२,७६४,०००
वेल्स और मनमथशायर	७,९६६	२,५९८,६७५	२,६२२,०००
स्कॉटलैंड	२९,७९५	५,०९६,४१५	५,१९२,०००
उत्तरी आयरलैंड	५,२०६	१,३७०,९२१	१,४०८,०००
योग	९३,०१८	५०,२२५,२२४	५१,९८६,०००

ग्रेट ब्रिटेन की महत्ता के कारण

संयुक्त-राष्ट्र विश्व का सबसे उन्नतिशील देश है । १९ वीं शताब्दी से ही यहाँ व्यापार और उद्योग-धन्धों का आश्चर्यजनक रूप से विकास हुआ है और तभी से यह देश इंजीनियरिंग उद्योगों, रेलों की प्रमुखता, तथा अन्य उद्योगों के आविष्कार में अग्रगण्य रहा है । ग्रेट ब्रिटेन की इस महान व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति में इसकी प्राकृतिक तथा भौतिक सुविधाओं ने बड़ा योग दान दिया है जैसा कि नीचे दिए गए विवरण से स्पष्ट होगा :—

(१) ग्रेट ब्रिटेन के दो भौगोलिक गुण हैं जो एक दूसरे के पूरक हैं । यह गुण प्रथकता (Insularity) और सार्वभौमिकता (Universality) हैं । यह विश्व के स्थल गोलार्द्ध के केन्द्र पर स्थित है अत: सभी भाग इसके निकट पड़ते हैं । इसका कोई भी भाग समुद्र से ७५ मील से अधिक दूर नहीं पड़ता । सामुद्रिक मार्गों का विकास बढ़ जाने से तो यह पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक देशों के तो निकट पड़ता ही है वरन् यह संयुक्त राज्य अमरीका और सुदूर पूर्व के भी निकट पड़ने लगा है क्योंकि पश्चिमी यूरोप के मुख्य व्यापारिक मार्ग इसी के निकट से निकलते हैं । इंगलिश चैनल इसे यूरोप के महाद्वीप से अलग करती है अतएव यहाँ की राजनीति और उन्नति की विधि का ज्ञान सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता । यूरोप के अन्य उन्नतिशील देश एक दूसरे से स्थल द्वारा मिले हैं अतएव एक दूसरे के रहस्य को जान सकते हैं और उत्तम नीतियों का अनुसरण करके वैसा ही बनाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति इसके विपरीत है । यही इसका गुण है ।

(२) समुद्र के बीच स्थित होने के कारण यहाँ के लोगों का बाह्य संसार की झलक प्राप्त करने की उत्सुकता आदिकाल से ही रही है । उसी की पूर्ति के लिए इन लोगों ने समुद्र के आतंक से निर्भीक होकर विश्व-भर में अपने उपनिवेश (Colonies) स्थापित किये और 'ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता' कहावत की प्रसिद्धि पाई । ब्रिटेन के चारों ओर का समुद्र सभी स्थानों पर ३०० फुट से अधिक गहरा नहीं है, केवल उत्तर-पश्चिम की ओर ही तट के पहाड़ी होने के कारण समुद्र भी ६००-फुट से लगाकर ३,००० फुट तक गहरा हो गया है । इस छिछले समुद्र के कारण ही यहाँ के निवासियों का सम्पर्क समुद्र से हो पाया है और इसीलिए यहाँ के निवासी विश्व-विख्यात मछुए हैं । यहाँ का सामुद्रिक बेड़ा भी बड़ा सुदृढ़ है जो ग्रेट ब्रिटेन की सफलता एवं शक्ति का कारण रहा है ।

(३) छिछले तटीय समुद्र में स्थित होने के कारण यहाँ के बन्दरगाहों को ऊँचे ज्वार से भी लाभ होता है । जहाज बन्दरगाहों में सफलता से पहुँच जाते हैं और उनमें कीचड़ आदि भी नहीं जमती । यहाँ उत्तम कोटि के बन्दरगाहों का बाहुल्य है । यहाँ २४ उत्तम बन्दरगाह हैं अर्थात् प्रति ५,००० वर्ग मील पीछे एक बन्दरगाह है जबकि संयुक्त-राज्य अमेरिका में प्रति २०,००० वर्ग मील पीछे एक बन्दरगाह है ।

इन वन्दरगाहों में मुख्य ग्लासगो, एडिनबर्ग, फर्थ, कार्लीस्ले, न्यूकैसल, संडरलैंड, टाइन माऊथ, वैस्ट हार्टलपूल, मिडिल्सबरो, हल, ग्रिम्सबी, लंदन, डोवर, हेस्टिंग्ज, ब्राइटन, पोर्ट्समाऊथ, बोर्नमाऊथ, प्लाईमाउथ, ब्रिस्टल, कार्डिफ, स्वानसी, लिवरपूल, बरो, वर्किंगटन, डंडी, एबरडीन, बिक आदि हैं।

(४) यह शीत शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित है किन्तु गल्फ स्ट्रीम की गर्म धारा से प्रभावित रहने के कारण यहाँ जाड़े में भी (उत्तरी भागों को छोड़ कर) बर्फ नहीं पड़ती। जाड़े में यहाँ का तापक्रम ४०° से ५०° फा० तथा ग्रीष्म ऋतु में ६०° फा० से कुछ ही अधिक रहते हैं। मानसिक और शारीरिक कार्यों के लिये यह जलवायु आदर्श है। लोगों में स्फूर्ति रहती है इससे यहाँ के श्रमिकों की कार्य-कुशलता बढ़ी हुई है। जलवायु के स्वास्थ्यवर्धक होने के कारण ही खेती और कारखानों में वर्ष भर काम होता रहता है तथा हिम से मुक्त होने के कारण आवागमन में भी बाधा नहीं पड़ती।

(५) कोयला और लोहा, जो आधुनिक युग की औद्योगिक उन्नति के मेरूदंड माने जाते हैं, इस द्वीप में पर्याप्त मात्रा में और उत्तम श्रेणी के पाये जाते हैं। ये पास-पास होने से उन्हीं के निकट उद्योगों का स्थानीयकरण भी हो गया है।

प्राकृतिक बनावट (Physical Features)

बनावट पर विचार करने से मालूम होता है कि ब्रिटेन यूरोप के स्थल भाग का ही एक अंग है जो एक डूबे हुए मैदान के द्वारा जिस पर आजकल उत्तरी सागर स्थित है, मुख्य स्थल-भाग से काट दिया गया है। फ्रांस का ब्रिटेनी प्रान्त और इंग्लैंड के कार्नवाल तथा डेवन प्रायद्वीप एक ही बनावट के हैं। इसी प्रकार लंदन बेसिन तथा पेरिस-बेसिन भी एक स्थल भाग के दो अंग मात्र हैं। ब्रिटिश द्वीप समूह बनावट के अनुसार तीन भागों में बाँटे जाते हैं। ये भाग नई और पुरानी चट्टानों के अनुसार किये गये हैं। टीज माउथ (Tees Mouth) से इंगलिश चैनल पर स्थित डोरसेट तक यदि एक सीधी रेखा खींच दी जाये तो उसके पश्चिमी भाग में प्राचीन और कठोर चट्टानों वाला भाग तथा पूर्व में कई चट्टानों वाला भाग है। इस रेखा के पश्चिम में स्थित पुरानी और कड़ी चट्टानों वाले भागों में ये भाग इस प्रकार हैं:—

(१) स्कॉटलैंड के पहाड़, (२) इंग्लैंड तथा वेल्स के ऊँचे भाग और पूर्व की ओर नई चट्टानोंवाला प्रदेश अंग्रेजी मैदान है (चित्र १)।

(१) स्कॉटलैण्ड के पहाड़ (Scottish Highlands)

स्कॉटलैंड प्राय: ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों का ही देश है। इसका उत्तरी पहाड़ी भाग **ग्रैमपियन** है। इन पहाड़ों के ढाल अधिकतर सीधे हैं जिससे उन पर पेड़ नहीं पाये जाते। यह पहाड़ी भाग वास्तव में प्राचीन पहाड़ों के घिस जाने से बने हैं। प्राचीन समय में वर्फ की बहुत मोटी तह इन भागों पर जमी हुई थीं जिसके पिघलने से यहाँ
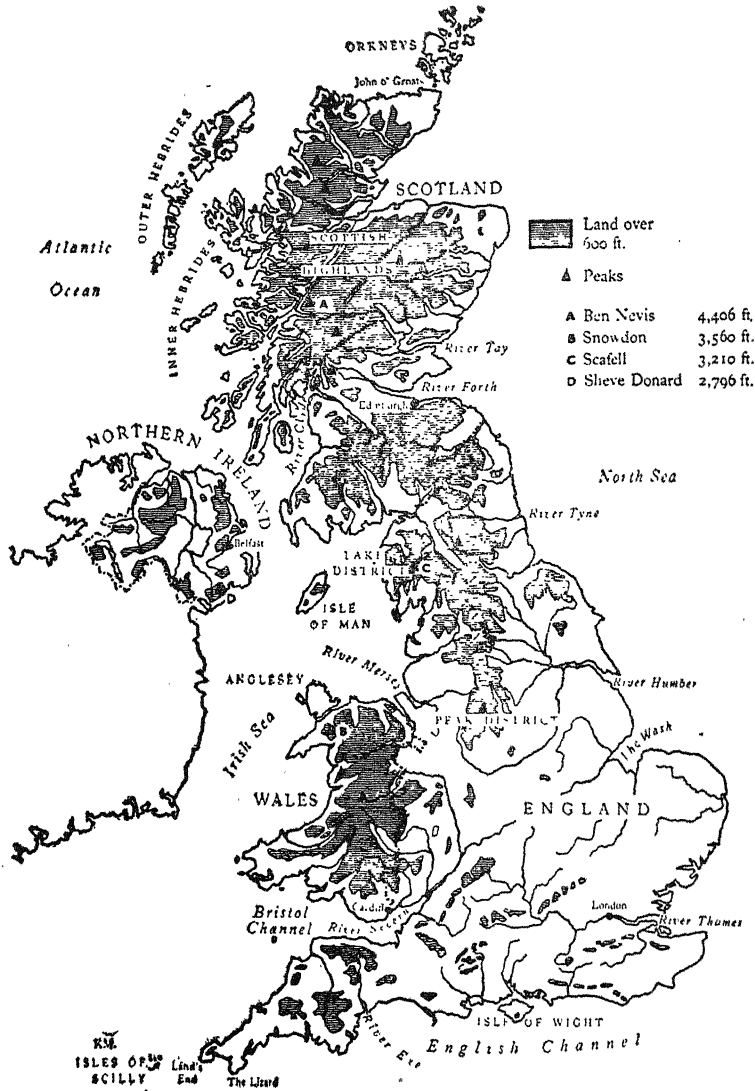
चित्र—१

अब कई झीलें और गहरी घाटियाँ बन गई हैं। इस भाग की ऊँचाई प्रायः ३००० फुट से अधिक है। ब्रिटेन की सबसे ऊँची चोटी बेन नेविस यहीं है। स्काटलैंड के इस भाग में अनेक छोटे बड़े द्वीप हैं जिनमें मुख्य आर्कनी द्वीप समूह, शटलैंट द्वीप, हैब्रीड्रीज आदि हैं। इस भाग के कटे हुए क्षेत्रों में समुद्र का जल भरा है जिससे समुद्र के किनारे बहुत फियोड बन गये हैं। अतः यहाँ के निवासिनों का मुख्य उद्यम मछलियाँ पकड़ना

ही है। स्काटलैंड के दक्षिणी पठार से निकल कर कई नदियाँ (जिनमें मुख्य **क्लाइड नदी** और **ट्वीड** है) बहती हैं। इन नदियों ने समुद्र के निकट लाल मिट्टी के कुछ-चौड़े मैदान बना दिए हैं। इसी भाग में खेती होती है।

सारे का सारा ही स्कॉटलैंड पहाड़ों और झीलों का ही देश नहीं है। प्राचीन समय में इन पहाड़ों का एक भाग स्कॉटलैंड के मध्य में टूट कर पृथ्वी में धँस गया था जिससे उस स्थान पर अब एक उपजाऊ घाटी बन गई है। स्काटलैंड का लगभग सारा आर्थिक जीवन इसी मध्य स्काटलैंड के मैदान में पाया जाता है। यहाँ खेती होने के अतिरिक्त कोयला भी निकाला जाता है। इस कोयले की सुविधा के कारण समुद्र के निकट वाले नगरों में लोहे और कपड़े के कारखाने भी अधिक हैं। इस घाटी के दक्षिण की ओर फिर ऊँची भूमि का आरम्भ हो जाता है जो **पिनाइन पहाड़ी** से होती हुई वेल तक बराबर चली जाती है। यह भाग पहाड़ी है किन्तु न तो अधिक ऊँची है और न इतनी वर्षा ही होती है जितनी उत्तरी भागों में अतः यहाँ भेड़ बहुत पाली जाती हैं। ब्रिटिश आईल्स के ये सभी ऊँचे भाग ऊन के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं।

(२) इंग्लैंड तथा वेल्स के ऊँचे भाग (Uplands of England & Wales)

इनमें **पनाइन** पहाड़ी ही मुख्य है जो उत्तर से दक्षिण को जाती है। यह पहाड़ी अधिक ऊँची नहीं है इससे पूर्व पश्चिम के मार्गों में कोई भी बाधा नहीं पड़ती। ये सब मार्ग अधिकतर इस पहाड़ी के तीन निचले स्थानों—**टाइन गैप, शैप फैल और आयर गैप** से ही जाते हैं। इस पहाड़ी के आर पार रेलें और नहरें इन्हीं निचले स्थानों से निकाली गई हैं। इस पहाड़ी की चोटियाँ गोल और चौरस हैं और उन पर भेड़ों के चरने के लिए अच्छे मैदान है। इन ऊँचे भागों में बहुत से ऐसे भी स्थान हैं जहाँ पानी के बहाव के अच्छे न होने के कारण घास उगती और सड़ती रहने से दलदल (Heath or Marsh) अधिक हैं। इन स्थानों को **मूर** (Moors) कहते हैं। पिनाइन पहाड़ी का ढाल मुख्यतः पूर्व और दक्षिण की ओर ही है। इस पहाड़ी से से निकली हुई नदियाँ अधिकतर इन्हीं दिशाओं को बहती भी हैं। इन नदियों का आर्थिक महत्व अधिक है। प्राचीन काल में इन्हीं नदियों के जल-प्रवाह से कपड़े बुनने की मशीनें चलाई जाती थीं। आजकल भी इनका जल मिलों में रंगाई और सफाई इत्यादि के काम आता है। इसलिए अधिकांश कारखाने इन्हीं नदियों के किनारे पाये जाते हैं। पिनाइन पहाड़ी के ढाल कारखानों के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। लंकाशायर, यार्कशायर और चैशायर के उद्योगों का सम्बन्ध इसी पहाड़ी के ढालों से है। पिनाइन पहाड़ी का बहुत कुछ महत्व उसके निकटवर्ती खनिज पदार्थों (विशेषतया कोयले) के ही कारण है। इस पहाड़ी के पूर्वी, दक्षिणी तथा पश्चिमी ढालों में बहुत दूर तक कोयला पाया जाता है।

झील क्षेत्र (Lake District) में ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ हैं जिन पर प्राचीन काल में बर्फ जमी हुई थी। बर्फ पिघलने से यहाँ असंख्य झीलें बन गई हैं। इस क्षेत्र

की सुन्दरता का आनन्द लूटने प्रतिवर्ष हजारों यात्री यहाँ आते हैं। पिनाइन के पश्चिमी और दक्षिणी पश्चिमी भाग में दो मुख्य छोटे-छोटे पठार **बोलन फोरेस्ट** और **रोसेनडेल फॉरेस्ट** हैं।

पिनाइन पहाड़ी से पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की ओर नीचे मैदान हैं जिन्हें **मिडलैंड (Midland)** कहते हैं। इन मैदानों की मिट्टी लाल है। इन मैदानों में कहीं-कहीं पहाड़ी टीले भी निकल आये हैं। ये मैदान जिन्हें **चैशायर मैदान** कहते हैं, दक्षिण की ओर अधिक चौड़े हैं। वहीं पर कई प्रकार के नमक खोदे जाते हैं जिनका प्रयोग साबुन, दवाइयाँ, कपड़ों की रंगाई तथा रासायनिक पदार्थों के बनाने में होता है। यह मैदान अधिकतर फलों और तरकारियों की खेती तथा दूध देने वाले पशुओं के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। इस मैदान के पड़ौस वाले औद्योगिक देशों की घनी आबादी में इन वस्तुओं की बड़ी माँग रहती है।

इस मिडलैंड के मैदान के दक्षिण की ओर **डेवन (Deven)** और **कार्नवाल (Cornwall)** के प्रायद्वीपों में भूमि फिर ऊँची हो जाती है जिस पर इधर-उधर बहुत-सी छोटी-मोटी पहाड़ियाँ हैं। भूमि के ऊँची-नीची होने के कारण यहाँ पर प्राय: खेती नहीं होती किन्तु ढालों पर सेव इत्यादि फलों के पेड़ अधिक हैं। इस भाग में जलवायु की शीतोष्ण समता सबसे अधिक पाई जाती है। यहाँ पर गर्मी के शीघ्र आरम्भ हो जाने के कारण फसल से पहले ही तैयार होने वाली तरकारियाँ अधिक बोयी जाती हैं। कार्नवाल में टीन अधिक पाया जाता है जिसका उपयोग दक्षिणी वेल्स के कारखानों में होता है। यहाँ चीनी मिट्टी भी मिलती है अत: चीनी मिट्टी के बर्तन अधिक बनाये जाते हैं। इसीलिये सेवर्न नदी का मध्य का भाग **पॉटरीज (Potteries)** कहलाता है। इस नदी के ऊपरी भाग में जौ अधिक पैदा होने से शराब बनाई जाती है।

मिडलैण्ड के मैदान से पश्चिम की ओर **वेल्स (Wales)** की ऊँची भूमि है। यहाँ की पहाड़ियाँ केम्ब्रियन पहाड़ियाँ कहलाती हैं किन्तु नदियों के द्वारा यहाँ की भूमि बहुत कट गई है जिससे इसके कई भाग हो गये हैं। यहाँ नीची भूमि बहुत कम मिलती है जो कुछ है वह अधिकतर दक्षिण में ही है। वेल्स से उत्तर-पश्चिम और दक्षिण की ओर समुद्रतट के छोटे-छोटे मैदान हैं जिसका महत्व खेती के लिए ही अधिक है। ये मैदान उत्तर और पश्चिम की ओर पश्चिम की अपेक्षा अधिक चौड़े हैं। उत्तर में **ऐंगलसी नामक** द्वीप इन्हीं समुद्री तट के मैदानों का ही एक भाग है। इसके पूर्व में **हियर फोर्ड** का मैदान और दक्षिण में **ग्वेंट** का मैदान प्रमुख है। वेल्स में वर्षा अधिक होती है इसलिये यहाँ से पड़ौस के बड़े-वड़े नगरों को पानी भेजा जाता है। वेल्स में जल की अधिकता है किन्तु भूमि उपजाऊ नहीं है इस कारण यहाँ के निवासी अधिकतर पशु-पालन या जई आदि की खेती करते हैं। भीतरी पहाड़ों पर भेड़ें पाली जाती हैं। वेल्स का महत्व उसके खनिज पदार्थों पर ही निर्भर है। द० वेल्स का

कोयले वाला प्रदेश लगभग १००० वर्ग मील तक फैला हुआ है यह क्षेत्र ब्रिटिश द्वीपों में दूसरा बड़ा क्षेत्र है। इसी कोयले के कारण लोहा बाहर से मँगाया जाता है।

आयरलैंड (Ireland) भी इन्हीं पुरानी चट्टानों वाले देश का एक भाग मात्र है। प्राचीन समय में इसका उत्तरी भाग तो स्कॉटलैंड से और दक्षिणी भाग वेल्स से जुड़ा था। आयरलैन्ड के किनारों-किनारों पर ऊँची भूमि अथवा पहाड़ हैं इसलिये यहाँ समुद्र तट के मैदान की प्रायः कमी है। इसका मध्य भाग नीचा है जिससे वहाँ पानी भर जाता है। इसी कारण आयरलैण्ड का मध्य भाग दलदली है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय दूध-दही इत्यादि के लिए पशुओं का पालना और जई, जौ, आलू तथा आलटीन की खेती करना है।

(३) अँग्रेजी मैदान (English Lowland)

बिल्कुल सपाट मैदान नहीं है बल्कि ऊँची-नीची भूमि का भाग है। इस मैदान में तीन ऊँचे-ऊँचे उभार हैं जिनके ढाल धीरे-धीरे पूर्व की ओर को हैं इसलिए पूर्व की ओर से देखने पर तो इनकी ऊँचाई बिल्कुल ही नहीं मालूम होती। लेकिन पश्चिम की ओर इनके ढाल सीधे हैं। इन उभारों में से, सेवर्न से पूर्व की ओर चलने पर, पहला उभार सैंड-स्टोन का मिलता है जिसके उत्तरी-पूर्वी सिरे पर लोहा पाया जाता है। जहाँ लोहा मिलता है वहाँ इस भाग का नाम **क्लीवलैंड की पहाड़ी** है। दूसरे और तीसरे उभार खड़ियाँ मिट्टी के हैं जिनमें पानी सोख लिया जाता है जिससे इन पर केवल छोटी-छोटी घास ही उगती है। किन्तु पहले उभार पर पेड़ों के वन पाये जाते हैं। इस खड़िया वाले देश में पानी के सोते अधिक पाये जाते हैं। खड़िया का उभार आगे जाकर दो भागों में बँट जाता है। इसका दक्षिणी भाग इंगलिश चैनल के किनारे-किनारे गया है। **डोवर की पहाड़ियाँ** भी इसी भाग के अंग हैं। खड़िया के इन उभारों को **डाउन्स (Downs)** कहते हैं। यहाँ भेड़ें अधिक पाली जाती हैं।

इन उभारों के बीच में कुछ घाटियाँ भी हैं जिन में अधिकतर खेती होती है। सैंड-स्टोन से लगी हुई जो घाटी है उसमें चिकनी मिट्टी अधिक है इसलिये इसे **चिकनी मिट्टी की घाटी (Clay Vale)** कहते हैं। पश्चिम में होने के कारण यहाँ पानी बहुत बरसता है। अतः यहाँ घास बड़ी-बड़ी होती है जिस पर गाय-बैल आदि पशु अधिक पाले जाते हैं। शेष दोनों घाटियों में मिट्टी अधिक उपजाऊ है जिनमें गेहूँ, हाप्स और चुकन्दर की खेती अधिक होती है। समुद्र की ओर पहुँचते पहुँचते मैदानों में कहीं-कहीं बालू अधिक मिलने लगती है। इस मैदान की विशेषता यहाँ की खेती में है। यहाँ खनिज पदार्थ बिल्कुल ही नहीं पाये जाते इसीलिये कारखानों की कमी इस भाग की दूसरी विशेषता है किन्तु इसके साथ ही साथ लन्दन जैसे घने बसे हुए नगर की उपस्थिति के कारण इस नगर के निकट बहुत से कारखाने बन गये हैं।

जलवायु और वर्षा (Climate & Rainfall)

ब्रिटेन के जलवायु पर तीन मुख्य बातों का प्रभाव पड़ता है। (१) उत्तरी अटलांटिक महासागर में न्यून वायु भार का क्षेत्र तथा अजोर्स का उच्च वायु भार क्षेत्र स्थित है। इन दोनों क्षेत्रों के अन्तसम्बन्ध से अनेक तूफान उठा करते हैं। वैसे तो ब्रिटेन के किसी न किसी भाग में वर्ष भर ही तूफान उठते हैं किन्तु हेमंत में अधिक उठते हैं। इन्हीं तूफानों के कारण ब्रिटेन में ऋतु परिवर्तन अधिक होता है। उत्तरी अटलांटिक में गल्फस्ट्रीम के कारण पश्चिमी भागों पर बड़ा असर पड़ता है। यूरोप के उत्तरी भागों की ठंडी वायु द्वारा यहाँ शीत काल में हिमवर्षा भी हो जाती है। (२) ब्रिटेन की स्थिति उत्तरी अक्षांशों में होने के कारण वहाँ सूर्य की किरणें सदा तिरछी पड़ती हैं। ग्रीष्म ऋतु में गरमी अधिक हो जाती है क्योंकि इस समय यहाँ तूफान भी कम आते हैं और पछुआ हवायें भी नहीं चलतीं। अतः इस ऋतु में समुद्र
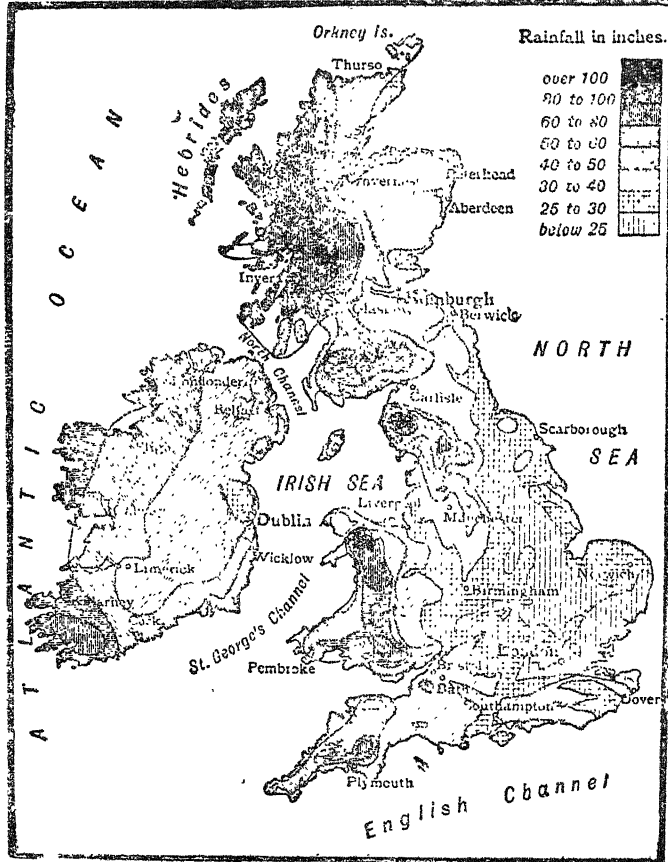
चित्र—२

का प्रभाव अधिक नहीं होता । (३) पश्चिम की ओर पहाड़ी भाग होने से समुद्र का प्रभाव अधिकतर वहीं रुक जाता है। इन पहाड़ियों का सबसे बड़ा प्रभाव ब्रिटेन के ताप और वर्षा के वितरण पर पड़ता है।

शीतकाल में ब्रिटेन का तापक्रम ४०° फा० और ५०° फा० के बीच में रहता है। इस ऋतु में सबसे अधिक शीत के क्षेत्र लन्दन बेसिन, झील क्षेत्र और स्कॉटलैंड की पहाड़ियाँ हैं। यह शीत क्षेत्र या तो समुद्र के प्रभाव से वंचित हैं या इनकी ऊँचाई अधिक है। गर्मी की ऋतु में तापक्रम ५५° से ८३° फा० तक रहता है। इस ऋतु में सबसे उष्ण भाग लन्दन बेसिन के आस पास की नीची भूमि है। गरमी और सर्दी की ऋतु का तापक्रमान्तर अधिक नहीं होते। यह अन्तर पश्चिम में २०° फा० और दक्षिण पूर्व में ३०° फा० रहता है। पश्चिम में समुद्री प्रभाव के कारण अन्तर कम रहता है। शीत ऋतु में समुद्रतटीय भागों में गहरा कोहरा पड़ता है। वैसे तो ब्रिटेन में वर्षा साल भर ही होती है किंतु शिशिर और हेमंत में ही अधिक होती है। पश्चिमी पछुआ हवाओं द्वारा वर्षा अधिक होती है। झील क्षेत्र में २००" वर्षा हो जाती है किन्तु पूर्व और दक्षिण पूर्व की ओर वर्षा का औसत केवल ३०" ही होता है। पूरे ब्रिटेन का वार्षिक औसत ४०" है। शीत ऋतु में कभी-कभी पहाड़ी भागों में हिम वर्षा भी हो जाती है।

वनस्पति (Natural Vegetation)

प्राचीन काल में ग्रेट ब्रिटेन में चौड़ी पत्ती वाले पतझड़ के वनों से आच्छादित था। हैम्पशायर के न्यू फॉरेस्ट तथा ग्लोस्टरशायर के डीन के वन उन्हीं वनों के अवशेष मात्र हैं। स्कॉटलैंड में सर्वत्र झाड़ी के बन (Woodlands) फैले हैं। यहाँ के वनों को साफ करके कृषि योग्य भूमि के लिए काम में लाया गया है। ग्रेट ब्रिटेन की ६०० फुट की ऊपर की भूमि घास तथा झाड़ियों से ढकी हैं। इस सीमा के नीचे कुछ बड़े वृक्षों के वन पाये जाते हैं। इन वनों में फर, हिकोरी, ओक, मेपल, पोयलर, बीच एल्म के वृक्ष मिलते हैं। इंग्लैंड में स्काटलैंड और आयरलैंड की अपेक्षा वन भूमि कम है। मध्य इंग्लैंड, पश्चिमोत्तर स्कॉटलैंड तथा मध्य आयरलैंड और द० प० वेल्स में घास के सदैव हरे-भरे रहने वाले मैदान मिलते हैं जहाँ पशुचारण व्यवसाय अधिकता से किया जाता है। सामुद्रिक जलवायु के कारण घास सदा हरी-भरी रहता है। अधिक वर्षा वाले पहाड़ी ढालों पर चीड़, स्प्रूस और फर के नुकीली पत्ती वाले वृक्ष मिलते हैं। इंग्लैंड और वेल्स में लगभग आधी कृषि योग्य भूमि स्थायी घास के मैदानों के अन्तर्गत है, और एक चौथाई खाद्यान्नों के अन्तर्गत तथा एक-छठा भाग अस्थायी रूप से घास के मैदानों के अन्तर्गत है। स्कॉटलैंड में स्थायी घास के मैदानों के अन्तर्गत $\frac{1}{4}$ और अस्थायी मैदानों के अन्तर्गत $\frac{1}{7}$ वाँ भाग तथा उत्तरी आयरलैंड में यह भाग क्रमशः आधा और $\frac{1}{4}$ है।

ब्रिटेन में वनों के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल ४,०७५,००० एकड़ अनुमानित किया

गया है जिसमें से लगभग आधा इंग्लैंड में और दो-तिहाई स्कॉटलैंड और शेष वेल्स में। नीचे की तालिका में विभिन्न प्रकार और स्वामित्व के अनुसार वन क्षेत्र का वर्गीकरण बताया गया है :—

वनों के प्रकार	वन आयोग के अन्तर्गत	निजी वन क्षेत्र	योग	कुल वन क्षेत्रफल का प्रतिशत
नुकीली पत्ती वाले	१,०६४	६३०	१,७२४	४२
चौड़ी पत्ती वाले	१३१	७३६	८७०	२२
कोपिस वन	२६	३००	३२६	८
अनुत्पादक वन	८८	१,०६४	१,१५२	२८
योग	१,३४२	२,७३३	४,०७५	१००
कुल वन क्षेत्र का %	३७	६७	१००	—

पशु चारण व्यवसाय (Pastoral Industry)

ग्रेट ब्रिटेन का पशु चारण व्यवसाय विश्व विख्यात है। यहाँ अधिकतर पशु पश्चिमी भाग में पाले जाते हैं। यहाँ के आर्थिक जीवन में पशुओं से प्राप्त सम्पत्ति का महत्व इसी बात से जाना जा सकता है कि १९२५ में इंग्लैंड और वेल्स की कृषि-आय का $\frac{3}{3}$ से अधिक पशु सम्पति से प्राप्त होता था और स्कॉटलैंड में $\frac{4}{5}$ वाँ भाग। ग्रेट ब्रिटेन का सामुद्रिक जलवायु कृषि उत्पादन की अपेक्षा पशुचारण व्यवसाय के लिए अधिक अनुकूल है क्योंकि लगातार होने वाली वर्षा बीज बोने और फसल को ठीक समय पर काटने में बाधा डालती है। ब्रिटेन के उत्तरी और पश्चिमी भाग मुख्यत: पहाड़ी हैं जहाँ की पथरीली भूमि कृषि व्यवसाय के लिए प्रमुख बाधा है। यहाँ तक कि अँग्रेजी मैदान की चाक मिट्टी भी फसल के उत्पादन के लिए अच्छी नहीं है। किन्तु इन भागों में घास के मैदानों की अधिकता से पशुचारण व्यवसाय बहुत ही उन्नत हो गया है। मुख्य पशुचारण क्षेत्र पूर्व में है जो दक्षिण की ओर यार्कशायर के ईस्ट राइडिंग क्षेत्र तक फैला हैं।

भेड़ें यहाँ का मुख्य पशु है जो मुख्यत: पहाड़ी और घास के उन मैदानों में पाली जाती हैं जहाँ की जलवायु में आर्द्रता की अपेक्षा शुष्कता अधिक रहती है। दक्षिणी स्कॉटलैंड, वेल्स की उच्च भूमि, खाड़ियों वाले पूर्वी इंग्लैंड और दक्षिणी पूर्वी इंग्लैंड में भेड़ें अधिक पाली जाती हैं। इनके अतिरिक्त गाय, बैल, घोड़े, सूअर भी पाले जाते हैं। सूअर प्राय: दुग्धशालाओं के निकट ही पाले जाते हैं। इन्हें पनीर पर रखा जाता है। घोड़े खेती के लिए पाले जाते हैं। गाय-भैंस मुख्यत: दुग्धशालाओं के लिए पाले जाते हैं। दुग्धशालाओं की दृष्टि से ब्रिटेन का स्थान डेनमार्क और हॉलैन्ड के बाद है।

दुग्धशालाओं का धन्धा निम्न भागों में मुख्य है :—

(१) **कोमवाल, डेवन और सोमरशेट शायर क्षेत्र**—यहाँ पनीर और क्रीम बनाई जाती है ।

(२) **वेल्स के मैदान**—यहाँ दूध और पनीर बनाया जाता है ।

(३) **चैशायर**—सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र है । यहाँ पनीर बनाया जाता है ।

(४) **आक्सफोर्ड और एल्सबरी की घाटियाँ**—यहाँ से लन्दन नगर को दूध भेजा जाता है ।

(५) आयरलैंड में उत्तर और दक्षिणी पश्चिमी भाग में दूध का धन्धा किया जाता है ।

नीचे की तालिका में पशुओं की संख्या बताई गई है :—

संयुक्त-राष्ट्र में पशु (दस लाख में)

	१९३९	१९४४	१९५८	१९५९
दुग्धशाला के पशु	३९	४४	४६	४७
अन्य पशु	५०	५१	६३	६६
भेड़	२६९	२०१	२६१	२७७
सूअर	४४	१९	६५	६०
मुर्गियाँ	७४४	५५१	९९७	१०६६
घोड़े	११	·९	०·२	०·२

मिट्टियाँ—ग्रेट ब्रिटेन की मिट्टियाँ कुछ तो बड़ी ही उपजाऊ हैं । ये मिट्टियाँ लाल बालुहा-पत्थर के नष्ट होने से अथवा चिकनी मिट्टी और खड़िया मिट्टी के सम्मिश्रण से बनी है । उपजाऊ मिट्टियाँ मुख्यत: नीचे मैदानी क्षेत्रों में मिलती है, जैसे इंग्लिश-प्लेन, मध्यवर्ती पठार, स्कॉटलैंड के मध्य मैदान तथा निम्न समुद्र तटीय भाग और वेल्स के तटीय भागों में । लाल मिट्टी के क्षेत्र मध्यवर्ती पठार और स्कॉटलैंड के उत्तरी पूर्वी भाग में तथा हिमानी द्वारा बिछाकर लाई मिट्टी कैम्ब्रिज के निकट फैन के मैदान में मिलती है । चिकनी मिट्टी मुख्यत: सेवर्न नदी की घाटी में तथा बालू मिट्टी पूर्वी तट के निकटवर्ती क्षेत्रों में और दोमट मिट्टी इंगलिश मैदान में बहने वाली नदियों की घाटियों में मिलती है ।

कृषि उद्योग (Agriculture)

ऊँचे भागों में जो निम्न क्षेत्र मिलते हैं वे कृषि के योग्य नहीं हैं क्योंकि ये उन चट्टानों से बने हैं जिनके नष्ट होने से बनी मिट्टियाँ अधिक उपजाऊ नहीं होती और अधिक वर्षा के कारण ऊँचे अक्षांशों में खेती का उद्योग सम्भव नहीं है । किन्तु ये ऊँचे भाग औद्योगिक क्षेत्र हैं । अत: ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र के अन्य भागों में

कृषि का विशिष्ट रूप मिलता है। पशु-पालन, साग-सब्जी तथा फलों का उत्पादन इस क्षेत्र में अधिक किया जाता है। चारा और जई यहाँ की मुख्य उपज है।
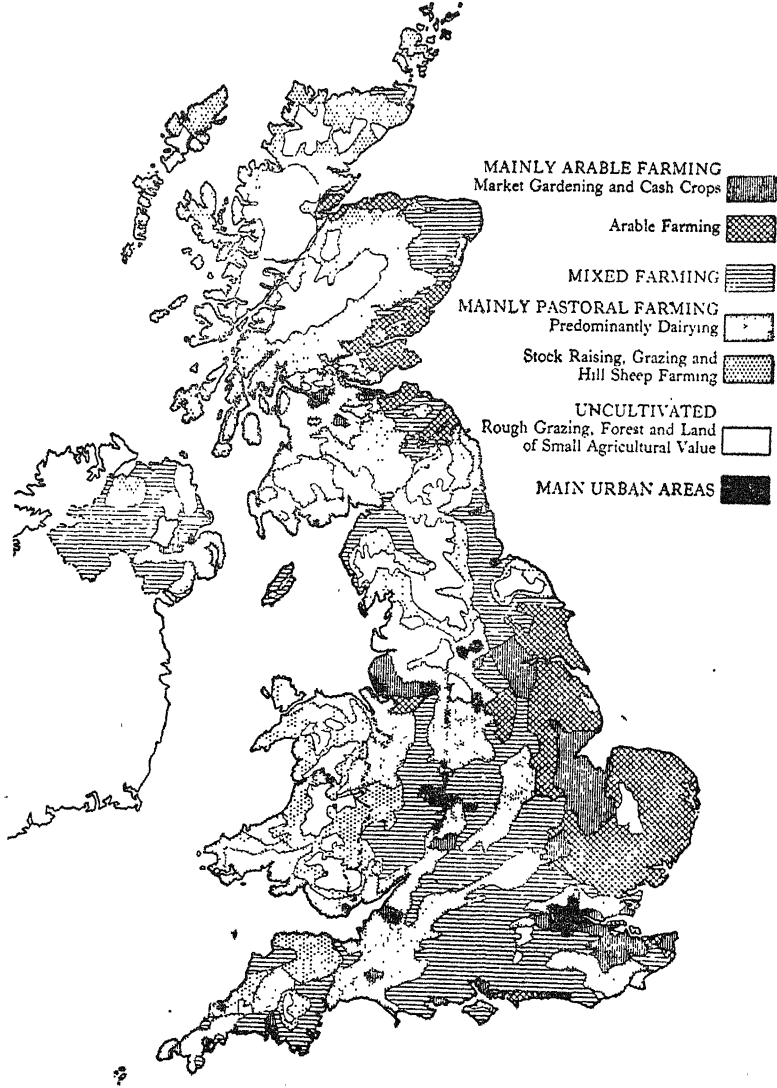
चित्र—३

ग्रेट ब्रिटेन यद्यपि एक औद्योगिक देश है किन्तु प्राय: सभी कच्चा माल और खाद्यान्न विदेशों से ही आयात किए जाते हैं। फिर भी कृषि यहाँ का मुख्य उद्योग है जिसमें लगभग १० लाख व्यक्ति लगे हैं अर्थात् उद्योगों में लगी जनसंख्या का ४

प्रतिशत । कृषि के द्वारा राष्ट्रीय आय का ४ प्रतिशत प्राप्त होता है तथा ६ करोड़ एकड़ भूमि में से ४·८ करोड़ एकड़ भूमि पर कृषि की जाती है। संयुक्त राष्ट्र के कुल ३०६ लाख एकड़ भूमि पर खेती की जाती है तथा घास उत्पन्न होती है और १८३ लाख एकड़ भूमि पर चराई की जाती है। यहाँ के औसत खेत ६८ एकड़ के हैं। लगभग ⅓ खेत १०० एकड़ से अधिक के हैं। स्कॉटलैंड के पूर्वी और दक्षिणी भागों में उत्तम भूमि मिलने के कारण खेती की जाती हैं तथा ऊँचे भागों में चराई की जाती है। उत्तरी आयरलैंड में अधिकांश खेत ३००-४०० एकड़ के हैं।

जलवायु तथा मिट्टी में अन्तर होने के कारण कृषि के प्रकार में भी अन्तर पाया जाता है। मोटे तौर पर इंग्लैंड के आधे पूर्वी भाग में (पूर्वी एंगलिया, केंट, लिंकोलनशायर और यार्कशायर) खेती की जाती है तथा इंग्लैंड के पश्चिमी भाग और वेल्स में पशु-पालन किया जाता है। फैंस के मैदान में आलू सब्जियाँ अधिक पैदा की जाती है। अन्यत्र बागान खेती की जाती है। कुल कृषि योग्य भूमि के ३७% भाग पर चराई खेती (Pasture farming), २२% पर अनाजों की खेती (Arable farming) और २९% पर मिश्रित खेती (Mixed farming) की जाती है। यहाँ की मुख्य फसलें महत्व के अनुसार गेहूँ, जौ, जई, आलू आदि हैं।

गेहूं यहाँ की मुख्य फसल है। इसकी उत्पादन सीमा ६०° फा० जुलाई की समताप रेखा द्वारा सीमित है। ब्रिटेन में गेहूँ को गर्म और धूपदार ऋतु की आवश्यकता होती है जो पूर्वी इंग्लैंड में मिलती है। इसका सबसे अधिक उत्पादन लिन्कन, नॉरफोक, सफोक, कैम्ब्रीज, एसेक्स और यार्कशायर में हैं जहाँ कुल उत्पादक क्षेत्र का ४०% पाया जाता है। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त गेहूँ की खेती पूर्व की ओर के सूखे और धूपीले भागों में लोथियन, हन्टिंगटन, बेडफर्डशायर, फाइफशायर, तथा हम्बर और टेम्स नदियों के मध्यवर्ती भागों में हैं। यहाँ गेहूँ का प्रति एकड़ उत्पादन भी अधिक है— ४२ बुशल प्रति एकड़।

जौ और जई भी यहाँ के मुख्य अनाज हैं जो कम उपजाऊ भूमि पर पैदा किए जाते हैं। ये फसलें शीत प्रदेशों में भी हो सकती हैं अतः ये अधिकतर उत्तर में ही विशेषतः स्कॉटलैंड, आयरलैंड और वेल्स में तथा इंग्लैंड में कम्बरलैंड, नोर्थम्बरलैंड और नॉरफोक में पैदा की जाती हैं।

आलू मुख्यतः आयरलैंड, स्काटलैंड और इंग्लैंड के पूर्वी भागों में विशेषतः लिंकोलनशायर और फेन-प्रदेश में पैदा किये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त गाजर, पटसन, आदि भी यहाँ पैदा किए जाते हैं।

नीचे की तालिका में संयुक्त राष्ट्र में कृषि भूमि का उपयोग बताया गया है :—

कृषि भूमि का उपयोग (लाख एकड़ में)

	१९३९	१९४४	१९५८	१९५९
गेहूँ	१८	३२	२२	१९
जौ	१०	२०	२८	३१
जई	२४	३७	२२	२०
मिश्रित अनाज	६	४	३	२
राई	·२	·१	·२	·१
सभी प्रकार के अनाज	५३	९४	७५	७३
आलू	७	१४	८	८
चुकन्दर	३	४	४	४
चारा-फसलें	१३	२०	१३	११
फल	३	३	३	३
सब्जियाँ	३	५	४	४
अन्य फसलें	२	४	१	२
पड़ती भूमि	४	२	३	४
कुल कृषि भूमि (Total tillege)	८८	१४६	११२	१०९
कुल कृषि योग्य भूमि	१२९	१९३	१७५	१७८
स्थायी रूप से घास	१८८	११७	१३५	१३१
योग : फसलें और घास	३१७	३१०	३१०	३०९
चराई	१६५	१७०	१६९	१८३

बागान खेती (Horticulture) का महत्व इंग्लैंड के लिए अधिक है। कुल कृषि योग्य भूमि के २½% भाग पर फल पैदा किये जाते हैं जिनका मूल्य १९५९-६० में लगभग १४ करोड़ पौंड था, जबकि अनाजों का मूल्य २६ करोड़ पौंड था। फलों के अन्तर्गत ३ लाख एकड़ तथा सब्जियों के अंतर्गत ४ लाख एकड़ भूमि उपयोग में लाई जाती हैं। बड़े नगरों के पाश्ववर्ती भागों में इनका उत्पादन अधिक किया जाता है। बेडफोर्डशायर, केम्ब्रिजशायर, हैम्पशायर, कैंट और एवन घाटी में ये विशेष रूप से पैदा किये जाते हैं। इंग्लैंड और वेल्स में सख्त फलों का उत्पादन विशेषतः दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम और पूर्वी भाग तथा कैंट में किया जाता है। नारंगी, सेव, बेर, चैरी, स्ट्रॉबैरी, रास्पबैरी आदि फल कैंट, वरसेस्टरशायर, नोरफोक और पर्थशायर में पैदा किए जाते हैं। शराब बनाने के लिए हॉंग (Hog) का उत्पादन कैंट तथा ससेक्स और हियरफोर्ड तथा वरसेस्टरशायर में किया जाता है।

नीचे की तालिका में संयुक्त राष्ट्र का कृषि उत्पादन बताया गया है :—

कृषि उत्पादन

उत्पादन	इकाई	युद्ध-पूर्व का औसत	१९४६-१९४७	१९५८ १९५९	१९५९-१९६० में अनुमानित
कृषि-जन्य पदार्थ					
गेहूँ	००० टन	१,६५१	१,९६७	२,७११	२,७८६
राई	,,	१०	३९	२१	१३
जौ	,,	७६५	१,९६३	३,१७०	४,०३८
जई	,,	१,९४०	२,९०३	२,१३८	२,१८७
मिश्रित अनाज	,,	७६	३५०	२७५	२६२
आलू	,,	४,८७३	१०,१६६	५,५५६	६,८५०
चुकन्दर	,,	२,७४१	४,५२२	५,७४२	५,५१०
पशु जन्य पदार्थ					
दूध	लाख गैलन	१५,५६०	१६,५३०	२२,१४०	२२,६४
अंडे	००० टन	३८५	३२२	७१९	७७३
गौ मांस	,,	५७८	५३७	७८६	७७०
भेड़ का मांस	,,	१९५	१४१	२०३	२४१
ऊन	,,	३४	२७	३७	३८

ब्रिटेन द्वितीय महायुद्ध के पूर्व अपने भोजन की आवश्यकता का (कैलोरी मात्रा में) ३१% पैदा करता था। यह वृद्धि १९५४ में ४२ प्रतिशत थी। नीचे की तालिका में यह बताया गया है कि अपने कृषि उत्पादन द्वारा संयुक्त-राष्ट्र कितनी माँग की पूर्ति कर पाता है :—

घरेलू माँग की पूर्ति प्रतिशत में

	द्वितीय युद्ध के पूर्व का औसत	१९४५	१९५१	१९५८	१९५९
गेहूँ और आटा	१२	३२	२४	१९	२०
तेल और चिकने पदार्थ	१६	७	१०	१८	२५
शक्कर	१८	३२	२३	१८	२६
मांस	५१	५०	६५	६५	६४
मक्खन	९	८	४	८	५
पनीर	२४	१०	१८	४५	३९
सुखाया हुआ दूध	५९	५९	६३	९८	९५
अंडे	७१	८७	८६	९९	९९
दूध	१००	१००	१००	१००	१००
आलू	९४	१००	९७	८४	८८

ब्रिटेन में भूमि की कमी है तथा जनसंख्या बढ़ती जा रही है अतः खेती का विकास करने के लिए गहरी खेती, आधुनिक विधियों का अनुसरण वैज्ञानिक खादों का प्रयोग, अच्छे बीजों का चुनाव, अच्छे जाति के पशुओं का प्रचार और फसलों का आवर्तन मुख्य साधन है।

मछली पकड़ने का उद्योग (Fishing)

उत्तरी सागर से मछली पकड़ने में ब्रिटेन का स्थान आजकल प्रथम है। ब्रिटिश द्वीप समूह के आस-पास वाले जलों में उत्तरी सागर सबसे उथला है। पीटर हैड से जटलैंड को मिलाने वाली रेखा के दक्षिण में इसकी गहराई १०० फैदम से भी कम है। इसके अतिरिक्त यहाँ अनेक बैंक हैं, जिसमें डोगरबैंक सबसे बड़ा (२०० मील लम्बा है)। इसकी गहराई (६५ से ८० फुट) और भी कम है। अन्य बैंक ये हैं—(१) कैंट के तट के निकट गुडबिन बैंक; (२) नार्फोक के तट के निकट यारमाउथसौंड बैंक; (३) डौंगर बैंक के निकट सिल्वर पिट तथा वैलबैंक; (४) वरविक के निकट मार बैंक; (५) लोंगकाँरटीज; (६) हार्न-रीफ जो जटलैण्ड तक फैला है। फैरोद्वीप समूह, आइसलैंड और यूरोप के पश्चिमी तट पर जल उथला ही है। अतएव इन सब में मछली पकड़ी जाती है किन्तु उत्तरी सागर और आइसलैंड सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र है। ब्रिटेन में लगभग २७८०३ मछुओं द्वारा १९५९ में ८.६ लाख टन मछली पकड़ी गई जिसका मूल्य ५०५ लाख पौंड था और देश की खपत के लिये १.९ लाख टन बाहर से मँगाई गई है।

ब्रिटेन में मछली पकड़ने का धन्धा कुछ बड़े बन्दरगाहों में केन्द्रित है। नीचे की तालिका में यह बताया गया है किन-किन बन्दरगाहों पर कौन से विशेष प्रकार की मछलियाँ पकड़ी पकड़ी जाती हैं:—

किस्म	प्रमुख बन्दरगाह	
(१) श्वेत मछली (White fish)	ग्रिम्सबी, हल, फ्लीटवुड, मिलफोर्ड हैवन, लाऊस टोफ	इंग्लैण्ड और वेल्स
(२) हैरिंग	ग्रेट यारमाउथ, लाउस, टोफ	
(३) श्वेत मछल	एबर डीन, ग्रॅान्टन विशेषतः मोरे फार्थ के मुहाने में	स्काँटलैंड
(४) हैरिंग	पिटर हैड, फ्रेजरवर्ग, शटलैंड क्लाइड और पश्चिमी तट पर	

ब्रिटेन की मछली दो प्रकार की है—धरातल वाली मछली (Plagic) और पैंदे वाली (Demersal) मछली। ब्रिटेन के बन्दरगाहों से पकड़ी जाने वाली कुल मछली में से ३० प्रतिशत पैंदे वाली मछली है जिनमें हैडक, कॉड और हेक प्रमुख है। कॉड और हैलीवट आइसलैंड के जलो से हैरिंग, कॉड हैलीवट, पिलचर्ड,

मैकरेल, उत्तरी सागर के उत्तरी और गहरे भागों से और हेक ब्रिटेन के पश्चिमी भागों से पकड़ी जाती है। यह साल भर तक बरावर पकड़ी जाती है तथा हल और ग्रिम्सबी के बन्दरगाहों पर उतारी जाती है। अकेला बैलिंग्सटन प्रतिदिन ६०० टन मछलियों में व्यापार करता है। धरातल वाली मछलियों में हैरिंग मैकरेल हैडेक और प्लेस प्रमुख हैं। हैरिंग विशेषरूप से निर्यात के लिए ही पकड़ी जाती और इसे सुखाकर नमक लगाकर बाल्टिक और भूमध्य सागरीय देशों को भेजा जाता है। पैंदे वाली मछलियाँ अधिकतर घर की खपत के लिये रखी जाती हैं।

खनिज पदार्थ (Mineral Resources)

ब्रिटेन में खानें खोदने के कार्य में लगभग ८½ लाख व्यक्ति लगे हैं। यहाँ का सबसे प्रमुख खनिज कोयला है जो ७०० वर्षों से निकाला जा रहा है।

कोयला—कोयले के उत्पादन की दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन का विश्व में तीसरा स्थान है। कोयले की खानों में लगभग ७ लाख मजदूर काम करते हैं। यहाँ पर कोयले की खानों की स्थिति व्यापारिक एवं आन्तरिक उपभोग की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि देश के भीतरी प्रदेशों में कोयला और लोहा पास-पास मिलते हैं जबकि समुद्र के किनारे कहीं-कहीं तो समुद्र के भीतरी भागों तक कोयले की खानें चली गई हैं जहाँ से कि आसानी से कोयला विदेशों को भेजा जा सकता है। ग्रेट-ब्रिटेन की कोई भी कोयले की खान समुद्री बन्दरगाह से २५ मील से अधिक दूर नहीं है जिसका कि खर्चा २७ सेन्ट आता है जबकि जर्मनी में रूर कोयले का क्षेत्र रोटरडम से १४० मील दूर है और जहाँ ७० सेन्ट उतने ही कोयले के ले जाने में व्यय होते हैं जबकि संयुक्त राज्य में उतने कोयले को प० वर्जीनिया से हेम्पटन रोड्स (जो कि ३१० मील दूर है) ले जाने में १·२५ डालर लग जाते हैं। यहाँ जितने कोयले के भंडार हैं उनका अनुमान १२० अरब टन है। ये भण्डार आधुनिक उत्पादन की दृष्टि से ४००-५०० वर्षों तक पर्याप्त है। सब कोयले के क्षेत्रों का क्षेत्रफल ६,६०० वर्ग-मील है। ब्रिटेन में कोयले के उत्पादन का १४% स्काटलैंड क्षेत्र से, ४०% यार्क, डर्बी और नॉटिंघम क्षेत्र से; ६% लंकाशायर; ११% मिडलैण्ड और १६% दक्षिणी वेल्स से प्राप्त होता है। नीचे की तालिका में इंग्लैंड में कोयले का उत्पादन बताया गया है :—

(१० लाख टनों में)

	१९४७	१९४९	१९५१	१९५४	१९५७
गहरी खानों से	१८७·२	२०२·७	२११·९	२१३·४	१९६·४
खुली खानों से	१०·२	१२·७	११·०	१०·१	१३·६
योग	१९७·४	२१५·४	२२२·९	२२३·५	२१०·०

ग्रेट ब्रिटेन के कोयले के क्षेत्रों को निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(क) पिनाइन श्रेणी के आस-पास के क्षेत्र ।

(ख) वेल्स प्रदेश ।

(ग) स्कॉटिश निम्न प्रदेश ।
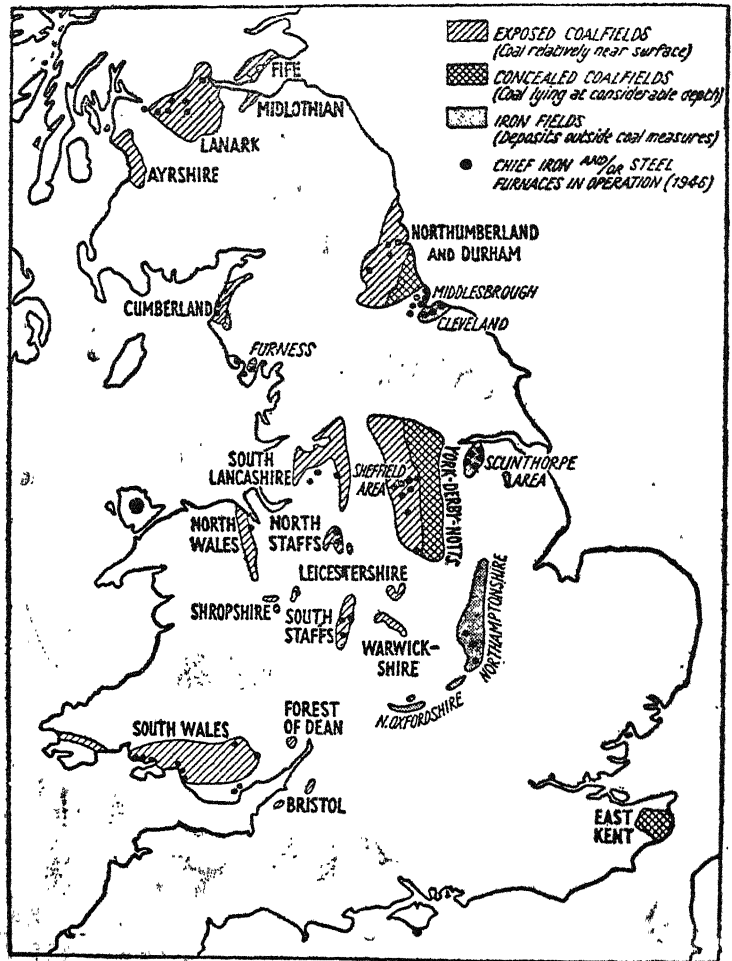
FIG. 28. Great Britain: Coalfields and iron-fields
Scale: 1 inch = 86 miles approx.

चित्र—४

(क) पिनाइन-समूह (The Penine Group)

इस पर्वत के दोनों ढालों पर कोयले के क्षेत्र पाये जाते हैं जो महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं। यहाँ के कोयले के क्षेत्रों को निम्न भागों में बाँटा जाता है :—

(१) नार्थम्बरलैण्ड डर्हम कोल क्षेत्र (Northumberland Durham C Fields)—यह क्षेत्र पिनाइन श्रेणी के पूर्व में पाया जाता है। यहाँ का वार्षिक उत्पादन ४६० लाख टन है। कोयले के क्षेत्र बाहर निकलते हुए दिखाई देते हैं, जो पूर्वी शोल्ड से आकलैंड विशोप तक चले गये हैं। यही क्षेत्र टाइन तथा कोनक्वेट नदियों की घाटियों में होता हुआ किनारे तक चला गया है तथा दक्षिण पूर्व में यह क्षेत्र मैगनेशियम-लाइमस्टोन की चट्टानों के नीचे आ गया है। वहाँ से यह समुद्र के पेंदे में २ से ३ मील तक चला गया है। यहाँ पर ग्रेट ब्रिटेन का सबसे उत्तम कोय ा पाया जाता है विशेषकर दक्षिणी भाग में। इस क्षेत्र को कई लाभ हैं:—

(१) दक्षिणी डर्हम में बढ़िया कोक कोयला मिलता है।

(२) समुद्र के किनारे मिलने से निर्यात आसानी से होता है।

(३) यह क्षेत्र क्लीवलैंड लौह क्षेत्रों के बिल्कुल पास में है।

(४) पिनाइन एवं बीवर घाटी से चूना प्राप्त हो जाता है।

(५) तटीय प्रदेशों में होने के कारण स्वीडेन से उत्तम प्रकार का लोहा आयात किया जा सकता है। इन सब लाभों के कारण यह ग्रेट ब्रिटेन का औद्योगिक क्षेत्र है जहाँ से लोहे और इस्पात के सामानों का निर्यात किया जाता है।

(२) यार्कशायर-डर्बीशायर-नाटिंघम शायरकोल क्षेत्र (Yorkshire-Durvy-shire and Nottinghamshire Coal Fields)—यह क्षेत्र दक्षिणी पिनाइन के पूर्वी ढालों पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल २,००० वर्गमील है। यह क्षेत्र ग्रेट ब्रिटेन का ⅓ कोयला पैदा करता है। यहाँ पर कोयले के भण्डार ४० करोड़ टन होने का अनुमान है तथा वार्षिक उत्पादन ७२० लाख टन है। इस क्षेत्र की लम्बाई ७० मील है चौड़ाई १० से २० मील तक है। पूर्वी भागों के क्षेत्र धीरे धीरे मैगनेशियम लाइमस्टोन के नीचे तथा बालू पत्थरों के नीचे चले गये हैं। कोयला भिन्न-भिन्न खानों में भिन्न प्रकार का पाया जाता है। इसका सर्वाधिक उपयोग रेलों में होता है। इसके अतिरिक्त घरेलू एवं गैस बनाने के काम में भी यह कोयला लिया जाता है। यार्कशायर के ऊनी कपड़े के कारखानों और शैफील्ड के लोहे के कारखाने इसी कोयले का उपयोग करते हैं।

(३) कम्बरलैण्ड कोल क्षेत्र (Cumberland Coal Field)—यह छोटा-सा क्षेत्र है और तटीय प्रदेशों में स्थित है। यह उत्तरी पूर्वी दिशा में देश में १५ मील तक चला गया है। यहाँ पर कोयले के भण्डार अनुमानित २०० करोड़ टन हैं और वार्षिक उत्पादन १२ लाख टन है। इसका एक बड़ा भाग मेरी पोर्ट, वर्किङ्गटन

और ह्वाइटहैवन बन्दरगाहों से आयरलैण्ड को निर्यात कर दिया जाता है। कोयले के निर्यात के महत्व के निम्न कारण हैं :—

(क) कोयले का क्षेत्र तटीय है अतः भूमि-आवागमन खर्च बिल्कुल नहीं होता।

(ख) यहाँ बहुत कम उद्योग है अतः बहुत-सा कोयला बच जाता है।

(ग) आयरलैण्ड में कोयला बहुत कम है अतः यह अच्छा बाजार है।

(४) **लङ्काशायर कोल क्षेत्र (Lancashire Coal Field)**—यह क्षेत्र रिबेल्स एवं परसी नदी के बीच में फैला हुआ है तथा इसका कुछ भाग पिनाइन पर्वत के ढाल पर तथा कुछ भाग आस-पास के निम्न प्रदेशों में स्थित है। कुछ स्थानों पर दरारें पड़ जाने के कारण कोयले का क्षेत्र थोड़े से क्षेत्रफल के बाद में बहुत गहराई में चला गया है। यहाँ के अनुमानित भण्डार ५६० करोड़ टन है और वार्षिक उत्पादन १५० लाख टन है। इसका उपयोग लङ्काशायर की सूती कपड़े की मिलों में होता है।

(५) **मिडलैण्ड कोल क्षेत्र (Midland Coal Fields)**—ये कोयले के क्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि यहाँ का उत्पादन अब बहुत ही कम होता है। खानें भी बहुत गहरी हैं तथा परतें भी पतली हो गई हैं और कोयले की किस्म भी वढ़िया नहीं है। इस कोयले का उपयोग बर्मिंघम प्रदेश में होता है।

(६) **दक्षिण स्टाफर्डशायर कोल क्षेत्र (South Staffordshire Coal Field)**—बरमिंघम के उत्तर से १० मील स्टेफोर्ड के भीतर तक यह क्षेत्र चला गया है। यहाँ पर जितने भण्डार हैं उनका अनुमान ७०० करोड़ टन है परन्तु काले प्रदेश में यह मात्रा १० लाख टन से कुछ ही अधिक है। यह प्रदेश महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र हैं तथा कोयला लोहा गलाने के काम में तथा इस्पात की वस्तुएँ बनाने के काम में आता है।

(७) **वारविकशायर कोल क्षेत्र (Warwickshire Coal Fields)**—यह प्रदेश वारविक भाग के उत्तर-पूर्व में मिलता है। अधिकतर कोयला विटुमिनस है। यहाँ पर इसका उपयोग होता है। कुछ कोयला देश के दूसरे भागों में भी निर्यात किया जाता है। कोयले के भण्डार यहाँ पर अनुमानतः १४० करोड़ टन हैं और वार्षिक उत्पादन ५५ लाख टन हैं। कावेन्ट्री जो कि औद्योगिक केन्द्र है कुछ ही मील दक्षिण में स्थित है तथा यहीं से कोयला प्राप्त करता है।

(ख) वेल्स समूह (The Walse Coal Fields)

(१) **उत्तरी वेल्स कोल क्षेत्र (North Walse Coal Fields)**—यह क्षेत्र उत्तरी-पूर्वी भाग में स्थित है। यहाँ के अनुमानित भण्डार २५० करोड़ टन है और वार्षिक उत्पादन २६ लाख टन है। ग्रीस फोर्ड के पास के प्रदेशों में सर्वाधिक उत्पादन होता है।

(२) **दक्षिणी वेल्स कोल क्षेत्र (South Wales Coal Field)**—यह क्षेत्र मानमन्थशायर के पश्चिम से उस्क नदी की घाटी से ग्लेमोरगशायर तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र का क्षेत्रफल १००० वर्गमील है। यहाँ के अनुमानित भण्डार ३५०० करोड़ टन हैं, जिसमें से १४% प्रथम श्रेणी का स्टीम कोयला है। २२% एन्थ्रेसाइट और ३०% बिटुमिनस एवं ३३% द्वितीय श्रेणी का स्टीम कोयला है। यहाँ का वार्षिक उत्पादन ३५० लाख टन है। अतः स्पष्ट है कि यह क्षेत्र मात्रा, किस्म एवं विभिन्नता की दृष्टि से प्रसिद्ध है पश्चिमी भागों के आधे प्रदेशों में जो कोयला निकलता है वह एन्थ्रेसाइट होता है।

(३) **उत्तरी स्टैफर्डशायर कोल क्षेत्र (North Staffordshire Coal Fields)**—पिनाइन के दक्षिणी पश्चिमी किनारों (ढालों) पर पाया जाता है, तथा उत्तरी स्टेफोर्ड शायर का ही सिलसिला है। यह औद्योगिक प्रदेश (Potteries) के नाम से पुकारा जाता है।

(ग) स्कॉटिश प्रदेश के कोल क्षेत्र (Scottish Coal Fields)

स्कॉटलैण्ड के कोयले का ९९% प्रतिशत कोयला मध्यवर्ती विभिन्न प्रदेशों में पाया जाता है जो ग्रेट ब्रिटेन का ⅙ भाग उत्पादन करते हैं। जहाँ इंग्लैण्ड के कोयले के क्षेत्र पर्वतीय ढालों एवं ऊँचे भागों में पाये जाते हैं वहाँ स्काटलैंड के कोयले के क्षेत्र निम्नतम बेसिनों के निचले भागों में पाये जाते हैं। जहाँ के महत्वपूर्ण कोयले के क्षेत्र निम्न प्रकार के हैं :—

(१) **आयरशायर कोयला क्षेत्र**—यह स्काटलैंड का १३% कोयला पैदा करता है और १२ से १५ मील तक फैला हुआ है।

(२) **लैनार्कशायर कोयला क्षेत्र**—यह स्काटलैंड का बहुत महत्वपूर्ण क्षेत्र है। यह कोयला स्टीम बनाने के काम में आता है। यहाँ ४५% कोयला निकलता है।

(३) **मध्य-लोथियन कोयला क्षेत्र**—यह एडिनवर्ग एवं हैडिंगटन काउण्टी में स्थित है। इस क्षेत्र में कोयले के साथ-साथ शेल से तेल भी निकाला जाता है।

(४) **फाइफशायर कोयला क्षेत्र**—यह क्षेत्र आधुनिक काल में उत्पादन बढ़ जाने से ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है। यहाँ का कोयला निर्यात कर दिया जाता है जो कि मैथिल और [illegible]निटशायर बन्दरगाहों द्वारा बल्टिक देशों को भेजा जाता है। डण्डी इसी क्षेत्र में है जो जूट के [illegible] माल का उत्पादन केन्द्र है। यहाँ जूट से रस्से, जालियाँ, शेल कपड़ा, केनवास आदि बनाये जाते हैं।

इंग्लैंड में कोयले का उपभोग इस प्रकार है :—

कोयले का उपभोग (लाख टनों में)

उपयोग का प्रयोजन	१९५१	१९५५	१९५६	१९५७	१९५९
गैस	२७४	२७९	२७८	२६४	२२५
बिजली	३५४	४२९	४५६	४६५	४६१
रेलवे	१४३	१२२	१२१	११४	१०२
कोक-भट्टियाँ	२३५	२७०	२९२	३०७	२५७
लोहा और इस्पात	८०	६५	६१	५६	४०
इञ्जीनियरिंग और अन्य उद्योग	३७४	३४२	३३३	३१९	२७५
घरेलू और अन्य उपयोग	६१९	६४५	६४२	६०७	५४५
योग	२,०७९	२,१५२	२,१८४	२,१३२	१,९०५

व्यापार—ब्रिटेन का ४०% कोयला विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है।

निर्यात करने का मुख्य कारण निम्नांकित है :—

(१) कोयले का उत्पादन आवश्यकता से अधिक होता है।

(२) कोयले की खानें तटीय प्रदेश पर एवं समुद्र के गर्भ तक चली गई हैं तथा वैसे भी कोई प्रदेश तटीय बन्दरगाह से २५ मील से ज्यादा दूर नहीं है।

(३) यूरोप एक विशाल बाजार के रूप में पास में ही आ गया है।

(४) आवागमन के साधन तथा निर्यात के जहाजों के साधन आधुनिकतम है जिससे खर्चा कम होता है।

(५) खानें पहाड़ी ढालों पर आ गई हैं और वहाँ से कोयला आधुनिक ढंगों से निकाला जाता है। इस कारण भी विदेशी स्पर्द्धा में यहाँ का कोयला सस्ता पड़ता है।

(६) स्वीडेन बिल्कुल पास में ही है जहाँ कोयले की कमी एवं लोहे की अधिकता है। अतः वहाँ से कोयले का निर्यात इंग्लैंड के लिये और यहाँ से कोयले का निर्यात स्वीडेन हो सकता है।

इंग्लैंड अपने कोयले के व्यापार का ५०% यूरोपीय देशों को भेजता है। प्रथम महायुद्ध के बाद इंग्लैंड के कोयला-निर्यात में कमी आ गई है। सन् १९२३ में ७९० लाख टन, सन् १९३८ में ४०० लाख टन, १९५३ में १४० लाख टन और १९५७ में केवल ९० लख टान और १९५९ में ५५ लाख टन (२३९ लाख पौंड के मूल्य का) का निर्यात किया गया। यह निर्यात मुख्यत: डेनमार्क, आयरलैंड, फ्रान्स और नीदरलैंड को किया गया।

निर्यात में कमी होने के मुख्य कारण ये हैं :—

(१) आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका और जापानी कोयले से प्रतिस्पर्धा होने से ब्रिटेन के कोयले की माँग में कमी हो गई है।

(२) कई देशों में अब कोयले के स्थान पर मिट्टी का तेल या शक्ति के अन्य साधन काम में लाये जाने लगे हैं। आधुनिक काल में ८०% समुद्री जहाजों में तेल काम में लाया जाता है।

(३) जहाजों के लिये इञ्जनों, भट्टियों तथा विद्युत-प्लाटों में सुधार हो जाने से अब ताप के लिये कम कोयले की आवश्यकता पड़ने लगी है।

(४) ब्रिटेन में कोयले निकालने में खर्चा और असुविधा बढ़ गई है।

(५) ब्रिटेन में कोयले का उत्पादन भी घटता जा रहा है जैसा निम्न तालिका से स्पष्ट होता है।

कोयले का उत्पादन (१० लाख टन में)

वर्ष	उत्पादन	निर्यात
१९१३	२८७·४	७३.४
१९२३	२७६·०	७९·५
१९३३	२०७·१	३९·१
१९४३	१९८·९	३·६
१९५३	२२३·५	१६·०
१९५५	२२१·०	१४·०
१९५७	२१०·०	९·०
१९५९	१९०·५	५·५

(६) ब्रिटेन में शताब्दियों से कोयला निकाला जा रहा है अतः निकटवर्ती खानों का कोयला समाप्त प्रायः हो गया है। केवल १०% कोयला अरातलीय खानों से प्राप्त किया जाता है। कुछ खाने तो २ से ३½ हजार फीट तक गहरी पहुँच गई है। अतः कोयला निकालने में व्यय बढ़ गया है।

इन सुविधाओं से बचने के लिये १९४६ में कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप आरम्भ के कुछ वर्षों में उत्तम और व्यवस्थित ढंगों, कोयला काटने की मशीनों का उपयोग के कारण कोयले का उत्पादन १९४७ में १८८० लाख टन से बढ़कर १९५४ में २१४० लाख टन हो गया।

पैट्रोलियम—ब्रिटेन की सम्पूर्ण माँग का केवल १% ही घरेलू उत्पादन से पूरा होती है शेष मिट्टी का तेल आयात किया जा सकता है। यहाँ तेल शेल चट्टानों से ५ स्थानों पर निकाला जाता है। १९५९ में ६ लाख टन कच्चा तेल प्राप्त हुआ। इससे ५७,५०० टन शुद्ध की गई वस्तुएं प्राप्त की गई। कच्चा तेल साफ करने के

लिए यहाँ कई छोटी-छोटी शोधनशालायें स्थापित की गई हैं जो तेल स्रोतों के निकट ही हैं। नोटिंघमशायर, लीसेस्टरशायर, लिकोलनशायर और लंकाशायर में। इन तेल के स्रोतों से ८३,००० टन कच्चा तेल प्राप्त किया जाता है। यहाँ की तेल शोधनशालाओं की शोधन क्षमता ४३० लाख टन वार्षिक की है और शोधनशालाओं की संख्या १५ है। इनमें सबसे बड़ी फाले (बर्मिंघम के निकट) में है जिसकी शोधन-क्षमता १२० लाख टन की है। अन्य शोधनशालाओं की क्षमता इस प्रकार है :— शेलहेवन (८० लाख टन), आइल ऑफ ग्रेन (७० लाख टन), स्टैनलो (५० लाख टन)। एक नई शोधनशाला मिलफोर्ड हेवन में भी स्थापित की गई जिसकी क्षमता ५० लाख टन है।

कच्चे तेल से १९४८ में ४० लख टन शुद्ध वस्तुएँ प्राप्त की गई और १९५९ में ३५३ लाख टन। ब्रिटेन में तेल भेजने के लिए तीन बड़ी पाइप लाइनें हैं। इनमें से दो (एक स्कॉटलैंड में और दूसरी दक्षिणी वेल्स में) बन्दरगाहों से शोधनशालाओं तक तेल ले जाती हैं और एक हवाई जहाजों के लिए तेल ले जाती है।

जल विद्युत शक्ति—कुछ ही समय पूर्व तक जल विद्युत शक्ति का विकास ब्रिटेन में बहुत ही कम हुआ था क्योंकि प्रायः सभी उद्योगों में कोयले का ही उपयोग किया जाता था। स्कॉटलैंड में ऊँची-नीची भूमि के कारण इस प्रयास में सफलता मिली है। यहाँ लोचस्लॉय और तुमेलगेरी तथा फैनीच योजना कार्य कर रही है। सब मिलाकर इंग्लैंड में जल शक्ति की उत्पादन क्षमता स्कॉटलैंड में १९५९ में ९८८ मैगावाट थी। अन्य खनिज पदार्थ ये हैं :—

लोहा—ब्रिटेन का लोहा उत्तम श्रेणी का नहीं है। अतः अधिकांश लोहा अलजीरिया, स्वीडेन, फ्रांस और स्पेन से आयात किया जाता है। यहाँ के सबसे महत्वपूर्ण लौह-प्रदेश दक्षिणी-पूर्वी इंग्लैंड में हैं जहाँ से ब्रिटेन का ८५% लोहा निकाला जाता है। लोहे के मुख्य क्षेत्र ये हैं :—

(१) उत्तरी यार्कशायर में क्लीवलैंड की पहाड़ियाँ—धातु का प्रतिशत २९।
(२) दक्षिणी लिंकोलनशायर, लिसेस्टर, नार्थहैम्पटनशायर और ऑक्सफोर्ड—धातु का प्रतिशत २६।
(३) फोडिंगटन, उत्तरी लिकोलनशायर क्षेत्र—धातु का प्रतिशत २२।
(४) कम्बरलैंड और लंकाशायर—धातु का प्रतिशत ५३।
(५) उत्तरी स्टैफर्डशायर क्षेत्र तथा वेल्स में लानहैरी क्षेत्र—धातु का प्रतिशत बहुत ही कम।

१९५९ में १५० लाख टन कच्चा लोहा यहाँ प्राप्त किया गया।

चीनी मिट्टी (Kaolin)—इंग्लैंड में कार्नवाल और डेवन में पाई जाती है। सैंट ओस्टल नगर के उत्तर-पश्चिम में ३० वर्ग मील क्षेत्र में इसकी कोई १०० खानें हैं। मुख्य खानें बोड़मीनमूर, और लीमूर की हैं। इन खानों से १ लाख टन प्रतिवर्ष

की मात्रा से लगभग १०० वर्षों के लिए मिट्टी मिल सकती है। इसका उपयोग दवा-इयों, सीमेंट सौन्दर्य प्रसाधन, रबड़, रोगन, कागज, वस्त्र उद्योग और चमड़ा उद्योग में किया जाता है।

नमक—इंग्लैंड में नमक के पाँच बड़े क्षेत्र हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) चैशायर के मैदान में नार्थविच, विन्सफोर्ड, मिडिलविच, लॉटन, प्लमले और हीटले क्षेत्र।
(२) वरसेस्टरशायर के निकट ड्रियाटविच में।
(३) लंकाशायर,
(४) स्टैफोर्डशायर,
(५) बिडल्सबरो।

यहाँ नमक का उत्पादन खारे जल से किया जाता है। उत्पादन की मात्रा २० से ३० लाख टन की होती है। पहाड़ी नमक की मात्रा केवल २०,००० टन की है। इन सब क्षेत्रों में नमक का सबसे बड़ा क्षेत्र चैशायर क्षेत्र है। इसका क्षेत्रफल लगभग ३७५ वर्ग मील है। यहाँ अनुमानत: १५०,००० लाख टन के हैं। नार्थविच में नमक के क्षेत्र १८० फीट मोटे हैं और भूमि से कुछ ही नीचे हैं। विन्सफोर्ड में नमक की पर्तें २१० फीट मोटी हैं तथा धरातल से ३०० फीट गहरी हैं।

ताँबा—यहाँ १६ वीं शताब्दी में ताँबा निकालने का कार्य आरम्भ किया गया था। ये खानें कार्नवाल और डेवन में थीं। किन्तु अब ये बन्द कर दी गई हैं।

टिन—कार्नवाल और डेवन के खानों से मिली हुई टिन की शिलायें पूर्वोत्तर से दक्षिण-पश्चिम दिशा में फैली हैं। कुछ टिन ब्रिटेन की नदियों की घाटी में भी मिलता है।

सीसा—मुख्यत: दक्षिणी-पश्चिमी प्रायद्वीप और पिनाइन क्षेत्र से प्राप्त किया जाता है। पिछले क्षेत्र में मुख्य उत्पादक डर्बीशायर, पश्चिमोत्तर यार्कशायर और डरहम हैं।

सीसे के साथ जस्ते की खानें भी बिखरी हुई पाई जाती हैं।

सोना—स्कॉटलैंड की लेड-हिल्स में मिलता है।

इनके अतिरिक्त चूने का पत्थर, संगमरमर, स्लेट, फेलस्फर आदि खनिज पदार्थ भी मिलते हैं किन्तु सैनिक सुरक्षा सम्बन्धी धातुओं की बड़ी कमी है। मैंगनीज, क्रोम, टंगस्टन, निकल और अल्यूमीनियम यहाँ बिल्कुल नहीं मिलता।

निर्माण उद्योग (Manufacturing Industries)

ग्रेट ब्रिटेन एक महान औद्योगिक देश है जिसे 'विश्व का कारखाना' कहा जाता है। ब्रिटेन के उत्पादन का लगभग $\frac{3}{4}$ व्यापार के लिए तैयार किया गया निर्मित माल होता है। नीचे की तालिका में उद्योग-समूह द्वारा प्रेषित कुल आय बताई गई है :—

	१९५४	१९५८	कुल का प्रतिशत
	(लाख पौंड में)		
भोज्य पदार्थ, पेय और तम्बाकू	६,५५८	९,४००	१२·१
रासायनिक एवं संबंधित उद्योग	५,३८६	७,३४९	९·५
धातु उद्योग	५,२८९	७,०३६	९·०
इन्जीनियरिंग और विद्युत सामान	१२,८७५	१६,९८४	२१·९
जहाज निर्माण	१,८७२	२,२७६	२·९
वाहन निर्माण	६,४४५	७,९९५	१०·३
अन्य प्रकार की धातु की वस्तुएँ	३,५५८	४,३४२	५·६
सूती, ऊनी व रेशमी वस्त्र	८,९२४	८,९२०	११·५
कागज, छपाई और प्रकाशक सामग्री	४,४३३	५,६१४	७·२
अन्य निर्माण उद्योग	६,५५८	७,८०४	१०·०
योग	६१,८९८	७७,७२०	१००·०

सूती वस्त्र उद्योग (Cotton Textile Industry)—ग्रेट ब्रिटेन पहले विश्व का सबसे बड़ा सूती वस्त्र उद्योग उत्पादक देश था। किन्तु आजकल संयुक्त-राज्य अमेरिका, जापान तथा भारत इससे अधिक सूती वस्त्र उत्पादन करने लगे हैं। अब इसका विश्व में सूती वस्त्र बनाने में चतुर्थ स्थान है। ग्रेट ब्रिटेन का प्रमुख सूती वस्त्रोत्पादक प्रदेश लंकाशायर तथा उसके पास के स्थित प्रदेश हैं।

लंकाशायर के अतिरिक्त चेशायर, डर्बीशयर, यार्कशायर तथा स्काटलैंड में भी सूती वस्त्र का उद्योग होता है। उत्तरी-पूर्वी लंकाशायर तथा पश्चिमी यार्कशायर में बुनाई का कार्य प्रधान है और डर्बीशायर तथा चेशायर के उत्तरी भागों में कताई का कार्य प्रधान रूप से होता है। स्काटलैंड में केवल सिलने वाले तागों की कताई होती है और बुनाई के लिए तागे लंकाशायर से प्राप्त कर लिए जाते हैं। पेसले सूती धागों के लिए विख्यात है। ग्लासगो में शर्टिंग पापलीन तथा मलमल की बुनाई होती है। नाटिंघमशायर, डर्बीशायर तथा लीस्टरशायर में फीते तथा मोजे और होजियरी के अन्य सामान बनाये जाते हैं। ब्लेकबर्न में धोतियाँ बुनी जाती हैं। ओल्डहम में घटिया सूत की तथा मान्चेस्टर और बोल्टन में उत्तम कोटि के सूती तागे की कताई होती हैं। बेल्फस्ट की मशीनों में अन्य रेशों को मिला कर सूती तागों की कताई होती है।

ब्रिटेन के सूती उद्योग के केन्द्र लंकाशायर प्रदेश को निम्नलिखित सुविधायें प्राप्त हैं।

(१) जलवायु न केवल कताई के लिए समुचित आर्द्र तथा अनुकूल है बल्कि श्रमिकों के लिए स्वास्थ्यप्रद और स्फूर्तिदायक है।

(२) इस प्रदेश में ब्रिटेन के बढ़िया कोयले के क्षेत्र हैं जिनसे यंत्र चलाने की शक्ति प्राप्त होती है।

(३) अटलांटिक की दक्षिणी पश्चिमी वायु से इतनी वर्षा होती है कि मध्य पिनाइन श्रेणी से अनेक छोटी-छोटी जलपूर्ण नदियाँ निकलकर इस प्रदेश में बहती हैं। इनका जल प्राकृतिक रूप से दलदलों से कड़ी चट्टानों में छन कर आता है जो इसकी रासायनिक अशुद्धियों को साफ कर देता है। ऐसा जल कपड़ा धोने और रंगने में अच्छा रहता है। ऐसे जल कारखानों को स्वच्छ जल-विद्युत शक्ति बहुत सस्ती और सुलभ है।

(४) साधारण एवं श्रमिक पर्याप्त संख्या में प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि वर्षों से कार्य करते रहने के कारण मजदूरों में सूत कातने और बुनने के लिए पैतृक कला उत्पन्न होगई है।

(५) कच्चा माल पहले केवल संयुक्त राज्य से मँगाया जाता था किन्तु अब वहाँ के अतिरिक्त मिश्र, भारत, पीरु, यूगंडा, ब्राजील और पाकिस्तान से भी प्राप्त किया जाता है। लम्बे रेशे वाली कपास मिस्र, सूडान तथा संयुक्त-राज्य अमेरिका से प्राप्त की जाती है। मँगाने का व्यय अधिक नहीं होता क्योंकि भाड़ा बहुत कम है और बन्दरगाह से मानचेस्टर तक ले जाने के लिए मानचेस्टर शिप केवल बनाकर यातायात का खर्च बहुत कम कर लिया गया है।

(६) ब्रिटेन का जल यातायात इतना उन्नत है कि कोई देश इसकी बराबरी नहीं कर सकता। इसी के बल पर कच्चा माल प्राप्त करने और तैयार माल संसार भर में भेजने की सस्ती से सस्ती सुविधा ब्रिटेन के सूती उद्योग को प्राप्त है। स्वेज मार्ग खुल जाने पर तो और भी आसानी हो गई।

(७) लंकाशायर क्षेत्र का बन्दरगाह 'लिवरपूल' इतना उन्नत और सुविधा-पूर्ण है कि इस प्रदेश को कच्चा माल पहुँचाने और तैयार माल बाहर भेजने की सम्पूर्ण सुविधायें प्रदान करता है।

(८) चेशायर प्रदेश की नमक की खानों से वे रसायन बना लिए जाते हैं जो कपड़े की रंगाई और धुलाई सफाई और मांड़ी देने के काम आते हैं।

(९) ब्रिटेन के कपड़े की खपत उसकी उपनिवेशों में बहुत काफी है। वहाँ की व्यापारिक नीति के अनुसार अंग्रेजी माल को प्रोत्साहन दिया जाता है।

(१०) लंकाशायर क्षेत्र अनुपजाऊ होने से खेती अथवा अन्य महान् उद्योगों के लिए अनुकूल नहीं है। अतः लोगों का ध्यान सूती उद्योग की ओर ही है।

(११) इसी क्षेत्र में ओल्डिटन तथा विज्ञान नगरों में सूती उद्योग के यंत्र बनाने के कारखाने हैं। अतः यंत्र सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। मरम्मत सस्ती और शीघ्र होती है और नई मिल लगाने में बहुत कम खर्च पड़ता है। यंत्र निर्माण की यह सुविधा बहुत कम देशों में है।

(१२) ब्रिटेन का सूती उद्योग इतना उन्नत और विशिष्टता प्राप्त है कि अन्य नये उत्पादक इसका आसानी से मुकाबला नहीं कर पाते। मुकाबले के कारण ही अब यहाँ बहुत बढ़िया किस्म का कपड़ा तैयार करने की ओर प्रवृति होगई है।

१९५९ में इस उद्योग में कताई में १ लाख और बुनाई विभाग में ९३,००० व्यक्ति लगे थे। इस वर्ष ६·३ करोड़ पौंड के मूल्य का सूती और ४·५ करोड़ पौंड के मूल्य का सूती कपड़ा विदेशों को निर्यात किया गया जिसका दो तिहाई दक्षिण अफ्रीका न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया को गया।

ऊनी वस्त्र उद्योग (Woollen Goods Industry)—ऊनी वस्त्र के उत्पादन में भी ग्रेट ब्रिटेन विश्व का द्वितीय सबसे बड़ा देश है। यह व्यवसाय ८५·१ विदेशी ऊन मँगाता है क्योंकि घरेलू ऊन से इसकी केवल १५·१ माँग की पूर्ति हो सकती है। ऊन की खपत करने में ग्रेट ब्रिटेन युद्ध के पूर्व सबसे बड़ा देश था किन्तु अब भी इसका स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद ही है। यह उद्योग ग्रेट ब्रिटेन में बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। कुटीर उद्योग से कारखानों की अपेक्षा अधिक वस्त्र मिलता है जो वेस्टराईडिंग क्षेत्र में स्थित होने के अलावा देश भर में बिखर पड़ा है।

उक्त प्रदेश के अतिरिक्त पूर्वी लंकाशायर, वेल्स, वेस्टआफ इंग्लैंण्ड, लीस्टर-शायर, सीमावर्ती, स्काटलैंड, अवशिष्ट स्काटलैंड तथा आयरलैंड में भी यह उद्योग धन्धा संचालित होता है। हैलीफेबर, हडर्सफील्ड, वेकफील्ड, ब्रेडफोर्ड, लीड्स ड्यूसबरी वर्कले तथा स्पेन घाटी के नगर वेस्टराइडींग क्षेत्र के प्रमुख नगर हैं जहाँ विभिन्न प्रकार के ऊनी वस्त्रों तथा कालीन का निर्माण होता है। पूर्वी लंकाशायर में राशडेलबेरी, मोसले तथा स्टैलीब्रीज स्थानों में नमदे तथा कम्बल बनते हैं। वेस्ट आफ इंग्लैंड कालीन कम्बल तथा किडरमिनीस्टर के कालीन के लिए प्रसिद्ध है।

वेल्स की टीफी घाटी में फलैनेल बनता है। सीमावर्ती स्काटलैण्ड की ट्वीड़ घाटी में ट्वीड़ में कपड़े बुने जाते हैं। स्ट्राउड के समीप में सर्ज तथा नाटिंघत मोजे और अन्य होजियरी के सामान मुख्यतया बनते हैं।

रेशमी वस्त्र उद्योग (Silk Industry)—रेशमी वस्त्र उद्योग भी ग्रेट ब्रिटेन में १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपने वैभव का दिन देख चुका है। इस उद्योग को कृत्रिम रेशम के वस्त्रोद्योग से काफी हानि पहुँची है। फिर भी यह उद्योग अभी यहाँ जीती जागती अवस्था में चल रहा है। कच्चे माल की सुविधा को छोड़कर अन्य वस्त्रोद्योग को जो-जो सुविधायें सुलभ हैं वे इस उद्योग को भी प्राप्त हैं। रेशमी वस्त्र का उद्योग किसी एक विशिष्ट क्षेत्र में स्थित न होकर देश भर में बिखरा हुआ है। दक्षिणी पूर्वी चेशायर और पश्चिमी उत्तरी स्टैफर्डशायर के मैकेलेस फील्ड लीक तथा कांगलेटन में यह उद्योग होता है। यार्कशायर प्रदेश कम महत्व का है। बिग्रटाउन में रेशमी धागों की कताई होती है। नारविक, ब्रेनट्री, सडबेरी और हेवरहिल (वेस्ट एन्जीलिया), तिवरटन तथा टान्टन (पश्चिमी देश में) नाटिंघम, डर्बी, मानचेस्टर, ग्लासगो तथा डबलीन आदि नगरों में भी यह उद्योग उन्नत हो गया है। ग्रेट ब्रिटेन में कच्चा रेशम तथा कता हुआ रेशम जापान से आता है। पहले कता हुआ रेशम अधिक

मँगाया जाता था। किन्तु अब कच्चा रेशम ही अधिक मँगाया जाता है जो यहाँ के करघों से कात कर बुनने में प्रयुक्त होता है। पहले यहाँ से पर्याप्त मात्रा में रेशमी वस्त्रों का निर्यात होता था किन्तु अब बहुत सा रेशमी माल देश में ही खप जाता है, अतएव निर्यात की मात्रा कम होगई है।

कृत्रिम रेशम का उद्योग (Artificial Silk Industry)—रेशमी वस्त्र बनाने वाले कारखानों के अतिरिक्त कुछ सूती वस्त्रोत्पादक कारखाने भी १९३० से कृत्रिम रेशम वस्त्रोत्पादन में लग गए हैं। इस प्रकार लंकाशायर तथा मैकलेसफील्ड की अनेक मिलों में कृत्रिम रेशम बुना जाने लगा है। इन क्षेत्रों के प्रमुख नगर मानचेस्टर, स्टाकपोर्ट, बोल्टन, राशडल, ब्रैडफर्ड, हैलीफैक्स, कीले, हडसफील्ड तथा मैक्लेसफील्ड हैं। इन नगरों को देरटराइडीग क्षेत्र से पर्याप्त मात्रा में जल प्राप्त हो जाता है जो इस उद्योग के लिए परम आवश्यक है। कोयले तथा जल-विद्युत से चालक शक्ति, विदेशों से लकड़ी की लुग्दी तथा कच्चा रेशम, रासायनिक उद्योगों से विभिन्न प्रकार के आवश्यक रसायन और रंग, निकटवर्ती क्षेत्र से सुशिक्षित श्रमिक पर्याप्त मात्रा में यहाँ मिल जाते हैं जिससे यह उद्योग उन्नति प्राप्त कर गया है। इन कारणों के अतिरिक्त अन्य वस्त्रों के उद्योग को केन्द्रित करने वाले तत्वों का इस उद्योग को भी यहाँ केन्द्रित करने में हाथ है। इन स्थानों के अतिरिक्त निटवियर प्रान्त के नाटिंघम, लांग ईटन लीस्टर, कवेंट्री आदि नगरों में भी कृत्रिम रेशम बनाने के उद्योग चल रहे हैं। सडबरी तथा लन्दन में भी यह उद्योग विकेन्द्रित रूप में विद्यमान है।

लोहे तथा इस्पात का कारखाना (Iron & Steel Industry)—लोहे तथा इस्पात के उत्पादन में ग्रेट ब्रिटेन एक समय संसार का सबसे बड़ा देश था। पर्याप्त जल की उपलब्धि, कुशल श्रमिक पूँजी तथा लोहे और कोयले की खानों की निकटता और उत्पत्ति केन्द्रों की समुद्र से निकटता आदि सुविधाओं के कारण यह उद्योग ग्रेट-ब्रिटेन में उन्नत हो गया है। १८५० में ग्रेट ब्रिटेन ने विश्व की कुल लोहे तथा इस्पात की उत्पत्ति का ५०% अकेले ही उत्पन्न किया था। दूसरे देशों में भी इस उद्योग के चल पड़ने से ग्रेट ब्रिटेन की यह प्रतिशत कम होने लगी। यद्यपि इसकी कुल उत्पत्ति में किसी प्रकार की कमी होने के स्थान पर वृद्धि ही होती गई फिर भी अमेरिका, जर्मनी, रूस तथा हाल ही में फ्रांस आदि देशों ने ग्रेट ब्रिटेन से कहीं अधिक इस्पात उत्पन्न किया जिससे ग्रेट ब्रिटेन का अब विश्व में पंचम स्थान है। युद्धकाल में उपरोक्त देशों ने इतनी तीव्र गति के साथ लोहे तथा इस्पात के उत्पादन में भाग लिया कि विश्व उत्पादन में ग्रेट ब्रिटेन की उत्पत्ति ४३% (१८०७) से घटकर १८% (१९००) तथा बाद को (१९३९) १०% हो गई। द्वितीय महायुद्ध के काल में तो जापान तथा भारत भी इस क्षेत्र में आये जिससे अब यहाँ की प्रतिशत और भी कम हो गई है। किन्तु अब भी ग्रेट ब्रिटेन का विश्व में लोहे तथा इस्पात के उत्पादन में पाँचवा स्थान है। ग्रेट ब्रिटेन में यह उद्योग किसी स्थान पर ही केन्द्रित नहीं है किन्तु देश के कई क्षेत्रों में होता है। प्रत्येक क्षेत्र को अलग-अलग सुविधायें प्राप्त हैं। जैसे यदि कोई क्षेत्र

लोहे तथा कोयले की खानों के समीप है तो अन्य क्षेत्र खानों से दूर होते हुए भी समुद्र-तट पर स्थित है, जिससे विदेशों से लोहा मँगाने में सुविधा होती है। इस उद्योग का संक्षिप्त विवरण नीचे है :—

(१) **टीज नदी के मुहाने का क्षेत्र**—यह क्षेत्र ग्रेट ब्रिटेन का सबसे बड़ा उत्पादक क्षेत्र है। यह न्यूकैसिल से (नार्थम्बर-डरहम क्षेत्र) मिडिल्सबरो तक फैला है। देश का लगभग चौथाई इस्पात तथा ढला लोहा यहीं से उत्पन्न होता है। इस क्षेत्र के लोहे से कई प्रकार के लोहे के सामान बनाते हैं। डार्लिंग्टन नगर में इंजन तथा पुल के सामानों का निर्माण होता है और न्यूकैसिल, मिडिल्सबरो, संडरलैंड तथा साउथ-शील्डस में जहाजों का निर्माण होता है। गेरसहैड और साऊथशील्डस में धातु और रासायनिक उद्योग केन्द्रित हैं। इस प्रदेश को निम्नलिखित सुविधायें प्राप्त हैं :—

यह क्षेत्र इंग्लैंड के पूर्वोत्तरी तट पर स्थित है जिससे यातायात के लिए जल-मार्ग सुलभ है। समुद्रतट के निकट होने के अतिरिक्त यह प्रदेश क्लीवलैंड की खानों तथा डरहम और नार्थम्बर की कोयले की खानों के भी समीप है जिससे कोयला और लोहा आसानी से प्राप्त हो जाता है। इस्पात में प्रयुक्त चूना भी यहाँ उपलब्ध है। इस प्रदेश के नगर एक दूसरे से रेलों द्वारा सम्बन्धित है जिससे कच्चा माल मँगाने तथा बने मालों को निर्यात करने में सुविधा होती है। कोयले के अतिरिक्त इस प्रदेश को जल-शक्ति प्राप्त है। इन्हीं सब कारणों से इस प्रदेश में इस्पात का उत्पादन देश भर के अन्य प्रदेशों से अधिक होता है जिसकी खपत के लिए बाजार खोजने की आवश्यकता बिल्कुल ही नहीं है क्योंकि समीपवर्ती पोत-निर्माण करने वाले कारखानों में उसकी काफी खपत हो जाया करती है और शेष लोहा इंजीनियरिंग के सामान बनाने में खर्च होता है।

(२) **स्कॉटलैंड**—यहाँ का इस्पात तथा लौह उद्योग ग्लासगो और उसके बाद समीपवर्ती स्काटलैंड की निम्न भूमि में स्थित है। प्रथम विश्व युद्ध काल तथा उसके बाद भी यहाँ बेसिक स्टील बनाने की योजना के अनुसार इस्पात का उत्पादन होता है। कुल उत्पत्ति का लगभग तीन चौथाई अंश बेसिक इस्पात ही हैं। यह प्रदेश भी लोहे तथा कोयले की खानों के समीप स्थित है। समुद्र के तट पर स्थित होने के कारण स्वीडन से भी कच्ची धातु मँगाने में सुविधा है। यहाँ पर्याप्त मात्रा में इस्पात का आयात किया जाता है। आयात किए हुए इस्पात तथा स्थानीय इस्पात की खपत पोत-निर्माण करने वाले इंजिनियरिंग के सामान बनाने वाले उद्योगों में होती है जो ग्लासगो तथा अन्य समीपवर्ती नगरों में संचालित है। इस्पात के कारखानों को कोयला आयर-शायर, मिडलोचियन की खानों से प्राप्त हो जाता है

(३) **पश्चिमी तट का प्रदेश**—पश्चिमी कुम्बरलैंड तथा फरनैस में इस्पात तथा लोहे ढालने का उद्योग चल रहा है। यहाँ से अधिकांशत: पिग आइरन का निर्यात शेफील्ड साऊथवेल्स, स्कॉटलैण्ड तथा बेल्फास्ट को होता है शेष इस्पात

की खपत बैरो में स्थित पोत-निर्माण करने वाले उद्योग-धन्धों में हो जाती है। बैरो में बारूद व हथियार बनाने के कारखाने भी हैं।

(४) **दक्षिणी वेल्स**—स्वान्सी इस क्षेत्र का प्रमुख केन्द्र है जहाँ टिन-प्लेट का कार्य ही प्रधान रूप से किया जाता है। अन्य तटवर्ती प्रदेश में पक्का इस्पात, कच्चा इस्पात, रेल तथा जहाजों के आवश्यक यंत्र और सामान बनाने का उद्योग उन्नत हो गया है। प्रधान केन्द्र स्वान्सी के अतिरिक्त कार्डिफ तथा न्यूपोर्ट अन्य केन्द्र और बन्दरगाह हैं जिनसे होकर यहाँ का सामान निर्यात किया जाता है। कच्ची धातु स्पेन, स्वीडेन तथा अल्जीरिया से मँगाई जाती है। पाटरीजफील्ड की खानों से लोहा तथा अन्य निकटवर्ती खानों से ताँबा, जस्ता, सीसा, टिन और चूना प्राप्त हो जाता है। टीज क्षेत्र के बाद इसी का स्थान है। स्वानसी, बैरी, न्यूपोर्ट और कार्डिफ में लोहे और इस्पात का उद्योग मुख्य रूप से केन्द्रित हैं।

(५) **लिंकनशायर**—इस प्रदेश में लोहे गलाने का कार्य उन्नत हो गया है क्योंकि ईंधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। लोहा यार्क-शायर की खानों से प्राप्त हो जाता है। यहाँ उत्तम कोटि का मैंगनीज भी मिलता है। जो धातु को गला कर ठोस करने में सहायक होता है। ग्रिम्सबी के बन्दरगाह द्वारा निर्यात करने में सुविधा मिलती है। इन्हीं कारणों से यहाँ लोहा गलाने का उद्योग उन्नत हो गया है।

(६) **पश्चिमी मध्यवर्ती प्रदेश**—इस क्षेत्र में इस्पात तथा लोहे के उद्योग की इतनी अधिक उन्नति हुई है कि इसे काला प्रदेश के नाम से पुकारा जाता है। दक्षिणी स्टैफर्डशायर तथा उत्तरी नार्विकशायर में लोहे का उद्योग होता है। वेलिंगबरो तथा कैटरिंग के जिले से कच्चा लोहा प्राप्त होता है। लकड़ी का कोयला तथा चूना पास के प्रदेशों से मिल जाता है। यह क्षेत्र समुद्र से कुछ दूर स्थित है, अतएव यहाँ भारी सामान नहीं बनाये जाते। सुइयाँ, जंजीरें, आलपिनें, साइकिलें, पिस्तौल, बन्दूक तथा मशीनों के यन्त्र यहाँ बनाये जाते हैं जो छोटे तथा बहुमूल्य होते हैं। बरमिंघम यहाँ का प्रमुख केन्द्र है। यह साइकिलों तथा हथियारों के लिये प्रसिद्ध है। कोवेन्द्री मोटर साइकिलों के लिए विख्यात है। रेडिश में सुइयाँ तथा डडले में जंजीरें मुख्यतया बनाई जाती हैं।

(७) **शैफील्ड क्षेत्र**—उत्तम जाति का कच्चा लोहा क्लीवलैण्ड तथा कम्बर-लैण्ड से मँगाया जाता है। समीप में लोहे का अभाव है अतएव इस प्रदेश में भी उपरोक्त प्रदेश की भाँति ऐसी वस्तुओं का निर्माण होता है जिसमें धातु कम लगे और बुद्धि तथा परिश्रम अधिक। इन्हीं कारणों से यहाँ की वस्तुएँ लघुकाय किन्तु बहुमूल्य हुआ करती हैं। शेफील्ड नगर विश्व भर में चाकू, कैन्ची आदि काटने वाले सामानों के लिए विख्यात है। इसी क्षेत्र के डानकास्टर नगर में रेल के इंजन तथा चेस्टरफील्ड में स्टोव बनते हैं।

ब्रिटेन में यूरोप के सबसे आधुनिकतम इस्पात के कारखाने स्थित हैं। १९५८ में यार्कशायर के उत्तर-पूर्व में मिडिल्सबरो के निकट १८० लाख पौंड की लागत

का बीम-मिल (Beam Mill) बन कर तैयार हुआ जिसमें इस्पात के ढाँचे बनाये जाते हैं। १९५७ में स्कॉटलैण्ड में रेवेन्सक्रेग में लगभग २२५ लाख पौंड की लागत का एक नया कारखाना स्थापित किया गया है तथा दक्षिणी वेल्स में मरगम में स्ट्रिप मिल की स्थापना की गई है। १९४५ से ही ब्रिटेन के कारखानों का आधुनिकीकरण एवं विकास किया जा रहा है। १९६३ तक इस्पात की उत्पादन क्षमता १९५८ में २३५ लाख टन से बढ़कर २८० लाख टन तक हो जायेगा। इसमें से ५० लाख टन का निर्यात किया जायेगा। आधुनिकीकरण के इस कार्यक्रम में ६,००० लाख पौंड व्यय होने का अनुमान है। इस विकास के फलस्वरूप देश में लोहे की अयस का उपयोग १७० लाख टन से बढ़कर २२० लाख टन तथा विदेशी अयस का उपयोग १६० लाख टन से बढ़कर २२०-२४० लाख टन हो जायेगी।

ढले लोहे और इस्पात का उत्पादन

	१९४६	१९५७	१९५८	१९५९
क्रूड लोहा (इस्पात)	१२७ लाख टन	२१७ लाख टन	१९३ लाख टन	२०२ लाख टन
ढला लोहा (पिग आयरन)	७८ ,,	१४३ ,,	—	१२६ ,,

जहाज निर्माण उद्योग (Shipping Industry)—ग्रेट ब्रिटेन में लगभग सभी प्रकार के जहाज बनाये जाते हैं। यहाँ के जहाज बनाने वाले मुख्य केन्द्र निम्नांकित हैं :—

(i) **उत्तरी-पूर्वी समुद्र-तट**—यह क्षेत्र टाइन, वियर तथा टीज नदियों के किनारे हैं। यहाँ पर समस्त ब्रिटेन के उत्पादन के ½ भाग जहाज बनाये जाते हैं। इस तटीय भाग में जहाज बनाने वाली ४० बड़ी-बड़ी कंपनियाँ हैं जो Cargo, Lines, Tramp, Worships और Tankers आदि बनाती है। न्यूकैसिल, सुन्दरलैण्ड, हार्टिलपुल तथा मिडिल्सबरो मुख्य नगर हैं।

(ii) **क्लाइड क्षेत्र में विशेषतः** यात्री जहाज बनते हैं। यहाँ के यार्ड विश्व में सबसे उत्तम रूप से सज्जित है। यहाँ जहाज बनाने के ३० कारखाने हैं। Queen Mary और Queen Elijabeth जहाज यहीं बनाये गये हैं।

(iii) **इंग्लैण्ड का उत्तरी-पूर्वी तट**—यहाँ पर मर्सी नदी पर स्थित बैरो-इन-फर्नेस में अधिकतर नौ-सेना के लिये जहाज बनाये जाते हैं। अन्य केन्द्र अबरडीन, डंडी, लीथ, गूले, साऊथ हैम्पटन, काऊज इत्यादि हैं।

(iv) **बेल्फास्ट**—यहाँ जहाज लगैन नदी की ऐस्चुरी में बनाये जाते हैं। यहाँ पर स्काटलैंड तथा कम्बरलैंड से जहाज बनाये जाने के सामान मँगाये जाते हैं। यहाँ पर अधिकतर मोटर बोटें बनाई जाती हैं।

(v) **टेम्स के किनारे** अब जहाज नहीं बनाये जाते हैं परन्तु लन्दन में जहाजों के मरम्मत का काम अधिक होता है।

वास्तव में जहाज-निर्माण-उद्योग में ब्रिटेन का स्थान सर्वोपरि है। १६४५ से १६५७ तक यहाँ १५० लाख टन भार के जहाज बनाये गये। यहाँ अधिकतर विदेशों के लिये ही जहाज बनाये जाते हैं। इनका लगभग ३०% नार्वे, ८ प्रतिशत अर्जेन्टाइना और फ्रान्स; ६ प्रतिशत पुर्तगाल, ६ प्रतिशत हालैंड और ३ प्रतिशत स्वीडेन को जाता है। १६५७ में ब्रिटेन से बना कर भेजे गये जहाजों का मूल्य ७६० लाख पौंड था। इस उद्योग में लगभग २,३०,००० व्यक्ति लगे हैं।
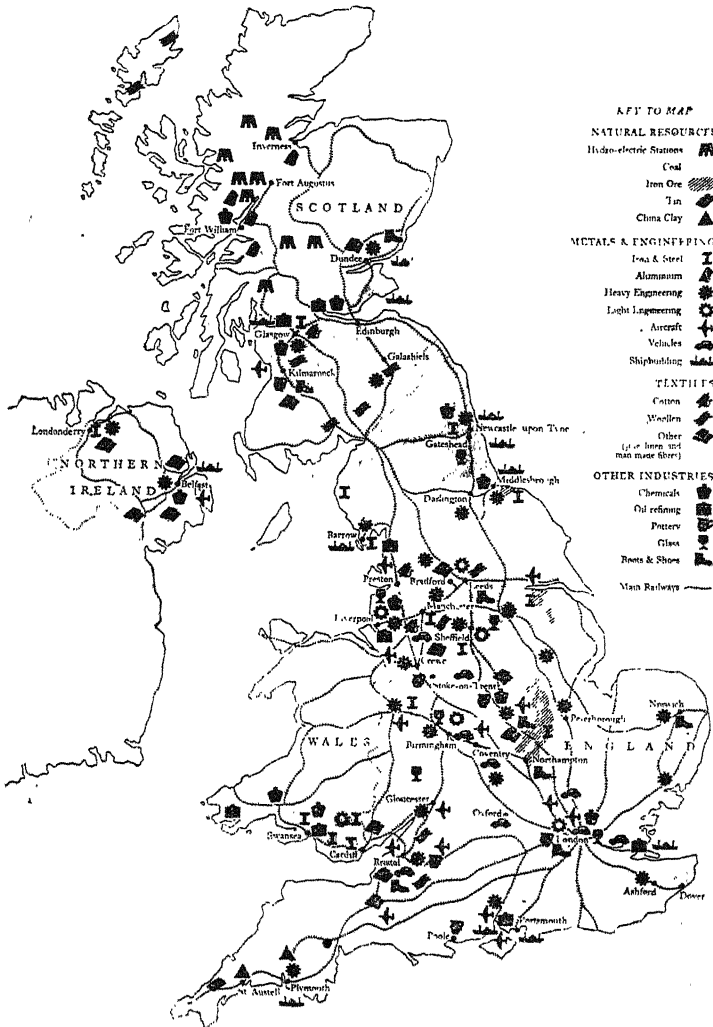
चित्र—५

मोटर गाड़ी उद्योग—इंग्लैण्ड में मोटरें बनाने का उद्योग मुख्यत: मिडलैण्ड्स और लंदन क्षेत्र में केन्द्रित हैं किन्तु अनेक भागों में छोटी-बड़ी कम्पनियों द्वारा मोटरें बनाई जाती हैं। ब्रिटिश मोटर कॉरपोरेशन फोर्ड, रुट्स, स्टैण्डर्ड और वैक्सहॉल आदि कम्पनी कुल उत्पादन का ९०% बनाती है। १९५७ में यहाँ ८·६ लाख कारें, २·८ लाख ट्रकें और ९,५०० सार्वजनिक मोटरें तैयार की गईं।

रासायनिक उद्योग (Chemical Industries)—ब्रिटेन में यह उद्योग सबसे पहले चालू किया गया था। सन् १७९७ में ग्लासगो नगर में इस उद्योग का जन्म हुआ। औद्योगिक क्रांति के बाद सूती कपड़ा उद्योग में तेजाब, क्षार, साबुन और रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता बढ़ने पर इस उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला। सरकारी आदेशों द्वारा विस्फोट उद्योग को विकसित होने का सुअवसर मिला। नोबेल विस्फोट कारखाना इसी समय खुला। चैशायर की खानों से पर्याप्त और विविध प्रकार के लवणों की प्राप्ति हो जाती है। मानचेस्टर नहर द्वारा बना माल बाहर भेजा जाता है। लिवरपूल के उत्तम बन्दरगाह से आयात की सारी सुविधायें प्राप्त हैं। यहाँ चर्बी और मारगेराईन इकट्ठा किया जाता है। इस उद्योग का बर्मिघम के धातु उद्योग से घनिष्ट सम्पर्क है। टाईन नींद की घाटी में सस्ती गैस शक्ति और ईंधन प्राप्त होता है। किनलोक्लावेन, फोरस और फोर्ट विलियम में सस्ती बिजली प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा उच्च तापक्रम की विधि से रासायनिक पदार्थ बनाये जाते हैं। ब्रिटेन के मुख्य रसायन केन्द्र एन्ट हेलेन्स, न्यूकासिल रनकार्न, मिडिल्सबरो, ग्लासगो, लंदन और लीड्स हैं। इंग्लैण्ड में अन्वेषण में प्रयुक्त होने वाले रासायनिक पदार्थ बनाने का विशिष्टीकरण हुआ है।

लिनेन उद्योग (Linen Industry)—स्कॉटलैण्ड में यह उद्योग १६वीं शताब्दी से ही कुटीर के रूप में चल रहा था। इंग्लैण्ड के साथ एकता हो जाने से १८वीं शताब्दी से इसकी निरन्तर प्रगति होने लगी। इस उद्योग का श्रीगणेश १९२९ में फ्रांसीसी शरणार्थियों द्वारा एडनबरा में किया गया। यहाँ अधिकतर मध्यम श्रेणी के लिनेन के वस्त्र बनाये जाते हैं। यहाँ सब रूस और जूट भारत से आयात किया जाता है क्योंकि यहाँ स्वच्छ जल विद्युत-शक्ति और कोयले की सुविधा है। सन बाल्टिक और बेल्जियम क्षेत्र में मँगवाया जाता है। अमेरिकन गृह-युद्ध के कारण जब सूती कपड़ा उद्योग के लिए रुई का अभाव होने लगा तब इस उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। जूट के उद्योग के निकट होने से दक्ष मजदूर भी मिल जाते हैं। यहाँ के मुख्य क्षेत्र एडिनबरा, एबरडीन, पर्थ ग्लासगो और डम्बार्टन है।

आयरलैण्ड में यह उद्योग अति प्राचीन काल से किया जा रहा है। आधुनिक युग में भी लेनिन उद्योग में विश्व में यही देश सबसे प्रमुख है। यहाँ लेनिन उद्योग का जन्म १०२८ में बेलफास्ट नगर में हुआ। इंग्लैण्ड में विश्व के लेनिन उद्योग में लगे $\frac{1}{3}$ कर्घे और तकुए हैं। इनमें से $\frac{3}{4}$ तकुए और कर्घे अकेले उत्तरी आयरलैण्ड में पाये जाते हैं जहाँ बेलफास्ट इस उद्योग का प्रमुख केन्द्र है। यहाँ के $\frac{3}{4}$ से भी अधिक मिल

बेलफास्ट से ३० मील की परिधि में ही स्थित है। लिनेन उद्योग में बेलफास्ट का महत्व इंग्लैण्ड में सूती उद्योग में मानचेस्टर से भी अधिक है। इसके निम्नांकित कारण हैं :—

(१) यद्यपि उत्तरी आयरलैण्ड में सन अधिक पैदा होता है फिर भी यहाँ सन रूस, फ्रांस और नीदरलैंड्स से मँगवाने की विशेष सुविधा है।

(२) आरम्भिक काल में जब यह उद्योग-कुटीर प्रणाली पर चलाया जाता था, तो सरकार द्वारा इसे आर्थिक सहायता दी जाती थी। अतः जब औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप नये यन्त्रों का आविष्कार बढ़ा तो यहाँ के उद्योगपतियों ने सहज ही में नये उपादनों का व्यवहार शुरू कर लिया।

(३) आयरलैण्ड में लिनेन उद्योग ही प्रमुख है जबकि स्कॉटलैण्ड और आयरलैण्ड में इस उद्योग को सूती कपड़े और जूट तथा अन्य उद्योगों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। अतः आयरलैण्ड के उद्योगपति अधिक वेतन देकर भी दक्ष मजदूरों को अपने यहाँ रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त आयरलैण्ड में जहाज बनाने तथा अन्य भारी उद्योगों के विकास होने के कारण उन उद्योगों में पुरुष श्रमिकों को कार्य मिल जाता है किन्तु स्त्री श्रमिकों को लिनेन उद्योग में अधिक कार्य मिलता है। अतः इस उद्योग में ¾ मजदूर स्त्रियाँ और बच्चे ही हैं।

(४) उत्तरी आयरलैण्ड का जलवायु नम होने के कारण सन के धागे लम्बे और मजबूत बनाने की सुविधा है।

(५) यहाँ के श्रमिक लिनेन के सूत को रंगने, ब्लीच करने और उनकी फिनिश करने में बड़े निपुण हैं।

(६) यहाँ स्वच्छ जल बहुतायत से मिलता है तथा कोयला और जल-विद्युत शक्ति की पूर्ण सुविधायें हैं।

(७) बन्दरगाहों की सुविधा होने के कारण तैयार माल निर्यात करने की पूर्ण सुविधा है।

(८) आरम्भ में ही यही उद्योग स्थापित होने से यहाँ के माल की माँग उसकी उत्तम श्रेणी के कारण विश्व के देशों में बहुत अधिक है।

यहाँ महीन और बढ़िया किस्म का लिनेन ही अधिक बनाया जाता है। यहाँ के मुख्य केन्द्र बेलफास्ट, लार्ने, कौलेरेन, बानाब्रिज, ड्रोमोर और बाल्लीमिना है।

मानचेस्टर और लाड्स में भी कुछ लिनेन के कारखाने हैं जो वहाँ के सूती उद्योग से ही सम्बन्धित है।

चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने का उद्योग (Potteries)—ब्रिटेन में इस उद्योग का सबसे बड़ा क्षेत्र उत्तरी स्टेफर्डशायर है। जहाँ सारे देश के चीनी मिट्टी बर्तन उद्योग के ७२ प्रतिशत मजदूर काम करते हैं। इसके अतिरिक्त डरबी और लन्दन भी मुख्य क्षेत्र हैं।

उत्तरी स्टेफर्डशायर कोयला क्षेत्र में यह उद्योग इतने व्यापक रूप से फैला है कि इस क्षेत्र को 'Potteries' कहने लगे हैं। इस क्षेत्र में खेती की सुविधायें प्राप्त न होने से लोगों का ध्यान इस उद्योग की ओर आकर्षित हुआ था। स्थानीय मिट्टी इस उद्योग के लिए उपयुक्त है। डरबीशायर क्षेत्र से मिट्टी के बर्तनों पर पालिश करने के लिए काफी सीसा प्राप्त हो जाता है। पूर्वारम्भ की सभी सुविधायें इस उद्योग को इस क्षेत्र में प्राप्त हैं। इस क्षेत्र में बेजवुड परिवार सारे संसार में इस उद्योग के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ कुशल श्रमिकों की अधिकता है। डारसेट और डेवीन से विशेष प्रकार की मिट्टी लाई जाती है। कार्नवल से चीनी मिट्टी मँगाई जाती है। ट्रेन्ट और मरसी नहर के द्वारा सामान का सस्ता यातायात होता है। इस नहर द्वारा कार्नवल से इसका सीधा सम्बन्ध है। इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र स्टाक बर्सलेम, हैनली, टन्सटाल, लोंगटन और फेन्टन हैं। चेशायर से रासायनिक पदार्थ मँगाये जाते हैं। इन सब केन्द्रों में कुल मिलाकर ३०० कारखाने हैं। १०५ कारखाने स्टोक में हैं। सेनीटरी सामान किलयारनोक और बारहेड में बनाये जाते हैं।

काँच उद्योग (Glass Industry)—ग्रेट ब्रिटेन में यह उद्योग कोयला क्षेत्रों में न्यूकेसिल, बर्मिघम व ब्रिस्टन के निकट केन्द्रित है क्योंकि इस क्षेत्र में बाजार की निकटता, सस्ते कुशल मजदूरों की उपलब्धता और ईंधन के लिए गैस मिलने की सुविधायें हैं। यहाँ के मुख्य केन्द्र लन्दन, न्यूकेसिल, ग्लासगो, सैन्ट, हैलेन्स, बर्मिघम, डडले, राथरहैम और साउथ शील्डरस है। यहाँ अधिकतर बोतलें और कच्चे किस्म का काँच बनाया जाता है।

कागज उद्योग (Paper Industry)—इस देश में बढ़िया कागज का अधिक उत्पादन होता है। अपनी श्रेष्ठता के लिए यहाँ का कागज प्रसिद्ध है। इस देश में लुब्दी नहीं मिलती है इसलिये नार्वे, स्वीडन, कनाडा और बाल्टिक देशों से लुब्दी मँगाई जाती है। निर्यात करने के लिए इस देश को बन्दरगाहों की अन्यतम सुविधायें प्राप्त हैं। बन्दरगाहों के निकट ही अधिकतर कागज के केन्द्र स्थित हैं। प्रचुर स्वच्छ पानी, ज्वार जल क्षेत्र की निकटता और पश्चिमी यूरोप के विस्तृत बाजारों की समीपता मुख्य सहायक तत्व हैं। उत्तरी सामरसेट बढ़िया कागजों के लिए प्रसिद्ध है। सासेनडेल, केन्ट और हैम्पशायर कागज उत्पादन के प्रसिद्ध क्षेत्र हैं।

विदेशी व्यापार (Foreign Trade)

ब्रिटेन का विदेशी-व्यापार संयुक्त-राज्य अमेरिका के बाद विश्व में दूसरे स्थान पर है। यहाँ का सारा ही व्यापार समुद्र द्वारा होता है। १९वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में ब्रिटेन की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण थी। इस शताब्दी के अंतिम काल में विश्व के बाजारों में आने वाले तैयार माल का ३३% ब्रिटेन से ही आता था। आयात व्यापार तो और भी अधिक होता था क्योंकि यहाँ उद्योगों तथा जनसंख्या के लिए सभी प्रकार का सामान आयात करना पड़ता है। अतः निर्यात व्यापार की अपेक्षा आयात व्यापार ही अधिक होता है किन्तु बैंकों, बीमों और जहाजों की आय के

कारण ब्रिटेन सदैव से ही लाभ में रहा है। इनको अदृश्य निर्यात (Invisible exports) कहते हैं। ब्रिटेन के व्यापार में इनका स्थान बड़ा महत्वपूर्ण रहता है। इसी प्रकार के अदृश्य निर्यात के कारण यहाँ का व्यापार सन्तुलन इसके पक्ष में रहता है। यहाँ से निर्यात व्यापार की रूप-रेखा यह है कि ब्रिटेन स्वनिर्मित वस्तुओं के अतिरिक्त बाहर से आई हुई वस्तुओं को भी जैसी की तैसी ही पुनर्निर्यात (Re-export) कर देता है।

१९१४ के बाद से ही विश्व के निर्यात व्यापार में जर्मनी, संयुक्त-राज्य अमेरिका आदि देशों के सम्मिलित हो जाने से इंग्लैंड का भाग कम होने लगा। १९१४ में यह भाग ३०% था, १९२९ में २४% और १९३७ में २२% ही रह गया किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद फिर से यह भाग बढ़ गया—१९५० में २५% किन्तु १९५९ में यह केवल १७% था। १९५९ में ब्रिटेन का विश्व के व्यापारी देशों में दूसरा देश था। यहाँ से मशीनें, जहाज, सड़क और रेल यातायात सम्बन्धी माल, धातु का सामान, रासायनिक पदार्थ और वस्त्र आदि काफी मात्रा में निर्यात किया जाता है। आयात व्यापार में भी ब्रिटेन का स्थान मुख्य है।

नीचे की तालिका में ब्रिटेन के व्यापार सम्बन्धी आँकड़े प्रस्तुत किये गये हैं :—

आयात और निर्यात व्यापार (मूल्य लाख पौंड में)

	१९३८	१९४८	१९५१	१९५७	१९५८	१९५९
कुल आयात	९,१९०	२०,७७०	३८,९१०	४०,२४०	३७,४६०	३९,९००
निर्यात	४,७१०	१५,७९०	२५,६४०	३२,९१०	३१,७२०	३३,३००
पुनर्निर्यात	६१०	६१०	१,२५०	१,३००	१,४१०	१,३००
व्यापार के निर्देशांक	—	—	१००	११४	११४	१२२
आयात (१९५४=१००) निर्यात (१९५४=१००)	—	—	१००	११६	१११	११६

१९३८ के बाद ब्रिटेन के व्यापार में अन्तर हुआ है। १९३८ में आयात व्यापार के मूल्य का कुल ४७% भोज्य पदार्थ, पेय और तम्बाकू आदि वस्तुओं का होता था। १९४८ में यह ४२% और १९५९ में ३८% ही रह गया। इसके विपरीत आधारभूत वस्तुओं का भाग २६% से बढ़ कर ३१% हो गया किन्तु १९५९ में पुनः २३% ही रह गया।

ब्रिटेन से बाहर जाने वाली वस्तुओं में ८०% तो कारखानों का तैयार माल ही होता है। इसमें वस्त्र, मशीनें, लोहे और इस्पात का सामान आदि मुख्य है। शेष में कागज, चमड़े की वस्तुयें, कोयला, जूट, तम्बाकू, अस्त्र-शस्त्र और कोयला मुख्य होता है।

आयात व्यापार में मुख्यत: गेहूँ, चावल, चाय, चीनी, कहवा, चुकन्दर, माँस, मक्खन, पनीर, कपास, जूट, ऊन, रबड़, लोहा और टिन वस्तुयें होती हैं। आयात व्यापार में ४५% खाद्यान्न और पेय; ४०% कच्चा सामान तथा १५% अन्य वस्तुओं का होता है।

मूल्य के अनुसार सं० राष्ट्र का व्यापार

	आयात (% मे)					निर्यात (% म)			
	१९३८	१९४८	१९५४	१९५७		१९३८	१९४८	१९५४	१९५७
भोज्य, पेय और तम्बाकू	४७	४२	३९	३७	इञ्जीनियरिंग माल	२५	३७	३८	४१
आधारभूत वस्तुयें	२७	३१	३१	२८	वस्त्र	२०	१९	१२	९
पक्का माल	२२	१८	२०	१३	धातुएँ	१३	११	१३	१४
					अन्य पक्कामाल	१८	१९	१८	१७
ईंधन और अन्य वस्तुएँ	५	९	१०	१२	ईंधन तथा अन्य वस्तुए	२५	१५	१९	१९

१९५९ में कॉमनवैल्थ के देशों ने ब्रिटेन के निर्यात व्यापार का लगभग दो-तिहाई लिया। १४% निर्यात व्यापार यूरोपीय आर्थिक सामुदायिक बाजारों के बेल्जियम, फ्रांस, इटली, लक्समबर्ग, नीदरलैंड और पश्चिमी जर्मनी आदि ६ देशों को ११% संयुक्त राज्य अमेरिका; ९% मध्य पूर्व के देशों और ५% लेटिन अमरिकी देशों के साथ हुआ। यूरोप के अन्य देशों को १०% निर्यात व्यापार हुआ।

नीचे की तालिका में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के आयात-निर्यात व्यापार की दशा बताई गई है :—

आयात-निर्यात, व्यापार १९५९ में

निर्यात	मूल्य (लाख पौंड)	१९५८ की अपेक्षा परिवर्तन %	आयात	मूल्य (लाख पौंड)	१९५८ की अपेक्षा परिवर्तन %
संयुक्त राज्य	३,६००	+३३	संयुक्त अमेरिका	३,७१०	+ ६
आस्ट्रेलिया	२,२४०	— ५	कनाडा	३,१२०	+ १
कनाडा	२,०७०	+१०	आस्ट्रेलिया	२,२३०	+१२
भारत	१,७१०	+ ७	न्यूजीलैंड	१,८३०	+१४
द० अफ्रीका	१,४९०	—२०	नीदरलैंड्स	१,६००	+ १
प० जर्मनी	१,४२०	+१२	प० जर्मनी	१,४४०	+ ६
नीदरलैंड्स	१,१३०	+१६	भारत	१,४३०	+ २
स्वीडेन	१,१२०	+ ८	डेनमार्क	१,३४०	+१६

वैसे तो ग्रेट ब्रिटेन का व्यापार विश्व के सभी देशों से होता है। किन्तु यह निम्न देशों से विशेष रूप से होता है —

(१) उत्तरी अमरीका

आयात	निर्यात
लकड़ी, दूध, मक्खन, पनीर, खालें, फर, चमड़ा, कपास, मकई, जौ, गेहूँ, तम्बाकू, सूत, तेल, ताँबा, जस्ता, चाँदी, शीशा, ग्रेफाइट, रबड़ की वस्तुयें तथा मशीनें आदि।	मशीनें, रासायनिक पदार्थ, शराब, विलास सामग्री, लोहे की वस्तुयें, सूत आदि।

(२) मध्य और दक्षिणी अमरीका तथा पश्चिमी द्वीप समूह

आयात	निर्यात
रबड़, कहवा, कोको, रुई, तम्बाकू, ताँबा, चाँदी, तेल, तिलहन, मसाले आदि।	कपास, मशीनें, मदिरा तथा मद्यसार आदि।

(३) दक्षिणी अमरीका

आयात	निर्यात
मांस, गेहूँ, मकई, कहवा, चमड़ा, ऊन, चीनी, सोना, कोको, शोरा, रबड़, तेल, लकड़ियाँ, ताँबा आदि।	मशीनें, औजार, जहाज, शीशा, एंजिन, मोटरें, रासायनिक पदार्थ, चमड़े का सामान तथा कोयला।

(४) उष्ण कटिबन्धीय पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीका

आयात	निर्यात
ताड़ का तेल, रबड़, हाथी दाँत, कोको, अभ्रक, मसाले, गोंद, कहवा, रुई, लकड़ियाँ, तिलहन, शक्कर आदि।	सूती वस्त्र, मशीनें, टीन की वस्तुयें, औज आदि।

(५) दक्षिणी अफ्र

आयात	निर्यात
शुतुरमुर्ग के पंख, ऊन, चमड़ा, हीरा, सोना, ताँबा, चाय, मदिरा, फल आदि।	सूत, रासायनिक पदार्थ, कपड़े, लोहे, और इस्पात का सामान, चमड़े की वस्तुयें, एंजिन, मोटर गाड़ियाँ, अस्त्र-शस्त्र आदि।

(६) चीन और जापान

आयात	निर्यात
चाय, रेशम, रेशमी वस्त्र, चावल, शक्कर, खिलौने, दियासलाई आदि	सूती वस्त्र, लोहे का सामान, मशीनें, तम्बाकू, हथियार, गोला-बारूद आदि।

(७) दक्षिण-पूर्वी तथा दक्षिणी पश्चिमी एशिया

आयात	निर्यात
तेल, चाय, रबड़, चमड़ा रंगने का सामान, पैट्रोलियम, चावल, मकई, नारियल, मसाले, तिलहन, लकड़ियाँ, कहवा, नील, ऊन, जूट, सोना, तम्बाकू, दालें, आदि।	सूती वस्त्र, चमड़े की वस्तुयें, तम्बाकू, कोयला, कागज, एंजिन, सीमेंट, रासायनिक पदार्थ, लोहे की वस्तुयें आदि।

(८) भारत

आयात	निर्यात
चाय, चमड़ा और खालें, चमड़े का सामान, तम्बाकू, ऊन, कपास, जूट, वस्त्र, खाद्यान्न, वनस्पति तेल, सूत अन्य वस्तुएँ आदि।	मशीनें, विद्युत मशीनें, यंत्र-उपकरण ऊन और ऊनी वस्त्र, पैट्रोलियम और उसकी वस्तुएं, कागज, गत्ता, लोहा-इस्पात धातुएं, रेल्वे उपकरण, मोटर गाड़ियाँ, विज्ञान के यंत्र आदि जहाज।

(९) आस्ट्रेलिया—न्यूजीलेंड

आयात	निर्यात
माँस, मक्खन, अंडे, ऊन, घोड़े, सोना, चाँदी, खालें, शराब आदि।	एंजिन, मोटर गाड़ियाँ, मशीनें, विलास सामग्री, रासायनिक पदार्थ, जहाज आदि।

(१०) पश्चिमी तथा मध्य यूरोप और रूस

आयात	निर्यात
दूध, पनीर. मक्खन, अंडे, चुकन्दर, लकड़ी, शक्कर, फर, आटा, शराब, लोहे की वस्तुएं, चमड़ा, रासायनिक पदार्थ, प्लेटीनम आदि।	कोयला, सूत, लोहे का सामान, चमड़े की वस्तुएं मछली आदि।

(११) बाल्टिक प्रदेश

आयात	निर्यात
डेरी की वस्तुएं, सूअर का मांस, अंडे, मछली, खालें, दियासलाई आदि।	कोयला, लोहे की वस्तुएं, मशीनें, सूती वस्त्र जहाज।

परिवहन (Transport)

ग्रेट ब्रिटेन का कोई भी भाग समुद्र से ७५ मील से अधिक दूर नहीं है अतः इसकी औद्योगिक उन्नति में यातायात के साधनों का प्रमुख योगदान रहा है। ग्रेट

ब्रिटेन आंध्र महासागर में स्थित है अत: यहाँ से चारों ओर जलमार्ग जाते हैं। ब्रिटेन का व्यापारिक जहाजी बेड़ा (Merchant fleet) विश्व में दूसरा सबसे बड़ा है। अंग्रेजी जहाजी बेड़ा विश्व के सामुद्रिक राष्ट्रों में दूसरे स्थान पर है। वहाँ का बेड़ा विश्व के व्यापारिक जहाजी बेड़े का १६·२८%, जबकि उसका व्यापार विश्व के व्यापार का १०·०३% है। १९६० में ब्रिटेन का जहाजी बेड़ा २४८ लाख टन का था (१०० टन तथा उससे अधिक के जहाज)। १९५९ में यह २०८ लाख टन का था। ३०,००० ग्रॉस टन से अधिक भार के बड़े जहाज (Liners) इस प्रकार हैं :—

(१) क्वीन एलिजाबेथ	८३,६७३ ग्रॉस टन भार
(२) क्वीन मेरी	८१,२३७ ग्रॉस टन भार
(३) कैनबरा	४५,००० ग्रॉस टन भार
(४) ओरियाना	४०,००० ग्रॉस टन भार
(५) मोरेटैनिया	३५,६७३ ग्रॉस टन भार
(६) कैरोनिया	३४,१७३ ग्रॉस टन भार

इनके अतिरिक्त तेल ले जाने वाले यहाँ ८३६ जहाज हैं जिनका टन भार ६,३८९,२७५ है। जहाजी उद्योग में लगभग १७५ लाख व्यक्ति लगे हैं।

विश्व के व्यापार और जहाजी बेड़े में ब्रिटेन तथा भारत का स्थान, (३० जून, १९६०)

देश	जहाजी बेड़ा १०० टन तथा अधिक लाख टन	विश्व बेड़े का प्रतिशत	देशी व्यापार विश्व व्यापार का प्रतिशत
संयुक्त-राज्य अमरीका	२४८	१९·१४	१६·४१
ब्रिटेन	२११	१६·२८	१०·०३
लाइबेरिया	११३	८·६९	०·०३
नार्वे	११२	८·६३	१·०३
जापान	६९	५·३४	३·३९
इटली	५१	३·९५	३·००
नीदरलैंड	४९	३·७६	३·६३
फ्रांस	४८	३·७१	५·१५
पू० जर्मनी	४५	३·५०	८·७९

रूस	२३	२·६४	५·०५
ब्राजील	१०	१·२२	५·७२
कनाडा	१६	०·८१	१·२८
भारत	६	०·६६	१·५२
का कुल योग	१,२६८	१००	१००

ब्रिटेन की जहाजी कम्पनियों के जहाज अन्तर्राष्ट्रीय मार्गों पर चलते हैं—

मुख्य लाइन या कम्पनी	सेवायें
कुनार्ड	ब्रिटेन से उत्तरी अमरीका को
रायल मेल	,, दक्षिणी अमरीका को
ब्लू फनेल	,, आस्ट्रेलिया और सुदूरपूर्व को
पी & ओ तथा ब्रिटिश इण्डिया	,, भारत-आस्ट्रेलिया को
औरियंट	,, आस्ट्रेलिया को
यूनियन कैसल	,, द० अफ्रीका को
एल्डर डम्पस्टर	,, प० अफ्रीका को
फरनेस विथी	,, उत्तरी अमरीका और पश्चिमी द्वीप समूह को
न्यूजीलैंड	,, उत्तरी अमरीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड को
शासेविल तथा एलबिन	,, आस्ट्रेलिया को।

बन्दरगाह (Ports)

संयुक्त-राष्ट्र में ३०० से ऊपर बन्दरगाह हैं। इनमें से ११ सबसे बड़े हैं। ये बन्दरगाह व्यापार की दृष्टि से इस प्रकार महत्वपूर्ण हैं : लन्दन, लिवरपूल, मानचेस्टर, साऊथहैम्पटन, न्यूकैसिल, हल, मिडिलसबरो, स्वान सी, ब्रिस्टल, ग्लासगो, लीथ और बेलफास्ट।

बन्दरगाहों पर आने जाने वाले जहाजों का टन भार
(१९५९)

बन्दरगाह	विदेशी व्यापार	तटीय व्यापार	व्यापार का योग
लन्दन	६५,४९९	२१,५२१	८७,०२०
साऊथहैम्पटन	३८,८१६	११,१९४	५०,०१०
लिवरपूल	३१,६८९	७,६५९	३९,३४८
मानचेस्टर	१२,६९९	३,४०१	१६,१००
ग्लासगो	११,५६६	४,१७२	१५,७३८
टाइन-बन्दरगाह	७,३५३	७,५६७	१४,९२०
वेल्फास्ट	२,९६७	११,९२८	१४,८९५
ब्रिस्टल	८,७९६	३,३६५	१२,१६१
हल	९,१९१	२,६६४	११,८५५
स्वान सी	६,७३६	३,०४०	९,७७६
मिडिल्सबरो	६,९३५	२,८१७	९,७५२
इनका योग	२०२,२४७	७९,३२८	२८१,५७५
सभी बन्दरगाहों का महायोग	२७१,५३९	१५०,०९५	४२१,६३४

बन्दरगाहों का अधिक होने का मुख्य कारण तटरेखा का अधिक लम्बा होना और किनारों का काफी कटा-फटा होना है।

सड़कें व रेल-मार्ग

ब्रिटेन का भीतरी व्यापार जितना होता है उसका ७६% सड़कों पर चलने वाली ट्रकों, बसों द्वारा; १९% रेलों द्वारा, ४% तटीय जहाजों द्वारा और १% भीतरी नहरों द्वारा ढोया जाता है। स्पष्ट है कि भीतरी व्यापार में सड़कों और रेल-मार्गों का महत्व सबसे अधिक है। यहाँ १९३,०७२ मील लम्बी सड़कें हैं अर्थात प्रति वर्ग मील क्षेत्र पीछे २ मील लम्बी सड़कें यहाँ हैं। इनमें से ८,३३४ मील लम्बी सड़कें (Trunk Road), १९,७३५ मील प्रथम श्रेणी की, १७,५२५ मील द्वितीय श्रेणी की, ४८७५ मील तृतीय श्रेणी की और ९८,५३३ मील अन्य अवर्गीकृत सड़कें हैं। इनमें सबसे मुख्य सड़कें ५ हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) लन्दन से न्यूकैसिल को;
(२) लन्दन से बर्मिंघम होती हुई उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र को;
(३) लंदन से दक्षिण पूर्व को मैडस्टोन और एशफोर्ड होते हुए;
(४) मिडलैंड के औद्योगिक प्रदेश से साऊथवेल्स को ;
(५) लंदन से लंदन के हवाई अड्डे होती हुई इंगलैंड तथा दक्षिणी वेल्स के पश्चिमी क्षेत्रों को।

चित्र—७

सब मिल कर यहाँ ८६ लाख मोटर गाड़ियाँ हैं।

ब्रिटेन के रेल-मार्ग बड़े व्यवस्थित हैं। इनकी लम्बाई ५०,००० मील है ये देश के सभी भागों को बड़े औद्योगिक केन्द्रों, तथा बन्दरगाहों से जोड़ती हैं। डीजल तथा विद्युत रेलें (de luxe) लंदन से मानचेस्टर, बर्मिंघम वूल्वर- हैम्पटन; लीसेस्टर तथा ब्रिस्टल के बीच दौड़ती हैं।

चित्र—८
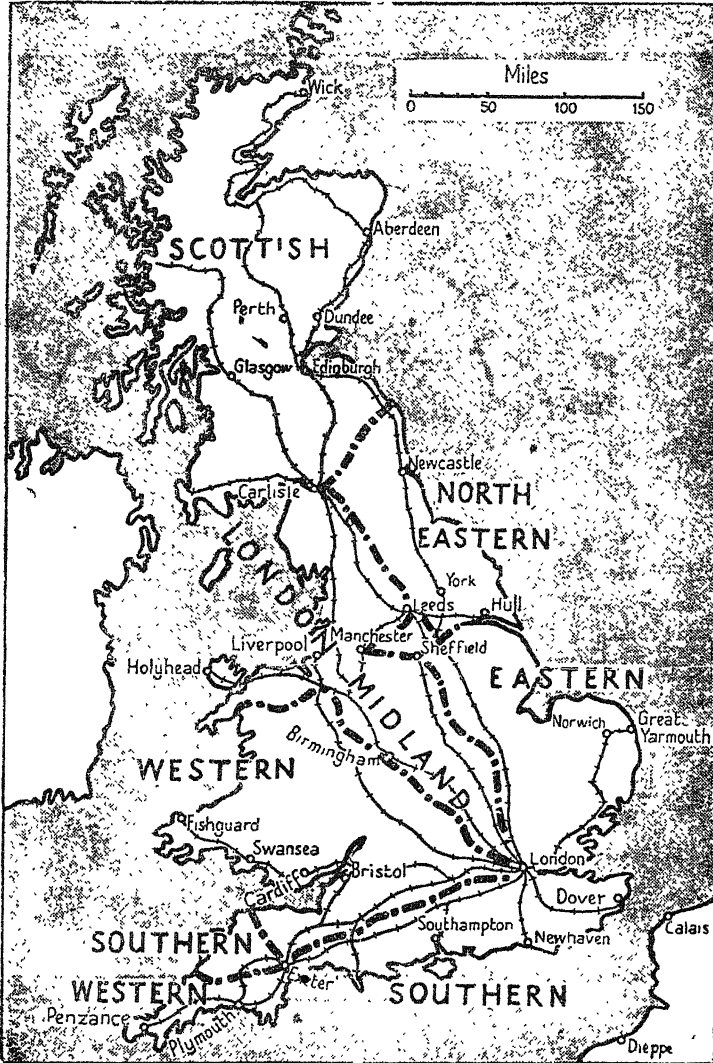
नहरें

ब्रिटेन में २६०० मील लंबे भीतरी जल-मार्ग हैं किन्तु इनमें से अधिकांश में छोटी नावें ही चलाई जाती हैं जिनकी ढोने की क्षमता २५ से ३० टन की होती है किन्तु कुछ नहरों में बड़े स्टीमर भी चलाये जाते हैं। १९५९ में जल-मार्गों द्वारा ९० लाख टन सामान ढोया गया है जिसमें सबसे अधिक कोयला (३७ लाख टन), ईंधन तेल (२२ लाख टन) और अन्य सामान (३१ लाख टन) था।

चित्र—६
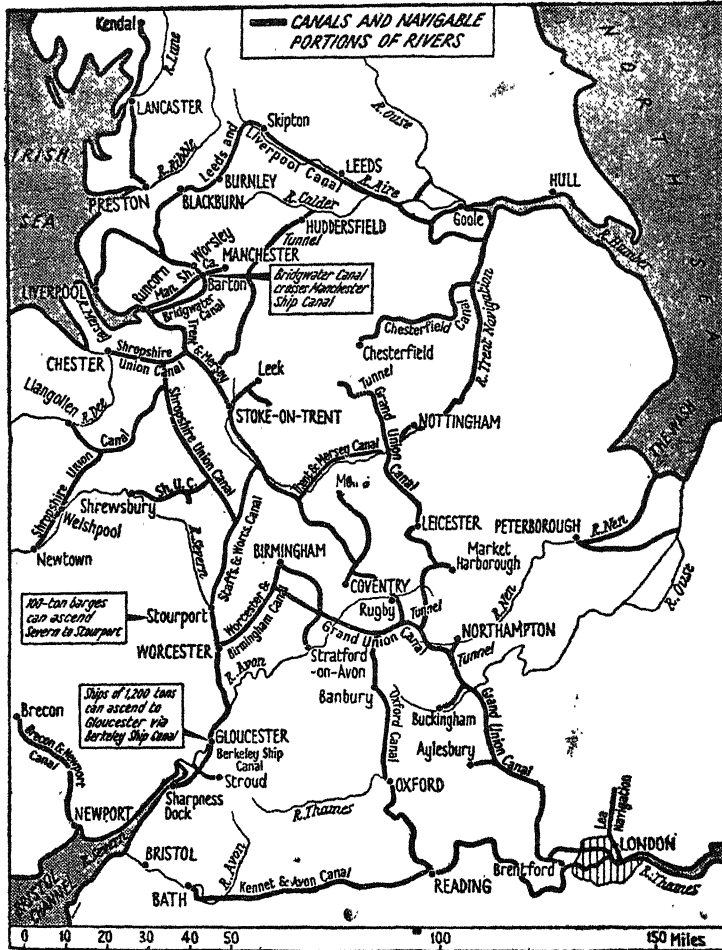
वायुमार्ग

वायु यातायात का संचालन और नियंत्रण दो बड़ी कंपनियों (सार्वजनिक निगमों) के अंतर्गत है—ये क्रमश: BOAC (British Overseas Airways Corporation) और B E A (British European Airways) हैं। इनके अतिरिक्त २० स्वतंत्र कम्पनियाँ भी हैं। इन कम्पनियों के वायु-मार्ग विश्व के इन देशों को जाते हैं :—

BOAC

इसके वायुयान प्राय: विश्व के अधिकांश देशों को जाते हैं। विभिन्न देशों में इनके ठहरने के स्थान इस प्रकार हैं :—

(१) **मध्यपूर्व सुदूरपूर्व और आस्ट्रेलिया मार्ग**—अदन, तेहरान, कुवेत, बहरीन, कराची, बम्बई, दिल्ली, सिंगापुर, हांगकांग, टोकियो, मेलबोर्न, सिडनी को।

(२) **अफ्रीका मार्ग**—लंदन से जोहेंन्सबर्ग, नौरोबी, अक्रा और लैगोस को।

(३) **उत्तरी अमरीका और कैरेबियन समुद्री मार्ग**—लंदन से न्यूयार्क, शिकागो, बोस्टन, टोरंटो, मोंट्रियल और जमेका को।

(**दक्षिणी अमरीका मार्ग**—लंदन से बोगोटा, कैरेकस, तथा सैंटियागो को।

BOAC हवाई सेवाओं का संबंध अन्य वायु यातायात कंपनियों से भी हैं जिनमें से मुख्य ये हैं:—

(1) Quintas Empire Airways ;
(2) South African Airways.
(3) Central African Airways Corporation ;
(4) East African Airways Corporation ;
(5) Nigera Airways ;
(6) Ghena Airways ;
(7) Middle East Airlines ;
(8) Cathay Pacific Airways ;
(9) Air India International.
(10) Trans Atlantic Airlines.

BOAC निगम के पास 4 Comet; ४१४ Britanias ५ Boeing और १० DC जहाज हैं। १९५९-६० में इस निगम के जहाजों द्वारा ५·६ लाख यात्री ले जाये जायेंगे; १०·३ हजार टन माल और ४·३ हजार टन डाक ढोई गई।

BEA

इसके जहाज ४२,०५६ मील के मार्ग पर उड़ते हैं जो संयुक्त-राष्ट्र, यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और फारस की खाड़ी के ८४ स्थानों को जाते हैं। इसके पास ६ Comet, ४४ Viscount, २६ Pionairs; 2 Herons, ७ Pionairs Leopard और ५ Helicopter जहाज हैं। १९५९-६० में इसके हवाई जहाजों ने ३३ लाख यात्रियों को ढोया तथा ३७ हजार टन सामान और ७·८ हजार टन डाक ढोयी।

स्वतन्त्र कम्पनियों के जहाज देश के भीतरी भागों में तथा यूरोप के निकटवर्ती देशों को जाते हैं।

संयुक्त राष्ट्र में ११० नागरिक हवाई अड्डे हैं जिनमें ५६ हवाई अड्डे नागरिकों के लिए खुले हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सेवाओं के लिये ये हवाई अड्डे खुले हैं :—

(१) **यूरोपीय सेवाओं के लिए**—लन्दन, मानचेस्टर, रेनफ्रू, बर्मिंघम।

(२) **उत्तरी अटलांटिक सेवाओं के लिए**—लन्दन, मानचेस्टर, प्रेस्टविक।

(३) **मध्यपूर्व आस्ट्रेलिया और सुदूरपूर्व के लिए**—लन्दन।

जनसंख्या (Population)

विश्व के देशों में विस्तार के अनुसार संयुक्त राष्ट्र का स्थान ७५ वाँ है। यहाँ का क्षेत्रफल सम्पूर्ण विश्व का ०·१८% है किन्तु यहाँ की जनसंख्या विश्व की २ प्रतिशत है अर्थात् जनसंख्या की दृष्टि से विश्व के देशों में इसका स्थान ९ वाँ है और जनसंख्या के घनत्व के अनुसार ४ था है।

१९५१ की जनगणना के अनुसार संयुक्त राष्ट्र की जनसंख्या ५०,२२५,००० थी। १९५९ में यह ५१,९८५,००० अनुमानित की गई। १७०० की तुलना में १९५१ में जनसंख्या में ४३० लाख की; १९२१ की तुलना में ६० लाख; १९३१ की तुलना में ४० लाख और १९३९ की तुलना में २५ लाख वढ़ी है। इस वृद्धि का मुख्य कारण मृत्यु दर में कमी होना तथा जन्म दर वही बनी रहना है।

१९ वीं शताब्दी के अधिकांश समय में जन्म दर प्रति १००० व्यक्ति पीछे ३५ थी और मृत्यु दर २०। इस शताब्दी के पहले ३० वर्षों में दोनों दरों में गिरावट अवश्य हुई किन्तु वृद्धि की प्राकृतिक दर ऊँची ही बनी रही है। १८५१ में यह १२ थी जो १८८१ में १५ हो गई और १९०१ में गिरकर ११ प्रति हजार रह गई। यहाँ की औसत जीवन अवधि १९००-१९१० में ५० वर्ष थी यह १९५५-५७ में ७० वर्ष की हो गई है। औसत परिवार में २·१ व्यक्ति हैं।

कुल जनसंख्या का २३·३%, १५ वर्ष से कम उम्र के बालकों का है; ६५·१% १५ वर्ष से ६४ वर्ष के व्यक्तियों का और ११·६%—६५ या उससे अधिक उम्र के व्यक्तियों का। इस आधार पर कि यहाँ पर मृत्यु-दर में और कमी होगी तथा प्रतिवर्ष २७,००० व्यक्ति साधारण आयु-विभाग से बढ़ते रहेंगे, ऐसा अनुमान किया गया है कि १९५९ से १९७४ के बीच में जनसंख्या में इस प्रकार वृद्धि होगी :

(i) १५ से २४ वर्ष के युवक-युवतियों की संख्या ७७।। लाख अधिक होगी अर्थात् १५% की वृद्धि होगी।

(ii) २५-६४ वर्ष के लोगों की संख्या में धीमी वृद्धि होगी; और

(iii) ६५ से अधिक उम्र वाले व्यक्तियों की संख्या में १५ लाख से अधिक की वृद्धि होगी।

संयुक्त राष्ट्र की जनसंख्या का घनत्व विश्व में काफी ऊँचा है। यह १९६१ में प्रति वर्ग मील पीछे ५३३ था और १९५९ में ५५२ व्यक्ति प्रति वर्ग मील।

संयुक्त राष्ट्र की जनसंख्या मुख्यतः नागरिक है लगभग ७५% व्यक्ति नगरों में रहते हैं। १९२१ के बाद से तो ४०% व्यक्ति ७ बड़े नगरों में रह रहे हैं। ये

नगर क्रमशः लन्दन, मानचेस्टर (द० पूर्व लंकाशायर), बर्मिंघम और बूल्वर हैम्पटन (प० मिडलैंड्स), ग्लासगो (मध्य क्लाइड क्षेत्र), लीड्स और बेडफोर्ड (प० यार्कशायर); लिवरपूल (मर्सी नदी के निकट) और न्यूकैसिल (टाइन के किनारे) हैं। इनके अतिरिक्त ११ बड़े नगर और हैं।

चित्र—९
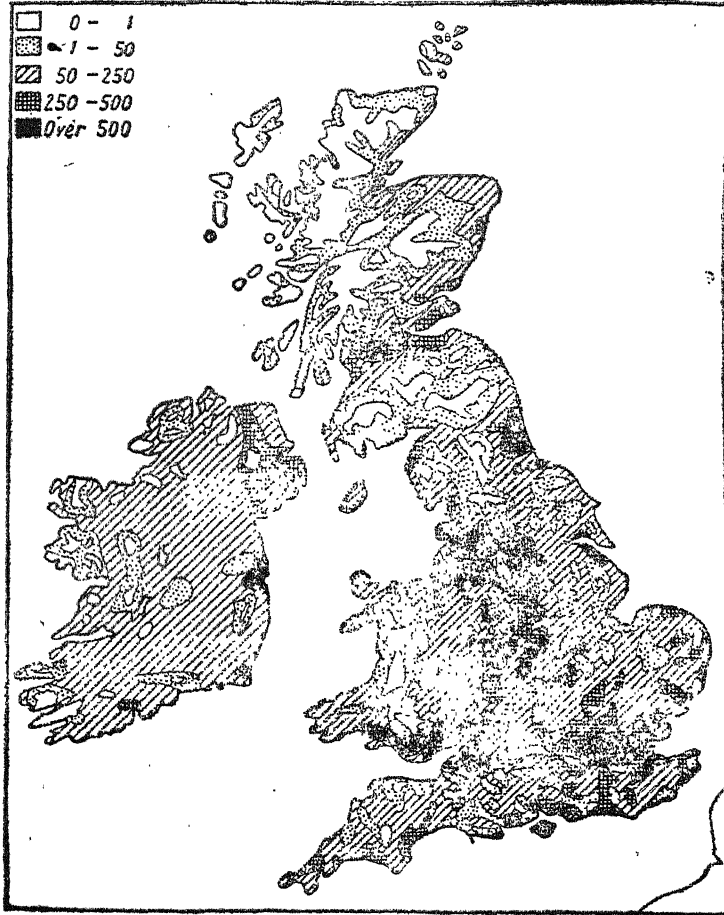
संयुक्त राष्ट्र में जनसंख्या का वितरण इस प्रकार है :—

जनसंख्या १८४१–१९५९ (लाख में)

	१८४१	१८७१	१९०१	१९३१	१९५१	१९५९
इंग्लैंड	१४८·६७	२१२·९९	३०५·१४	३७३·५९	४११·५९	४२७·६४

१. अनुमानित।

वेलस	१०·४६	१४·१२	२०·१२	२५·९३	२५·९८	२६·२२
स्कॉटलैंड	२६·२०	३३·६०	४४·७२	४८·४२	५०·९६	५१·९२
ग्रेट-ब्रिटेन	१८५·३४	२६०·७२	३३९·९९	४४३·९५	४८८·५४	५०५·७८
उत्तरी-आयरलैण्ड	१६·४८	१३·५९	१२·३६	१२·४३	१३·७०	१४·०८
ग्रेट-ब्रिटेन और आयरलैंड का योग	२०१·८३	२७४·३१	३८२·२६	४६०·३८	५०२·२५	५१९·८५
ब्रिटिश द्वीप समूह का योग	२९८·३६	३१६·२९	४२६·०९	४९१·१३	५३३·४३	अप्राप्य

नागरिक और ग्रामीण जनसंख्या का वितरण

(हजार में)

	क्षेत्रफल (वर्ग मीलों में)	१९२१	१९३१	१९३९	१९५१	१९५९[1]
इंगलेंड और वेल्स						
नागरिक	८,२४०·५	३०,३३५	३१,९५२	३४,१८३	३५,३३६	३६,३४८
ग्रामीण	५०,१०४·५	७,८५१	८,०००	७,२७७	८,४२२	९,०३८
स्कॉटलैंड						
नागरिक	४१६·३	३,३११	३३६२	३,५२५	३,५६३	३,६६४
ग्रामीण	२९,३७८·६	१,५७२	१,४८१	१,४८२	१,५३४	१,५२८
उत्तरी आयरलैंड						
नागरिक	७८·५	६३८[2]	६७८[2]	६८४	७२८	७७५
ग्रामीण	५,१५९·५	६१९[2]	६०२[2]	६११	६४९	६३२

७ बड़े नागरिक क्षेत्रों की जनसंख्या इस प्रकार है :—

	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९२१	१९३१ (हजार में)	१९३९	१९५१	१९५९
महान लंदन	७२१·६	७,४८८	८,२१६	८,७२८	८,३४८	८,२०५
दक्षिण-पूर्वी लंकाशायर	३७९·६	२,३६१	२,४२७	२,४२१	२,४२३	२,४१९
पश्चिमी मिडलैंड	२६८·८	१,७७३	१,९३३	२,०७९	२,२३७	२,२९२

२. १९२६ और १९३७ के अंक।

मध्यवर्ती कला-						
इड क्षेत्र	३२६·८	१,६३८	१,६९०	१,७८३	१,७५८	१,७९८
पश्चिमी						
यार्कशायर	४८०·९	१,६१४	१,६५५	१,५५८	१,६९३	१,६९३
मर्सीसाइड	१४८·५	१,२६३	१,३४७	१,३५७	१,३८२	१,३८४
टाइनसाइडक्षेत्र	९०·१	८१६	८२७	८२५	८३६	८५२

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विश्व के देशों में क्षेत्रफल की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र का स्थान ७५ वाँ है किन्तु जनसंख्या की दृष्टि से इसका स्थान नवाँ है। संयुक्त राष्ट्र की कुछ प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं :—

(१) सम्पूर्ण विश्व के क्षेत्रफल का केवल ०·१८ प्रतिशत ही संयुक्त राष्ट्र में है किन्तु विश्व की लगभग २ प्रतिशत जनसंख्या यहाँ निवास करती है। जनसंख्या के घनत्व की दृष्टि से इसका स्थान चौथा है।

(२) विश्व के व्यापार में इसका स्थान दूसरा है। सम्पूर्ण व्यापार का १/१० वाँ भाग इसका होता है। आधार-भूत वस्तुओं के निर्यात में विश्व इसका स्थान ५वाँ है तथा तैयार किये हुये माल के निर्यात का लगभग १/५ वाँ भाग यहीं से प्राप्त होता है।

(३) अपनी माँग का केवल आधा खाद्यान्न ही यहाँ पैदा होता है और कोयले तथा निम्न श्रेणी के लोहे को छोड़कर यहाँ की प्राकृतिक सम्पत्ति अधिक नहीं है। अतः यह विश्व का सबसे बड़ा आयातक देश है विशेषकर गेहूँ, माँस, मक्खन, चारा, अनाज, रसदार फल, चाय, ऊन, तम्बाकू और कठोर लकड़ियों का और इसी प्रकार निर्यातक देश भी है जहाँ से जहाज, वायुयान, एंजिन, मोटर गाड़ियाँ, विद्युत उपकरण, रासायनिक पदार्थ, सूती, ऊनी वस्त्र और अनेक प्रकार की मशीनों का निर्यात किया जाता है।

(४) विश्व के कुछ ही देशों की जनसंख्या का इतना बड़ा भाग (८० प्रतिशत) नगरों में रहता है जितना कि यहाँ। कार्यशील जनसंख्या का केवल ४ प्रतिशत ही खेती में लगा है।

ऐतिहासिक सर्वेक्षण

(Historical Survey of United Kingdom)

अध्याय

जिस इंग्लैंड के आर्थिक विकास का आधुनिक काल से हम अध्ययन करते हैं वह कई जातियों के सम्मिश्रण और परिपोषण से बना राष्ट्र है। ईसा-युग के प्रारम्भ में इंग्लैंड जंगली जातियों से आबाद था। इस प्रकार की जातियों में कैल्टस (Celts) और ब्रिथन्स या ब्रिटिन (Brythons) (Britons) नमक जातियाँ मुख्य थीं। इस पिछली जाति से ही सम्भवतया 'ब्रिटेन' नाम का आविर्भाव हुआ है।

इस प्रकार की आदिम जातियों पर ईसा से शताब्दी १ पूर्व रोमन लोगों ने विजय प्राप्त की। रोमन साम्राज्य का इंग्लैंड पर चार-पाँच सौ वर्षों तक आधिपत्य रहा। वे विवशतापूर्वक ईसा से ५०० वर्ष पूर्व तक हटे जबकि रोमन साम्राज्य संकटों से ग्रस्त हो गया और उसका पतन होने लगा था। इंग्लैंड में रोमन साम्राज्य ने अन्य विदेशी आक्रमणकारियों के द्वार उन्मुक्त कर दिये जिससे जर्मनी में रहने वाली जंगली जातियों ने इंग्लैंड पर आक्रमण किया। ये जातियाँ जो रोमन साम्राज्य के बाद इंग्लैंड गईं यहाँ बस गईं तथा बाद में **'एंग्लो-सेक्शन'** (Anglo Sexon), **'इंगलिश'** या **'आंग्ल'** नाम से विख्यात हुईं। इन्होंने ब्रिटन जाति को अधिक से अधिक वेल्स के पश्चिम में घुसेड़ दिया और लगभग डरहम (Deorham) के युद्ध (५७७ ए० डी०) में अन्तिम रूप से ब्रिटन जाति को पराजित कर दिया गया और इंगलिश जाति देश की स्वामी हो गई। अत: बाद में यह देश इंगलिश जाति के शासन करने के कारण इंग्लैंड कहलाया। यह जाति इस नवीन देश में छोटे-छोटे कई समुदायों और राज्यों में यहाँ बस गई। किन्तु इंगलिश जाति एक लड़ाका जाति (Warrior r ce) थी अतः ब्रिटन लोगों को पराजित करने के पश्चात् जब कोई लड़ने के लिए न रहा तो वह आपस में ही लड़ने लगी। छोटे-छोटे राज्य ८०२ A. D. तक बड़े राज्यों द्वारा जीत लिये गए और वे एक दूसरे से एकीकृत किये जाकर **आगबर्ट** (Egbert) के नेतृत्व में आंग्ल साम्र.ज्य का निर्माण कर सके।

इस इंगलिश जाति पर ९वीं तथा १० वीं शताब्दी में डेनमार्क और नार्वे के लोगों ने हमला करना चालू कर दिया और इस प्रकार ये अधिक समय तक शांति-पूर्वक न रह सके। नवीं शताब्दी तक तो इन आक्रमणकारियों में से कुछ इंग्लैंड के पूर्वी भागों में बसने लगे क्योंकि उन्होंने देखा देश धनवान है। इसी प्रकार डेनिश लोगों की आक्रमण की धारा को अधिक समय तक रोका नहीं जा सका। यह ठीक

है इंगलिश लोग अपने सम्राट एल्फ्रेड के नेतृत्व में बहादुरी से लड़े और डेनिश लोगों को अस्थायी रूप से देश से निकालने और खदेड़ने में सफल हुए, किन्तु एल्फ्रेड महान् की मृत्यु के पश्चात् डेनिश लोगों का इंग्लैंड पर अधिकार हो गया।

कुछ ही समय पश्चात् डेनिश और नार्वेजियन लोगों की जो शाखा फ्रांस जाकर बस गई थी वह **नोरमन** (Norman) **या नारमण्डी** (Normandi) जाति अपने नेता विलियम (जोकि विलयम विजेता तथा विलियम प्रथम के नाम से विख्यात था) के नेतृत्व में इंग्लैंड पर आक्रमण किया और सन् १०६६ में इंग्लैंड पर विजय प्राप्त कर शासनारूढ़ हो गई। नारमन या नारमन्डी जाति की विजय इंग्लैंड पर अंतिम विजय थी, उसके पश्चात् द्वितीय विश्व-युद्ध (१९३९-४५) तक इंग्लैंड साधारणतया आक्रमणों की विभीषिका से मुक्त रहा।

इस ऐतिहासिक पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट है कि रोमन, जर्मन, डेनिश और नार्वेजियन तथा नारमन जातियों के निरन्तर आक्रमणों और आवास ने वर्तमान के इंग्लैंड को जन्म दिया है। डेनिश जाति ने न सिर्फ इंग्लैंड को जीता ही परन्तु उसने वाह्य जीवन और व्यापार का प्रथम बार श्रीगणेश किया जो बाद में आर्थिक विकास की आधारशिला बन गईं। डेनिश लोग प्रमुख व्यापारी थे और उन्हीं के प्रभाव के कारण शहरों का निर्माण व्यापार की उपयुक्तता के दृष्टिकोण से किया गया।

नारमन विजय (Norman Conquest)

नार्मन विजय से ही इंग्लैंड के आर्थिक विकास का अध्ययन प्रारम्भ होता है और यहीं से हमको विश्वस्त और निश्चित विवरण उपलब्ध होते हैं। यह तो ठीक है कि आर्थिक जीवन के विकास का प्रारम्भ नार्मन विजय से पूर्व भी हो गया था परन्तु जो सूचनाएं मिलती हैं उनमें अस्पष्टता और अनिश्चितता के तत्व विद्यमान हैं। विजय के समय तथा उसके पश्चात् का सरकारी अधिकृत विवरण **'डूम्सडे बुक'** (Domesday Book) नामक जनगणना पुस्तक में प्राप्त होता है जो कि विलियम प्रथम ने १०८५ A. D. में करवाई थी। इस जनगणना का प्रधान उद्देश्य कर-भार की क्षमता मालूम करना था क्योंकि विलियम **डेन्गेल्ड** (Danegeld) नामक कर जो अक्सर निवासियों पर लगता था लगाना चाहता था। डेंगेल्ड वास्तव में डेनिश आक्रमणों से बचने के लिए आर्थिक साधन जुटाने हेतु लगाया गया कर था। बाद में यह कर बाह्य आक्रमण से बचाव रूप में लगाया जाने लगा।

डूम्सडे बुक (Domesday Book)

डूम्सडे बुक जो लेटिन भाषा में लिखी गई है, हमें प्रशासनिक इकाइयों का विवरण देती है। उदाहरणार्थ इंग्लैंड काउन्टीज में विभाजित था और वे हन्डरेडस में उप-विभाजित थीं। ये हन्डरेडस (Hundreds) पुनः मेनर और गाँवों में उप-विभाजित थे। इसके साथ-साथ कृषि दशा, शहरों की दशा, भूमि का वर्गीकरण, विदेशी व्यापार, औद्योगिक दशा का विवरण भी इससे ज्ञात होता है।

पाइप रोल (Pipe Rolls)

बारहवीं शताब्दी से हमको दूसरा विश्वसनीय विवरण उपलब्ध होता है जिसमें शाही कोष के हिसाब-किताब हैं, उन्हें पाइप रोल नाम से पुकारा जाता था। इसमें भी कस्टम, चुंगी इत्यादि का विवरण उपलब्ध होता है।

पुरानी अर्थ-व्यवस्था

नार्मन विजय के समय इंग्लैंड में सामन्तवाद अवश्य ही अस्तित्व में था। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में मूलत: इंग्लैंड का समाज दो भागों में विभाजित था—प्रथम वह वर्ग जो सम्पूर्ण भूमि और सम्पत्ति के अधिकारों से सम्पन्न था और दूसरा वह वर्ग जो स्वयं ही दूसरों की सम्पत्ति था। अधिक स्पष्टता से यदि कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र रूप से दो वर्ग अस्तित्व में थे। कुछ परिस्थितियों के परिवर्तन से ही स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र वर्ग में परिवर्तन हो जाता था। यह परिवर्तन जिस पद्धति से किया जा सकता था उसे **कमेन्डेशन (Commendation)** पद्धति के नाम से जाना जाता है। इसके अन्तर्गत स्वतन्त्र व्यक्ति, आपत्ति के समय अपने से अधिक सम्पत्तिवान व्यक्ति की शरण लेता था। उसके इस संरक्षण के प्रति उसे फलस्वरूप लगान या व्यक्तिगत सेवाएँ देनी पड़ती थीं। इस प्रकार एक स्वतन्त्र व्यक्ति उपर्युक्त प्रक्रिया से गुलाम हो जाता था। सामन्तवाद अपने प्रारम्भिक रूप में राजा या स्वामी के प्रति सैनिक सेवाओं के रूप में प्रकट हुआ। ये सेवाएँ अलग-अलग प्रकार की हो सकती थीं।

नारमन विजय के पश्चात् विलियम प्रथम (William I) ने सामन्तवाद पर पर्याप्त जोर दिया। उसने पुराने सामन्तवाद को संशोधित रूप में प्रस्तुत किया। विलियम प्रथम चूँकि नारमण्डी का ड्यूक था अत: ज्यों ही उसने इंग्लैंड पर विजय प्राप्त की त्योंही वह नारमण्डी और इंग्लैंड का शासक हो गया और उसका स्पष्ट प्रभाव यह पड़ा कि लोगों का आवागमन इंगलिश चैनल के द्वारा अधिक बढ़ा। विलियम के आगमन से निर्माण और संगठन तथा विजातीय तत्वों का अद्भुत सम्मिश्रण कार्य आरम्भ हुआ।

आधुनिक इंग्लैंड के निर्माण में देशी-विदेशी प्रभावों का विश्लेषण

आधुनिक इंग्लैंड यूरोपीय जातियों के आक्रमण, प्रत्याक्रमण तथा सामाजिक संघातों का एक चिरन्तरन इतिहास है। इस द्वीप की आदिम जाति विदेशियों से सम्बन्धित हुई और रक्त का यह सम्मिश्रण आधुनिक इंग्लैंड को जन्म दे सका। इस रूप में कुछ प्रभाव उल्लेखनीय हैं :—

(१) धार्मिक युद्ध (Crusades)—धार्मिक युद्ध इंग्लैंड और यूरोप के ईसाई राष्ट्रों की लम्बी कहानी है। इस युद्ध में प्रवृत्त रहने से विदेशियों से इंग्लैंड का सम्पर्क स्थापित हुआ। ये धार्मिक युद्ध सन् १०९६ से १२७० तक के काल में विभिन्न अवसरों पर लड़े गये। ईसाई धर्म प्रचारकों ने यूरोप के लोगों को यरुशलम की प्राप्ति के लिए (जो ईसा का जन्म-स्थान माना जाता है) उकसाया। इस रूप में धार्मिक युद्धों का जहाँ धार्मिक और राजनीतिक महत्व है वहाँ व्यापारिक विकास में भी इनका महत्वपूर्ण योग है। इटली के नगरों (जिनेवा और वेनिस) से इनका सम्पर्क स्थापित हुआ और इन इटली वासियों द्वारा इंग्लैंड के दक्षिणी तट पर व्यापार बढ़ाया गया। इन धार्मिक युद्धों के अन्तर्गत ही कुस्तुन्तुनिया से जो रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत रहा पहला सम्पर्क इंगलैंड वालों का स्थापित हुआ।

(२) विदेशी प्रवासी (Foreign Immigrants)—नारमन विजय के कारण विदेशियों के झुन्ड यहाँ आपाये। श्री मटील्डा (Matilda) फ्रांसीसी राजकुमारी, के इंग्लैंड की राजरानी के रूप में आने पर भी फ्रान्सीसी व्यक्तियों का आवागमन

अधिक बढ़ा। फ्लेमिंगज (Flemings) नामक कारीगरों की कुशल जाति भी इसी समय के लगभग यूरोपीय देशों से धार्मिक प्रताड़ना पर इंग्लैंड में आ बसी। इस प्रकार नारमन विजय और उसके बाद का समय निर्माण और कला का समय कहा जा सकता है। इसी समय गिरजाघर, किले और अन्य भवन-निर्माण कार्य भी सम्पादित होने लगे।

(३) मठ (Monastries)—ईसाई धर्म के प्रचार के लिए नारमन शासन काल में प्रचारकों को पर्याप्त भूमियाँ दी गई, धीरे-धीरे मठों के निर्माण को प्रोत्साहन मिला और इनके पास पर्याप्त धन भी संग्रहित हो गया। इन मठों ने अप्रत्यक्ष रूप से व्यापार और उद्योगों को प्रोत्साहन दिया।

(४) **यहूदियों का प्रवास (Immigration of Jews)**—सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाली जाति के रूप में यहूदियों का नाम उल्लेखनीय है जो ठीक इसी समय व्यापार और पूँजी उधार देने के कार्य से प्रेरित हो इंग्लैंड में आ बसी। यद्यपि ईसाई धर्म में ब्याज लेना और व्यापार निषेधात्मक कार्य थे परन्तु बढ़ती हुई आर्थिक आवश्यकताओं ने व्यापार और पूँजी के नियोजन के कार्य को प्रोत्साहित किया।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कारीगरों, साधुओं और यहूदियों ने विदेशी प्रवासियों और प्रभाव के रूप में इंग्लैंड के जनजीवन को व्यापार, उद्योग, कृषि और अन्य आर्थिक कार्य-कलापों को प्रेरणा दी।

विश्व नेता और इंग्लैंड का राष्ट्र रूप में आविर्भाव

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दीं के आकस्मिक भौगोलिक खोजों और परिवर्तनों ने इंग्लैंड की आर्थिक-व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया। एक संगठित राष्ट्र के रूप में ही इन खोजों का लाभ प्राप्त किया जा सकता था। व्यापारियों और साहसियों को राजकीय संरक्षण में प्रोत्साहन दिया गया। प्रतिशोध लेने वाली संस्थाओं के रूप में व्यापारिक संस्थाएँ बनाई गई जो विदेशी व्यापारियों के अन्याय का सामना कर सकें। इस प्रकार का ज्वलन्त उदाहरण जर्मन व्यापारियों के विरुद्ध **हेनेसेटिक लीग (Hanesatic League)** की स्थापना के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। बाद में राष्ट्रीयता का प्रवेश भौगोलिक खोजों और उपनिवेशों की प्राप्ति से प्रबल वेग से आगे बढ़ सका। उस समय **व्यापार के साथ झण्डा (Trade follows the Flag)** वाली कहावत ने एक प्रतिस्पर्द्धा को जन्म दिया कि जो धनवाद और शक्ति सम्पन्न है वही नवीन-बाजारों और मण्डियों को प्राप्त कर सकता है। इतिहास बताता है कि डच, फ्रान्सीसी, पुर्तगाली और आंग्ल जाति ने इन विगत तीन चार शताब्दियों में एशिया और अफ्रीका में इन उपनिवेशों और बाजारों की स्थापना के लिये क्या कुकर्म नहीं किया। इंग्लैंड अपने राष्ट्रीय चारित्र्य से स्वतन्त्र व्यापार नीति का पालन करते हुए एक विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य का निर्माण कर सका जिसके लिये जन-साधारण में कहावत प्रचलित रही थी कि 'आंग्ल साम्राज्य इतना विशाल है और विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला हुआ है कि जिसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता।' यह साम्राज्य द्वितीय-विश्व-युद्ध (सन् १९३९-४५ तक) अपने अस्तित्व में रहा और इंग्लैंड विश्व नेता के रूप में प्रतिष्ठित रहा। यद्यपि अब धीरे-धीरे विश्व राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक जीवन में परिवर्तन होने और जन-जागरण के प्रवाह में इंग्लैंड को अपने उपनिवेशों से हटना पड़ा है और उन्हें

राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान करनी पड़ी है परन्तु मूलतः इंग्लैंड का आर्थिक विकास 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' के सिद्धान्त को ब्रह्म वाक्य मानकर हुआ है, इसमें कोई संशय नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के आर्थिक विकास की प्रमुख विशेषतायें

(Main Characteristics of Economic Development of the 19th Century)

उन्नीसवीं शताब्दी फान्सीसी स्वतन्त्र विचारधारा और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की भावनाओं तथा नवीन मशीनी आविष्कारों का प्रतिफल कहा जा सकता है जो इंग्लैंड के द्वारा सम्पादित हुए थे। जहाँ एक ओर फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने राजनीतिक और वैधानिक स्थिति में सुधार का प्रयत्न किया और नवीन जनतन्त्रीय व्यवस्था को जन्म दिया, वहाँ मशीनों की क्रांति ने आर्थिक-जीवन की प्रक्रिया में आमूल परिवर्तन भी उपस्थित किया। अतः यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि इन दोनों महान् परिवर्तनों ने विश्व मानव जाति विशेषतः यूरोप की काया पलट दी। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति (सन् १७८९) और प्रथम विश्व महायुद्ध (सन् १९१४–१९१९ ई०) के मध्य क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। इसके पूर्व सोलहवी शताब्दी में जो परिवर्तन हुए वे प्रमुख रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) भारत की सामुद्रिक मार्ग से खोज।
(२) नई दुनियाँ (अमेरिका) की खोज।
(३) नवीन व्यवसाय और व्यापार का समारम्भ।
(४) यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य नवीन औपनिवेशिक संघर्ष।
(५) नवीन औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धा।
(६) नवीन व्यापारिक जाति का उदय।
(७) पूँजी का संचय और प्रसार।

प्रत्येक शताब्दी अपने नेतृत्व के लिये किसी राष्ट्र की अपेक्षा रखती है। इस रूप में **सोलहवीं शताब्दी** में स्पेन और पुर्तगाल विश्व और यूरोप के प्रथम श्रेणी के राष्ट्र थे। **सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी** में हॉलैंड और फ्रांस क्रमशः प्रथम श्रेणी के राष्ट्र रहे। **उन्नीसवीं शताब्दी** में इंग्लैंड का औद्योगिक, व्यापारिक और साम्राज्यवादी क्षेत्र में सर्वप्रथम स्थान हो गया। जबकि फ्रांस, जर्मनी, सोवियत रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, औद्योगिक प्रगति की दौड़ में इंग्लैंड से एक शताब्दी पीछे रह गये।

इस शताब्दी की आर्थिक विशेषताओं का इंग्लैंड के आर्थिक और औद्योगिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी की पंच-सूत्रीय विशेषताएँ इस प्रकार थीं :—

(१) इस शताब्दी में आवागमन के साधनों की प्रगति और सामयिक रूप से कृषि में क्रांति होना महत्वपूर्ण है। इसी समय कुस्तुन्तुनिया का स्थलीय मार्ग बन्द हो जाने से यूरोप की जातियों ने नई दुनियाँ और भारतवर्ष का सामुद्रिक मार्ग ढूँढ़ निकाला इससे व्यापारिक विस्तार में सहायता मिली। वाष्प-शक्ति के प्रयोग से मनुष्य

और सामान का स्थानान्तरण अधिक सुलभ हो गया। इसी सुविधा के फलस्वरूप विश्व-बाजारों की नींव पड़ी।

(२) मशीनों के आविष्कार से एक नवीन औद्योगिक वर्ग अस्तित्व में आया और इसके साथ-साथ श्रमिक आन्दोलन का भी जन्म हुआ। पुरानी औद्योगिक व्यवस्था में ये दोनों ही वर्ग नहीं थे क्योंकि एक ही व्यक्ति एक ही परिवार के सदस्यों द्वारा अथवा उसी प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्तियों से कुटीर उद्योगों का संचालन करता था। किन्तु मशीन के जन्म ने इस व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया और हमेशा के लिये समाज दो भागों में विभक्त हो गया—श्रमिक वर्ग और पूँजीपति वर्ग।

(३) वैज्ञानिक यातायात के साधनों के विकास से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और यातायात के मार्ग में नवीन परिवर्तन उपस्थित हुए। उससे न केवल व्यापार ही प्रभावित हुआ अपितु सामाजिक व्यवस्था भी प्रभावित हुई। इस सम्बन्ध में गुलामी की प्रथा की समाप्ति और व्यक्तिवाद का प्रचार उल्लेखनीय हैं।

(४) राष्ट्रीय अर्थ-नीतियों का नवीन ढङ्ग से निर्धारण—औद्योगिक क्रांति की इस सदी में राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था भी निम्न स्तर पर संगठित की गई। व्यापार-वाद और निर्बाध व्यापार के स्थान पर आंशिक रूप से सरकार उद्योगों और व्यापारों का संचालन करने लगी।

(५) इस नवीन औद्योगिक व्यवस्था से उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई। मनुष्यों का स्थान मशीनों ने लिया और परिणामस्वरूप उपनिवेशवाद, आर्थिक-साम्राज्यवाद और राजनीतिक-साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। देश की आवश्यकता से अधिक उत्पादन उद्योगपतियों और सरकारों को नवीन बाजार और मन्डियाँ ढूँढ़ने के लिए प्रेरित करता रहा। इसी शताब्दी में फ्रांस की राज्य-क्रांति भी महत्वपूर्ण देन रही है जिसने स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व का नारा बुलन्द किया। एक ओर सामाजिक और राजनीतिक आदर्श के रूप में फ्रांसीसी राज्य-क्रांति जनतन्त्र का जन्म दाता मानी जाती है, वहाँ दूसरी ओर उत्पादन के नवीन ढंगों और आवागमन के साधनों की नवीन व्यवस्था ने नवीन प्रकार की आवश्यकताओं और माँगों को जन्म दिया। मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं ने नवीन रूप प्राप्त किया। इससे पूर्व विश्व के राष्ट्र अलग-अलग राष्ट्रीय सन्दूकों में बन्द थे, वहाँ वे एक दूसरे के सम्पर्क में अधिकाधिक आने लगे और राष्ट्रों की इकाइयों के रूप में एक विश्व-सरकार की कल्पना की जाने लगी।

इन उपर्युक्त विशेषताओं का परिणाम यह हुआ कि नवीन राष्ट्र, नवीन वर्ग नवीन नीतियाँ, नवीन समस्याएँ और नवीन साम्राज्यों ने जन्म लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के तीन अन्य शक्तिशाली राष्ट्र जर्मनी, रूस और संयुक्त-राज्य अमेरिका नवीन आविष्कारों और नवीन विचारों की ही देन हैं।

इस शताब्दी की उपर्युक्त विशेषताओं के निम्नलिखित परिणाम दृष्टिगोचर हुए :—

(१) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्राप्ति और प्रतिबन्धों की समाप्ति—इस शताब्दी में गुलामी की प्रथा और मध्यकालीन सामन्तवादी व्यवस्था समाप्त हो गई। स्वतन्त्रता आन्दोलन ने जन्म लिया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ यूरोप के लिए कृषि-क्रांति और उत्तरी-अमेरिका के लिए गुलामों की मुक्ति से था।

(२) वाष्पचालित यन्त्रों से उत्पादन-विधि सस्ती और सरल हो गई। इसके फलस्वरूप कुटीर-उद्योगों का पतन और कारीगर संघों की समाप्ति हो गई। शहरों का निर्माण, औद्योगिक बस्तियों की स्थापना भी इसी का परिणाम है।

(३) सामुद्रिक यातायात में वाष्पचालित जहाजों का निर्माण और आन्तरिक क्षेत्र में रेलों का विकास वाष्पशक्ति की ही देन थे। इसके फलस्वरूप सुदूरपूर्व के देशों तक यात्राएँ और व्यापार सम्भव हो सका।

(४) नवीन राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों के अपनाने के कारण कृषि, उद्योग, व्यापार, यातायात और उपनिवेशवाद के रूप में नवीन समस्याएँ उत्पन्न हुईं और धीरे-धीरे राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास हुआ।

(५) नव-विकसित राष्ट्र सुदूरपूर्व देशों में अपना आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव स्थापित करना चाहते थे उसी के फलस्वरूप औपनिवेशिक क्षेत्रों में राज्यों के कार्य-कलाप बढ़ने लगे।

(६) कच्चा माल और मन्डी औद्योगिक दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्रों के लिए प्रमुख समस्याएँ थीं।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी ने नवीन ब्रिटिश-साम्राज्य का निर्माण, सोवियत-रूस के एशिया महाद्वीप में बढ़ते हुए चरण, जर्मनी की यूरोप और अफ्रीका में हलचल, फ्रांस का अफ्रीका में साम्राज्य स्थापन, संयुक्त-राज्य अमेरिका के महान् संघ का निर्माण इत्यादि महान् परिवर्तन देखे। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप और विशेषतः इंग्लैंड के लिए महत्वपूर्ण शताब्दी रही है जिसका गौरवमय समय इंग्लैंड की सर्वोच्च औद्योगिक और राजनीतिक सत्ता का प्रतीक रहा है।

अध्याय ३

इङ्गलैंड में मध्यकालीन कृषि :
(मैनोरियल कृषि-पद्धति)
(Manorial System of Agriculture)

मैनोरियल प्रथा का उद्गम तथा विकास

मध्ययुग में इंग्लैण्ड एक कृषि प्रधान देश था। उस समय जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन कृषि था। इस काल में **मैनर** अथवा जागीर (Manor) ग्रामीण संगठन की मान्य इकाई थी। नार्मन विजय से पूर्व भी इंग्लैण्ड में '**मैनोरियल कृषि पद्धति**' का प्रचलन था। मैनोरियल प्रथा के आविर्भाव के बारे में अर्थशास्त्री एक मत नहीं हैं। यह प्रथा इंग्लैण्ड में ही प्रचलित रही ऐसी बात नहीं है वरन् समस्त यूरोप महाद्वीप में प्रचलित रही है और उसके स्वरूप में भी भिन्नता रही है यह कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार मैनोरियल प्रथा **विल (Vill)** का विकसित रूप है जो रोमन साम्राज्य के दिनों में दासों से जोती जाने वाली भूमि को कहते थे। अन्य अर्थशास्त्रियों के अनुसार इसका प्रारम्भ जर्मनी के **मार्क (Mark)** से है जो स्वतन्त्र मनुष्यों को समाज द्वारा अधिकृत बोई गई भूमि का क्षेत्र होता था। आधुनिक काल के अर्थशास्त्री अधिकांश में इस विचारधारा के हैं कि मैनोरियल प्रथा के विकास में रोम और जर्मनी दोनों का ही प्रभाव पड़ा है। यह स्पष्ट है कि नार्मन विजय से पूर्व भी यह प्रथा किसी न किसी रूप में इंग्लैंड के आर्थिक जीवन को प्रभावित करने वाली एक महत्वपूर्ण संस्था रही थी जिसके विकास और आविर्भाव की कहानी अतीत के गर्भ में अस्पष्ट और धुँधली दृष्टिगोचर होती है।

मैनर की परिभाषा

मैनर एक बड़ी भू-सम्पत्ति या जागीर होती थी जिसमें प्रायः एक गाँव और उसके चारों ओर की भूमि सम्मिलित होती थी। प्रायः मैनर के चारों ओर टन नामक झाड़ी की बाड़ होती थी जिससे इसके क्षेत्रफल का पता चलता था। मैनर का एक भू-स्वामी होता था जिसकी भूमि की जुताई मुख्य रूप से उस के दासों या गुलामों द्वारा हुआ करती थी। देश के अधिकांश भागों में मैनोरियल प्रथा के संगठन में समानता पाई जाती थी परन्तु नितान्त एकरूपता नहीं थी।

उस समय प्रत्येक ग्राम में ग्राम-पति, पुरोहित और जनसाधारण के मकान; गिरजाघर और चक्की आदि हुआ करते थे। गाँव में सबसे मुख्य भवन ग्राम-पति-भवन होता था जो साधारण लोगों की कुटियों की अपेक्षा अधिक ठोस बना होता था। ग्राम-पति का भवन इमारती लकड़ी और पत्थर का होता था। इसमें एक से

अधिक मंजिलें और कमरे होते थे जिनमें सबसे बड़े कमरे या हॉल में ग्राम-पति का न्यायालय लगता था। साथ ही कोठे और अन्य कक्ष होते थे। यदि ग्राम-पति मैनर पर होता तो इसी में रहता था और यदि उसके पास एक से अधिक गाँव होते तो उसका मुख्तार इसमें रहता था। जन-साधारण के मकान झोंपड़ी के रूप में पाये जाते थे। उनके छप्पर घास फूँस के बने रहते थे। उनके घर में केवल एक या दो कमरे हुआ करते थे। यदि मैनर और धार्मिक-क्षेत्र एक ही होते, (जैसा प्रायः होता था) तो इसमें एक गिरजाघर होता था जिसके पास पादरी के लिये एक मकान होता था। नाले के किनारे एक पनचक्की होती थी और यदि कोई सुविधाजनक नाला नहीं होता तो पहाड़ी पर वायु चक्की बना दी जाती थी।

मैनोरियल-प्रथा स्वावलम्बन के आदर्श पर आधारित थी। अधिकांश रूप में ग्राम अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ उत्पन्न कर लेता था। यद्यपि पूर्ण स्वावलम्बन की प्राप्ति कभी नहीं होती थी परन्तु वाह्य व्यापार अवांछनीय माना जाता था।

मैनोरियल भूमि पर उत्पादित गेहूँ या अनाज ग्राम-पति की चक्की पर ही पीसा जाता था। जौ को भिगोकर गाँव में ही शराब बनाई जाती थी। गाय और बकरी का माँस, दूध और अण्डे भी गाँव में ही उपलब्ध किये जाते थे। रेशमी कपड़े, रुई के धागे, लोहे इस्पात और छोटे शस्त्र बाहर से मँगाने पड़ते थे। इन बाहर से मँगाई जाने वाली वस्तुओं के बदले में गाँव को अतिरिक्त उत्पादन देना पड़ता था। साथ ही यदि पास के नगर अपनी आवश्यकता का अनाज पैदा नहीं कर सकते थे तो अनाज की पूर्ति भी गाँव को करनी पड़ती थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ग्राम आत्म-निर्भरता को प्राप्त थे और स्वावलम्बन आर्थिक जीवन की आधारशिला थी।

भूमि का विभाजन

मैनर गाँव की भूमि को दो भागों में बाँटा जाता था, उदाहरणार्थ हवाला या स्वामी की भूमि और अन्य भूमि जो दासों को दी जाती थी। दासों का भूमि पर कोई अधिकार नहीं होता था। उनको भूमि देने का रिवाज था और वैधानिक दृष्टि से उनकी भूमि का स्वामित्व ग्राम-पति के हाथों में होता था। वह उनको बेदखल कर सकता था। यद्यपि वैसा करना आर्थिक-दृष्टि से स्वयं उसके हित में नहीं था। क्योंकि दास लोग ही हवाले की भूमि पर कार्य करते थे। मैनर को भूमि के विभिन्न उपयोग होते थे। खेती योग्य भूमि बड़ी महत्वपूर्ण थी इसके दो या तीन बड़े खेत होते थे।

प्रत्येक खेत को चौड़ी पाटियों में बाँट दिया जाता था जिनको **फर्लाङ्ग शाट या प्लैट** आदि नामों से पुकारा जाता था।

गाँवों में तीन प्रकार की भूमि पाई जाती थी—खेती योग्य भूमि, चरागाह और परती। इसके अतिरिक्त घास स भरी हुई भूमि भी हुआ करती थी। कृषि योग्य भूमि पर खुले मैदान की प्रथा के अनुसार (Open field System) कृषि की जाती थी। चरागाह का प्रयोग जनसाधारण कर सकते थे। चरागाह पर चराने का अधिकार, कृषि-भूमि की मात्रा, पशुओं की संख्या, व्यवहार और प्रथा के आधार पर निश्चित की जाती थी। परती भूमि का प्रयोग भी पशुओं का चराने के लिये हुआ करता था। इस भूमि से मकान बनाने के लिए लकड़ी और ईंधन भी प्राप्त किया

जाता था। मेड़ों पर जानवरों का रखना मना था। इससे चारा काट लिया जाता और शीतकाल में ग्रामवासियों के पशुओं की संख्या के अनुसार इस चारे के कुछ अंश का वितरण किया जाता था। मेड़ों से चारा कट जाने के बाद जनसाधारण के पशु भी उसमें चर सकते थे।

अधिकार की दृष्टि से भी ग्रामों की भूमि को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—**डिमीन (Demesne)** कृषि दासों की भूमि और स्वतन्त्र व्यक्तियों की भूमि। ग्राम-पति की भूमि को **डिमीन** कहा जाता था। ग्राम की सारी भूमि का १/३ भाग **डिमीन** भूमि हुआ करता था। कृषि दासों को भूमि (Unfree land) पर वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं था उन्हें ग्राम-पति की अनुकम्पा पर ही अवलम्बित रहना पड़ता था। स्वतन्त्र व्यक्तियों की भूमि पर ग्राम-पति का बहुत कम अधिकार हुआ करता था।

मैनर के निवासियों का वर्गीकरण

मैनर में रहने वाली जनता को स्वतन्त्र और परतंत्र दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। **परतन्त्र वर्ग (Unfree)** के मनुष्यों की संख्या अधिक होती थी। **डूम्सडे बुक** में दी हुई सूचना से पता चलता है कि इसके संकलन के समय ग्रामीण जनता का ७० प्रतिशत भाग दास था जिसमें ३८ प्रतिशत **आसामी (Villein)** और ३२% हाली या **कुटीरवासी (Bondars or Cottars)** थे। **स्वतन्त्र व्यक्तियों** में ग्राम-पति, उसका मुख्तार, गाँव का पुजारी और अनेक स्वतन्त्र मनुष्य होते थे। परतन्त्र व्यक्तियों का आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वर्ग था क्योंकि गाँव की भूमि पर श्रम की पूर्ति अधिकांश में वे ही करते थे। अपने खेतों के अतिरिक्त ग्राम-पति की भूमि पर भी कार्य करते थे।

आसामी के कार्य व स्थिति—आसामी के पास खुले खेतों में प्रायः ३० एकड़ भूमि होती थी। अर्द्ध-आसामी के पास १५ एकड़ होती थी। हालियों या कुटीर-वासियों के पास एक से पाँच एकड़ भूमि होती थी। आसामी को अपने स्वामी की परम्परागत सेवायें करनी पड़ती थीं। स्वामी की भूमि पर सप्ताह में दो या तीन दिन काम करना पड़ता था। प्रति सप्ताह काम के दिनों की संख्या अलग-अलग होती थी। साधारणतया यह संख्या तीन तक सीमित थी यद्यपि यूरोप महाद्वीप में इस प्रकार के उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ दासों को स्वामी की भूमि पर ६ दिन भी काम करना पड़ता था। आसामी से हल चलाने, बीज बाँटने, गाड़ी चलाने, लकड़ी काटने, भेड़ों को धोने या ऊन कतरने, बाड़ की मरम्मत करने या इसी प्रकार खेती से सम्बन्धित कार्य लिया जा सकता था।

उपहार-दिवस पर आसामी की पत्नी के सिवाय उसके परिवार के सब सदस्यों को स्वामी की भूमि पर उपस्थित होना पड़ता था। उपहार-श्रमिकों को भोजन स्वामी की ओर से दिया जाता था। इसके अतिरिक्त आसामी को अपने काम से छुड़ाकर गाड़ी हाँकने के लिये भी बुलाया जा सकता था परन्तु इसकी मात्रा और उपहार-दिवसों की संख्या परम्परा से निश्चित होती थी। आसामी को जिन्स या मुद्रा में स्वामी को कुछ देना पड़ता था—**मिचेलमस (Michaelmas)** पर एक कल-हस और **इस्टर (Easter)** पर अंडे इत्यादि।

आसामी स्वामी की आज्ञा के बिना गाँव छोड़ कर नहीं जा सकता था। यदि वह किसी कारण गाँव को छोड़कर अन्यत्र रहता तो सेवायें अर्पित करते रहने पर भी उसको स्वामी की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी और इसके लिये **चेवेज (Chevage)** (प्रवास दण्ड) देना पड़ता था। उसको अपना अनाज गाँव की चक्की पर ही पिसाना पड़ता था। स्वामी की अनुमति के बिना आसामी बैल और घोड़ा नहीं बेच सकता था। न वह और उसका पुत्र पढ़ ही सकते थे। आसामी की पुत्री के विवाह पर विवाह-दण्ड (Merchet) चुकाना पड़ता था। आसामी की मृत्यु पर जुर्माना चुकाये बिना पुत्र उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था और न हेरियट (Heriot) चुकाये बिना अन्य सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता था। आसामी अपने स्वामी पर सम्राट के न्यायालय में अभियोग नहीं चला सकता था।

हाली या कुटीरवासी की स्थिति व कार्य—हाली या कुटीरवासी आर्थिक स्थिति में आसामी से नीचे होते थे। उनके पास न बैल होते थे और न हल ही। उनके पास आसामियों की अपेक्षा कम भूमि होती थी। उनको सप्ताह में केवल एक दिन स्वामी के लिए काम करना पड़ता था (प्रायः सोमवार को) अतः उन्हें सोमवारी आदमी (Monday man) कहा जाता था। कृषि भूमि की कमी के कारण उनको दूसरों की जमीन भूमि पर काम करके मजदूरी कमानी पड़ती थी, जिससे उसकी आय में वृद्धि हो सके। इनके अतिरिक्त शिल्पी, बढ़ई, पहिया बनाने वाला, लुहार और दूसरे श्रमिक इसी वर्ग में से आते थे। ये लोग जनता की सेवा करते थे और उसके बदले उनको अन्न दिया जाता था। जितने प्रकार के प्रतिबन्ध आसामियों पर थे उतने ही प्रकार के प्रतिबन्ध इन पर भी लगे हुए थे।

स्वतन्त्र निवासियों की स्थिति—स्वतन्त्र वर्ग के लोग प्रजाजनों से ऊँचे थे क्योंकि प्रजाजनों को स्वामी की अनुमति के बिना भूमि बेचने का अधिकार नहीं था और वे स्वामी के न्यायालयों में उसके अधीन थे जबकि स्वतन्त्र मानवों को इन बातों में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। स्वतन्त्र मनुष्यों को अपनी भूमि के लिए स्वामी को लगान देना पड़ता था। यह लगान मुद्रा, वस्तु या श्रम में हो सकता था। उन पर आसामियों की भाँति दंड भी किया जा सकता था और उत्तराधिकार के समय **हेरियट** (उत्तराधिकार-कर) भी लिया जा सकता था। इसलिए दासों और स्वतन्त्र मनुष्यों में अन्तर बतलाना कठिन है परन्तु यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र मनुष्य अपना खेत और मैनर छोड़ सकते थे, स्वामी पर अभियोग लगा या चला सकते थे और साधारणतः उन्हें विवाह-दंड (Merchet) नहीं देना पड़ता था। इस रूप में यह कहना उचित होगा कि सम्पन्न आसामियों और स्वतन्त्र मनुष्यों की आर्थिक स्थिति समान थी।

मैनर का प्रशासन

ग्राम-पति के कामदार द्वारा वर्ष में दो या तीन बार या कभी-कभी और अधिक बार न्यायालय लगाए जाते थे और भूस्वामी के अधीन सब लोगों को इसमें उपस्थित रहना पड़ता था। इसमें छोटे अपराधों के लिए सजा दी जाती थी। भूमि का हस्तान्तरण और उत्तराधिकार न्यायालय की पंजी में लिखे जाते थे। कर्तव्य की उपेक्षा करने और रिवाज को तोड़ने वालों पर जुर्माने किये जाते थे। इन न्यायालयों के निर्णय मैनर के रिवाजों पर आधारित थे।

मैनोरियल प्रणाली में कृषि-पद्धति

आरम्भ में ग्रामों में दो खेतों की पद्धति (Two Field System) के अनुसार कृषि होती थी। इस पद्धति के अनुसार एक खेत प्रति वर्ष परती छोड़ दिया जाता था। कालान्तर में तीन-खेतों की पद्धति (Three Field) ने इसका स्थान ले लिया। इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष दो खेतों पर कृषि की जाती थी और एक परती रखा जाता था, त्रिवर्षीय चक्र में प्रत्येक खेत को एक वर्ष का विश्राम मिल जाता था। पहले, दूसरे और तीसरे वर्ष फसलों के बोने का क्रम इस प्रकार रहता था :—

वर्ष	प्रथम खेत	द्वितीय खेत	तृतीय खेत
प्रथम वर्ष	गेहूँ	जौ	परती छोड़ा गया
द्वितीय वर्ष	जौ	परती छोड़ा गया	गेहूँ
तृतीय वर्ष	परती छोड़ा गया	गेहूँ	जौ

फसल कट जाने के बाद उनमें ग्राम जनता के पशु चरा करते थे। ग्राम में उत्पादन, बोआई और कटाई का समय व्यवहार और परम्परा के आधार पर निश्चित होता था। व्यवहार को नहीं मानने वाले को दंड दिया जाता था। डिमीन भूमि पर आसामी द्वारा कृषि की जाती थी। ग्राम-पति के न रहने पर आसामी उनके अनाज को बेच भी सकता था।

कृषि-कार्य का सबसे अधिक कठिन और महत्वपूर्ण अंग हल चलाना था। बड़ा हल आठ बैलों और छोटा हल चार बैलों द्वारा खींचा जाता था। नई भूमि की जुताई के लिए प्रायः बड़े हल का प्रयोग होता था। पुरानी भूमि पर छोटे हल का प्रयोग होता था। उस समय खाद का बहुत कम प्रयोग होता था। पुराने हल द्वारा खेत की जुताई होती थी और हँसिया द्वारा खेत की कटाई होती थी। अनुसन्धान केन्द्रों का अभाव था। खेत खुले होते थे। कृषि भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी रहती थी। सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध नहीं था। उस समय औसत उत्पादन ६ से ८ बुशल प्रति एकड़ हुआ करता था।

पशु

आज की पशु-शालाओं के पशुओं की तुलना में मैनर के पशु छोटे और निकृष्ट थे। कुपोषण, छुआछूत के रोगों के दूर के करने प्रयत्न और नस्ल-सुधार के अभाव में सुधार रुका हुआ था। बैलों का मूल्यांकन उनकी भार ढोने की शक्ति से किया जाता था। भेड़ों में खुट्टी रोग पाया जाता था और स्वस्थ भेड़ एक से डेढ़ पौण्ड तक ऊन देती थी। सुअर और मुर्गे-मुर्गियों की बहुतायत थी।

प्रशासन

मैनर का प्रबन्ध मुख्तार (Bailiff) के हाथों में था। मुख्तार को दासों के उत्तरदायित्व को निभवाने के कार्य में गाँव का सहना (Reeve) और बीड़ का सहना (Hay Ward) सहायता करते थे। ये आसामी श्रेणी के व्यक्ति होते थे जिनको हल्के कार्यों से छुट्टी मिल जाती थी जिससे वे निरीक्षण कार्य में मुख्तार के साथ काम कर सकें। गाँव का सहना सप्ताह-कार्य में लगे हुए दासों पर नियंत्रण रखता था और बीड़ का सहना उपहार-कार्य पर ध्यान देता था और वनों एवं चरागाहों का प्रबन्ध

करता था। मुख्तार को हिसाब रखना पड़ता था और समय पर जब स्वामी का कामदार मैनर का दौरा करता था तो कामदार के निरीक्षण के लिए अपनी बहियाँ उसके सम्मुख रखनी पड़ती थी।

मैनोरियल प्रथा की विशेषताएँ (Salient Features of Manorial System)

मैनोरियल प्रथा के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मध्यकालीन इंग्लैंड की आर्थिक-व्यवस्था में यह प्रथा महत्वपूर्ण रही है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :-

(१) यह प्रथा कृषि व्यवस्था की सार्वभौमिक व्यवस्था के रूप में सर्वमान्य थी और सारे देश में व्याप्त थी।

(२) मैनोरियल प्रथा के संगठन और कार्य-प्रणाली में बहुत समानता थी। रिवाज और परम्पराएँ भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न होते हुए भी मैनर के संगठन की मुख्य-मुख्य बातों में सर्वत्र समानता थी।

(३) मैनोरियल लॉर्ड या स्वामी को अपने निवासियों पर निश्चित अधिकार प्राप्त थे।

(४) कृषि खुले खेतों की पद्धति के अनुसार की जाती थी।

(५) कृषि जीविका प्राप्ति के लिए की जाती थी न कि विनिमय या विक्रय के लिये। यद्यपि उत्तर मध्यकाल में उत्पत्ति का कुछ भाग बेचा जाता था।

(६) मैनोरियल कृषि-व्यवस्था स्वावलम्बन और आत्म-निर्भरता के आदर्श पर आधारित थी। उसे न्यूनाधिक रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न सर्वत्र किया जाता था।

(७) परम्परा या रीति-रिवाज इस व्यवस्था की रीढ़ थी।

(८) इस पद्धति के अन्तर्गत भू-स्वामी के हवाले पर दासों के श्रम से खेती की जाती थी। जब तक यह व्यवस्था चलती रही तब तक मैनोरियल प्रथा अस्तित्व में रही और जब कृषि की यह प्रणाली समाप्त होने लगी तो मैनोरियल प्रथा का भी अन्त हो गया।

इन विशेषताओं के रहते हुए भी मैनोरियल-प्रथा में कुछ मूलभूत दोष थे। रिवाज द्वारा नियंत्रित सामुदायिक कृषि से बुद्धिमान और साहसी आदमियों द्वारा प्रयोग करने में रुकावट पड़ती थी। सबको परम्परा और रिवाजों के अनुसार काम करना पड़ता था। इसमें सुधार असंभव था। भूमि घास-फूस से साफ नहीं की जा सकती थी। सीमा सम्बन्धी झगड़े हुआ करते थे। श्रम-विभाजन कठिन था। कृषि-दासों के ऊपर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे। इस समय स्पर्द्धा और प्रसंविदा का अभाव था इतना सब कुछ होने पर भी यह पद्धति समय की आवश्यकताओं के अनुकूल थी।

मैनोरियल-प्रथा के पतन के कारण (Causes of Decay of Manorial System)

मध्यकालीन इंग्लैंड की महत्वपूर्ण कृषि संस्था के रूप में मैनोरियल प्रथा का प्रभाव औद्योगिक-क्रांति से पूर्व धीरे-धीरे कम होने लगा। मैनोरियल प्रथा के इस गिरते हुए प्रभाव और पतन के निम्नलिखित मुख्य कारण थे :—

(१) **जनसंख्या में वृद्धि**—मैनोरियल प्रथा (जो स्वाभाविक रूप में अविकसित समाज और समय के लिये उपयोगी थी) ब्रिटिश-समाज के आर्थिक-विकास के साथ ही समाप्त होने लगी। जनसंख्या की वृद्धि इसके पतन के कारणों में एक प्रधान कारण रहा है। यह अनुमान लगाया गया है कि इंग्लैंड की जनसंख्या ११ वीं शताब्दी में १०-१५ लाख से बढ़ कर १४ वीं शताब्दी में ४० लाख तक पहुँच गई। इस बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य-पूर्ति के लिए कृषि का क्षेत्र विस्तृत किया गया और इसमें परती भूमि को भी सम्मिलित किया गया। इस नवीन कृषि-क्षेत्र को चकों के रूप में रखा गया और चारों ओर बाड़ें लगाई गईं। ये सुधार मैनोरियल प्रथा के मूल-भूत तत्वों पर प्रहार थे जिससे उस प्रथा के पतन में सहायता मिली।

(२) **मुद्रा का आविर्भाव**—द्वितीय महत्वपूर्ण परिवर्तन कृषि करने की मूल भावना में परिवर्तन था। इस समय कृषि द्वारा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अन्न प्राप्त करना ही लक्ष्य था। किन्तु मुद्रा के आविर्भाव और शहरों की अभिवृद्धि ने अतिरिक्त कृषि उत्पादन के लिये बाजार उत्पन्न किए। मैनर और शहरों में व्यापार बढ़ता गया। इस व्यापार-वृद्धि से अतिरिक्त उत्पादन को प्रोत्साहन मिला क्योंकि उससे मुद्रा की प्राप्ति होती थी। यह अनुमान लगाया गया है कि १२ वीं से १३ वीं शताब्दी में प्रति एकड़ गेहूँ उत्पादन में डेढ़ गुनी वृद्धि हुई। कृषि-पदार्थों में व्यापार ने नवीन संभावनाओं का उदय किया और मैनोरियल प्रथा की समाप्ति को अनिवार्य बना दिया।

(३) **अन्तर्बर्तन (Commutation)**—मुद्रा आर्थिक-जीवन का स्फुरण-बिन्दु है। व्यक्ति इसके लिये अधिकाधिक कार्य करने का प्रयत्न करता है। मैनर में मुद्रा का आविर्भाव शहरों की अभिवृद्धि और व्यापार के विकास से हुआ, फलस्वरूप मैनोरियल प्रथा का मूलभूत आधार हिल उठा। सेवाओं को मुद्रा के रूप में चुकाया जाने लगा। दासों और आसामियों द्वारा स्वामी की भूमि पर सेवाएं प्रदान करना ही मैनोरियल प्रथा का मुख्य आधार था, उसके स्थान पर मुद्रा लगान के रूप में दी जाने से मैनर की समाप्ति होने लगी। मैनर भू-स्वामियों को मुद्रा की आवश्यकता राजनीतिक कारणों से थी। इन स्वामियों को किला-बंदी और धार्मिक-युद्धों में सहायता अनिवार्य सा लगता था, अपने आमोद और विकास के लिये भी मुद्रा की आवश्यकता थी। प्रारम्भ में मुद्रा-सेवा के लाभ अनुभव नहीं किए गए परन्तु १३ और १४ वीं शताब्दी और विशेषतः 'काली-मृत्यु' के बाद ये अधिक अनुभव किये गये।

(४) **श्रमिक वर्ग का उदय**—मुद्रा सेवा तभी संभव थी जबकि एक स्वतन्त्र श्रमिक वर्ग का उदय होता। मैनर क्षेत्र के अन्तर्गत कुटीरवासी और हालियों की महत्वपूर्ण स्थिति का वर्णन यह स्पष्ट करता है कि भू-स्वामियों ने सर्वप्रथम मुद्रा-सेवा के रूप में कुटीरवासियों को स्वतन्त्रता प्रदान की। इस प्रकार श्रमिक वर्ग के उदय ने आसामियों को भी प्रेरणा दी। मुद्रा की प्राप्ति से मालिक या स्वामी श्रम नियोजित कर सकते थे।

(५) **डिमीन का विघटन**—मैनोरियल प्रथा की समाप्ति में डिमीन का विघटन भी एक प्रधान कारण था क्योंकि डिमीन भूमि की जुताई, बुआई के लिये ही तो यह सारा आधार बनाया गया, परन्तु जब मालिकों ने यह देखा कि वे अपनी आवश्यकता का अनाज खरीद सकते हैं, साथ ही मजदूरी की दर भी बढ़ रही है तो डिमीन भूमि की कृषि स्वयं पर ही निर्भर मान ली गई। स्वामी उन काश्तकारों

को भूमि पट्टों पर उठाने लगे जो कि लगान दे सकें। जिन मैनर क्षेत्रों में पशुओं का अभाव था, वहाँ पशु भी पट्टों पर उठाये जाने लगे। काश्तकार भूमि और पशुओं के लिये लगान देने लगे। इस प्रकार डिमीन का विघटन १३ वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ और १४ वीं तथा १५ वीं शताब्दी में वृद्धि पाता गया।

(६) **"काली-मृत्यु" (Black Death)**—सन् १३४८-४९ की 'काली-मृत्यु' के अस्थाई रूप से रुक जाने तक दासत्व से मुक्ति की प्रवृत्ति बराबर चलती रही। मध्य-युग में इंग्लैंड में बहुधा प्लेग पड़ा करते थे। चौदहवीं शताब्दी में अनेक बार गम्भीर प्लेग पड़े, विशेषतः १३४८-४९ में, १३६१-६२ में और १३६८-६९ में एवं १३७०, १३८१-८२ और १३९६ में अन्य महामारियाँ फैलीं। सन् १३४९ के प्लेग को **काली-मृत्यु** कहते थे। इसका आरम्भ १३३३ के लगभग चीन में हुआ बतलाते हैं। लगभग १३४५ में यह एशिया-माइनर में प्रगट हुआ और १३४७ में इटली में, १३४८ में फ्रांस में और १३४९ के शरत्काल में इंग्लैंड में फैल गया। इससे असाधारणतः अधिक मौतें हुई। मध्यकालीन कथा-लेखकों की अतिशयोक्ति का पूरा ध्यान रखते हुए और केवल निश्चित ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि देश की लगभग एक-तिहाई जन-संख्या काल कवलित हो गई।

काली-मृत्यु का तात्कालिक परिणाम श्रम के अभाव में दृष्टिगोचर हुआ। इससे फसलें खेतों पर सड़ गईं और भूमि खाली पड़ी रही। भू-स्वामी मजदूरों को प्राप्त करने में हैरान हो गये। कई आसामियों की मृत्यु से डिमीन भूमि का क्षेत्र तो बढ़ गया किन्तु कृषि-सेवाएँ देने वालों का अभाव हो गया। इस अल्पकाल में मजदूरी में ५० प्रतिशत वृद्धि हुई। आसामी अपनी सेवाएँ देने को इच्छुक नहीं थे क्योंकि उनके परिवारों में सदस्यों की संख्या प्लेग के फलस्वरूप कम हो गई थी, आसामी आर्थिक मुक्ति चाहते थे, श्रमिक ऊँची मजदूरी की माँग कर रहे थे और भू-स्वामी पुराने ढंग को व्यवस्थित रखना चाहते थे। परिस्थितियाँ भू-स्वामी के विपरीत थीं, श्रम के अभाव में वह नये आसामियों का स्वागत करने को तैयार था। अतः आसामी अन्यत्र जाकर अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने में प्रयत्नशील थे। वह पट्टे पर भूमि लेकर स्वतन्त्र हो सकते थे।

(७) **श्रमिक अधिनियम**—इंग्लैंड के सम्राट ने सन् १३४९ और १३५९ में श्रमिक-अधिनियम स्वीकृत किये जिसमें शारीरिक दृष्टि से योग्य व्यक्तियों को पुराने स्तर पर भुगतान लेकर सेवाएँ देना अनिवार्य कर दिया गया। अधिनियमों को सारे देश में लागू किया गया। अधिनियम का पालन मैनोरियल-स्वामियों पर निर्भर करता था। आर्थिक शक्तियों के प्रभाव में अधिनियम असफल हो गये।

(८) **किसान-विद्रोह**—काली-मृत्यु के साथ ही १३८१ में किसानों का विद्रोह भड़क उठा। यद्यपि इस किसान-विद्रोह का दृष्टिकोण सम्राट के कुछ सलाहकारों (विशेषतौर से जोन ऑफ गान्ट) को हटाना था, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इसने किसानों के असन्तोष को प्रकट किया। इस विद्रोह के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) भू-स्वामियों द्वारा विनिमय प्रदान करने की अनिच्छा के प्रति आसामियों में क्रोध। आसामी अपनी सेवाओं के मूल्य के विषय में अधिकाधिक जागरूक और अपने बोझों के प्रति अधिकाधिक असन्तुष्ट होते जा रहे थे।

(२) श्रमिकों के अधिनियमों द्वारा मजदूरी में वृद्धि रोकने के प्रयत्नों के प्रति श्रमिकों में असन्तोष।

(३) नगरों में श्रेणियों की नीति के प्रति प्रशिक्षित श्रमिकों में असन्तोष।

(४) प्रति पुरुष पीछे कर का लगाया जाना अलोकप्रिय था।

(५) युद्ध में सफलता के अभाव और जॉन ऑफ गान्ट की अलोकप्रियता से उत्पन्न राजनीतिक असन्तोष।

(६) इस प्रणाली के अन्त होने का एक कारण यह भी था कि इस प्रणाली के प्रचलन के दिनों में जमींदार को अपनी जमींदारी के निवासियों के मुकद्दमों का फैसला करने की शक्ति होती थी और वह या उसका कारिंदा बीच-बीच में कचहरी लगाते थे। गुलाम किसान और आसामी इनके अधिकार क्षेत्र में थे। जमींदार को अदालत लगाने से आर्थिक लाभ होता था। ज्यों-ज्यों गुलाम किसान स्वतन्त्रता की ओर बढ़े, त्यों-त्यों ये लाभ कम होते गए। भूमि सम्बन्धी रूढ़ियों को तोड़ने के मामले कम होते गए फलतः वसूल किए जाने वाले जुर्मानों की राशि कम होती गई जिससे अदालत लगाने के अधिकार का महत्व घट गया।

इस प्रकार १५ वीं शताब्दी के अन्त तक मध्यकालीन मैनोरियल-प्रथा की समाप्ति हो गई थी। यद्यपि खुले खेतों में कृषि की जाती थी, परन्तु आसामी और गुलाम किसान नहीं रहे, उनका स्थान मजदूरी लेकर काम करने वाले मजदूरों ने ले लिया। बाड़ों से घिरे हुए खेतों का निर्माण होने लगा और कुछ जगह कृषि को छोड़ चरागाह बना दिए गए। मुद्रा और अधिकोषण के विकास ने जीवन की आर्थिक आवश्यकताओं के क्षेत्र को नवीन मोड़ दिया। व्यापार और प्रतिस्पर्द्धा ने आत्म-निर्भरता और स्वावलम्बन का स्थान ले लिया था। इस प्रकार मैनोरियल प्रथा की समाप्ति ने कृषि-क्रान्ति के लिए भूमिका तैयार करदी।

कृषि-क्रान्ति
(Agricultural Revolution)

अध्याय ४

मध्य युग से वर्तमान काल तक ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में इतने अधिक महत्व-पूर्ण परिवर्तन हुए हैं कि उनको कृषि में क्रांति की उपमा दी जाती है। मध्य युग की समाप्ति पर सामुदायिक भावना का स्थान व्यक्तिवाद ने लिया। श्रेणियाँ और स्वामि-भूमियाँ समाप्त हुईं, प्रोटेस्टेन्ट विचारधारा ने चर्च के अधिकार को चुनौती दी। मनुष्य स्वयं विचारने और कार्य करने लगे। वे एक संगठन की इकाई के रूप में दूसरों के साथ-साथ अपने और अपने से भी अधिक दूसरे के लिए कार्य करने में सन्तुष्ट नहीं रहे। स्वार्थ की भावना ने जोर पकड़ा। सहकारिता का स्थान प्रति-स्पर्द्धा ने ले लिया। रिवाज का स्थान वाणिज्यवाद ने लिया। मध्य युग में कृषि जीवन-निर्वाह के लिए की जाती थी। किन्तु १६ वीं शताब्दी से यह लाभ कमाने के लिए की जाने लगी।

यद्यपि १६ वीं शताब्दी से ही घेराबन्दी (Enclosure) आन्दोलन आरम्भ हो चुका था परन्तु बहुत धीरे-धीरे यह प्रगति कर सका। १७५० के बाद से घेराबन्दी आन्दोलन बहुत तेजी से प्रगति कर सका है। इसी समय और उसके बाद से कृषि के क्षेत्र में बहुत-सी उन्नति हुई थी। भूमि-व्यवस्था, कृषि-प्रणाली और पशुओं के नस्ल में भी सुधार हुआ था। कृषि क्रांति की विशेषताएं इस प्रकार हैं :—

(१) घेरा-बन्दी आन्दोलन बड़ी तेजी से प्रगति कर सका। कृषि के खुले खेतों की व्यवस्था (जो व्यक्तिवादी तथा सामूहिक अर्थ-व्यवस्था का सम्मिश्रण थी) समाप्त हो गई। सन् १८३६ में एक घेराबन्दी अधिनियम स्वीकृत हुआ जिसके अन्तर्गत सार्व-जनिक भू-भागों को घेरने की बहुत सुविधा हो गई। सन् १८४५ में घेराबन्दी-आयुक्तों की एक समिति का निर्माण किया गया। आयुक्त प्रत्येक ग्राम में जाकर भूमि को काटने तथा पुनः वितरण के कार्य का निरीक्षण करते थे। धीरे-धीरे चरागाह को भी घेरा जाने लगा। घेराबन्दी आन्दोलन के समर्थकों में आदम स्मिथ का नाम लिया जा सकता है। घेराबन्दी आन्दोलन के फलस्वरूप १७६०-१८४६ ई० तक की अवधि में ८० लाख एकड़ भूमि ली गई।

(२) गाँवों की अधिकतर भूमि छोटे-छोटे भूमिपति से और किसानों के हाथों से निकलकर जमींदारों के हाथ में आने लगी और बड़े-बड़े फार्म खुलने लगे। एक प्रकार से छोटे भूमिपतियों का वर्ग ही समाप्त हो गया। बड़े किसान और बड़े हो गए और छोटे किसान बिल्कुल भूमिहीन बन गए। उन लोगों ने अपनी भूमि

बड़े भूमिपतियों के हाथ बेच डाली। बड़े किसानों और जमींदारों के लिए उत्तम बीज, उत्तम यन्त्र और उत्तम पशु का प्रबन्ध करना सरल था। परन्तु ये सुविधा छोटे किसानों को उपलब्ध नहीं थी।

(३) छोटे किसान भूमिहीन बनकर या तो बड़े-बड़े जमींदारों के दास बन गए या शहरों में जाकर कल-कारखानों में श्रमिक की तरह काम करने लगे। इस प्रकार एक नए श्रमिक वर्ग का जन्म हुआ।

(४) बड़े पैमाने पर सुधार की संभावना बड़े पैमाने की कृषि से अधिक स्पष्ट प्रतीत हुई।

(५) घेराबन्दी-आन्दोलन के फलस्वरूप छोटे किसानों को कठिनाई का सामना करना पड़ा। भूमि के घिर जाने से उन लोगों को पशुओं को चराने तथा ईंधन का कष्ट होने लगा। कोयला अधिक मँहगा होने के कारण छोटे किसान की पहुँच के बाहर था। ईंधन की लकड़ी और चारा उन्हें खरीदना पड़ने लगा। इससे उनकी आर्थिक-दशा और भी खराब होने लगी।

(६) पहले छोटे-छोटे आकार पर तीन-खेत की प्रथा के आधार पर कृषि होती थी जिससे प्रत्येक वर्ष कृषि योग्य भूमि का एक तिहाई भाग परती ही रह जाता था। अब भूमि का कुछ ही जमींदारों के हाथों में विकेन्द्रीकरण हो जाने और खेतों के घिर जाने के कारण बड़े-बड़े फार्म स्थापित हो गए जिनमें नए ढंग से कृषि होने लगी। कृषि अब पूँजीवादी आधार पर की जाने लगी।

(७) आवर्तन (Rotation) कृषि का नया तरीका निकला जिसके अनुसार प्रत्येक चार वर्ष में क्रमशः गेहूँ, जौ, तीन पत्ती घास तथा राई उत्पन्न की जाने लगी। भूमि की उर्वरा-शक्ति को बढ़ाने तथा चार प्राप्त करने के लिए शलजम की खेती भी बड़े पैमाने पर होने लगी।

(८) कृषि-कला में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। बीज बोने, खेत जोतने और खेत काटने के लिए नए-नए यन्त्रों का आविष्कार हुआ।

(९) पशु नस्ल में भी सुधार के प्रयत्न किए गए जिससे अब पशु स्वस्थ और बलिष्ट होने लगे।

(१०) पशु-प्रदर्शनियों कृषक-गोष्ठियों, कृषि-समितियों, कृषि-विद्यालयों और रसायनशालाओं की स्थापना होने लगी। सन् १८३८ में शाही कृषि समिति की स्थापना हुई और १८४८ में कृषि-रसायनशाला स्थापित की गई।

(११) कृषि को सरकारी सहायता और समर्थन प्राप्त होने लगा। संसद में भूमिपतियों का अधिक प्रभाव होने के कारण एक ओर तो भूमि का राजनीतिक महत्व बढ़ गया और दूसरी ओर सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया।

(१२) दलदल भूमि को भी ठीक करके कृषि योग्य बनाने के प्रयत्न किए जाने लगे।

(१३) कृषि-उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई।

इससे पूर्व कि हम कृषि-क्रांति के अन्तर्गत होने वाली क्रांतिकारी प्रणालियों का वर्णन करें। हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम घेराबन्दी आन्दोलन का वर्णन करें जिसने कृषि-क्रांति के लिये पृष्ठ-भूमि का कार्य किया है।

घेराबन्दी या समावरण आन्दोलन : एक ऐतिहासिक विवेचन
(Enclosure Movement)

इंग्लैंड के इतिहास में मैनोरियल प्रथा की समाप्ति के पश्चात् कृषि-व्यवस्था में एक परिवर्तन हुआ जिसे कभी-कभी समावरण आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। इस आन्दोलन का ऐतिहासिक रूप से अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि वैसे तो यह आन्दोलन मैनोरियल कृषि-पद्धति के अन्तर्गत भी विद्यमान था, परन्तु प्रकट रूप में उस ओर कोई प्रगति नहीं हुई थी क्योंकि मैनोरियल भू-स्वामी पद्धति के अन्तर्गत कृषि कार्य का सम्पादन लाभदायक समझा जाता रहा। सन् १२३५ का **मेरटन अधिनियम (Statute of Merton)** वह ऐतिहासिक प्रमाण है जिसके अन्तर्गत मैनोरियल भू-स्वामी को चरागाह के लिये भूमि छोड़कर समावृत खेतों का अधिकार दिया गया था। इससे स्पष्ट है कि समावरण आन्दोलन की प्रवृत्ति बहुत पहले से ही विद्यमान थी। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में इस प्रवृत्ति ने अधिक जोर पकड़ा क्योंकि यह समय मैनोरियल प्रथा की समाप्ति और काली मौत के आविर्भाव का समय था।

इस समय तीन प्रकार की काश्तकारी-प्रथा अस्तित्व में थी :—

(१) स्वतन्त्र काश्तकार (Free holder),
(२) परम्परागत काश्तकार (Copy or customary holder),
(३) पट्टेदार (Lease holder)।

इनके अन्तर्गत प्रथम श्रेणी के काश्तकार को इंग्लैंड के कॉमन-लॉ (Common-Law) के अन्तर्गत संरक्षण प्राप्त था जिसके फलस्वरूप काश्तकार को जमींदार भूमि से नहीं हटा सकता था। द्वितीय श्रेणी के काश्तकार को उस दशा में इंग्लैण्ड के कॉमन-लॉ के अन्तर्गत संरक्षण प्राप्त था जबकि वह जमींदार के खातों (Records) से यह प्रामाणित कर सके कि जो भूमि वह बो रहा है उसके नाम लिखी हुई है। तीसरी श्रेणी के काश्तकार को पट्टे की अवधि समाप्त होने पर भूमि से हटाया जा सकता था।

इस पृष्ठभूमि में यह कहा जा सकता है कि समावरण आन्दोलन के समय की परिस्थितियाँ आन्दोलन के अनुकूल ही थीं। समावरण आन्दोलन के ऐतिहासिक अध्ययन के रूप में इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) प्रथम समावरण आन्दोलन या भेड़ पालन आन्दोलन (First Enclosure Movement or Sheep-Farming Movement)

(२) द्वितीय समावरण आन्दोलन या पूँजीवादी ढंग की कृषि-प्रणाली का आन्दोलन (Second Enclosure Movement or Enclosure for the Concentration of Holdings Suitable for Large-scale Capitalistic Farming)

(१) प्रथम समावरण आन्दोलन—प्रथम समावरण आन्दोलन को कभी-कभी भेड़-पालन आन्दोलन के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि इस आन्दोलन के काल में भूमि का समावरण भेड़-पालन व्यवसाय के लिये अधिक उपयुक्त समझा गया। काले मौत या बुखार के कारण ग्रामीण क्षेत्रों की दो-तिहाई जनसंख्या समाप्त हो गई थी और जो अवशिष्ट रही वह कृषि-कार्य के लिये उत्सुक नहीं थी तथा मजदूरी

की दर भी ऊँची थी जबकि ऊन की कीमतें चढ़ रही थीं क्योंकि देश और विदेश में उसकी माँग में आशातीत वृद्धि हुई थी। अन्नोत्पादन भेड़-पालन से अधिक परिश्रम का कार्य था। सरकार ने अन्न के निर्यात को १४६१ में रोक दिया था जिससे यह व्यवसाय अधिक लाभदायक नहीं रहा। इन सभी कारणों से अन्नोत्पादन के स्थान पर भेड़-पालन का व्यवसाय अधिक अनुकूल समझा जाने लगा। जब कृषि योग्य भूमि को इस कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था, "भेड़ों के चरण सोना उगल रहे थे।"[1]

इन उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में कुछ अन्य कारण भी रहे जिन्होंने भेड़-पालन को अधिक उपयोगी बनाया। कृषि योग्य भूमि चरागाहों में परिणित की गई और जो भूमि निरन्तर कृषि-कार्य से अनुपयोगी हो गई थी उसे चरागाह में परिणित कर दिया गया। किन्तु श्रमिकों का अभाव सबसे महत्वपूर्ण कारण था जिसने भू-स्वामियों को इस बात के लिये विवश किया कि कम श्रमिकों वाले कार्य का नियोजन किया जाय। शहरों में रहने वाले धनिक-वर्ग ने भी पूँजी नियोजन का माध्यम खोजना चाहा तथा धन को भेड़-पालन में लगाना चाहा। उन्होंने भू-स्वामियों से बहुत बड़े क्षेत्र लगान पर ले लिये और उन्हें भेड़-क्षेत्रों (Sheep farms) में परिणित कर दिया। साथ ही ऐसे धनिक वर्ग द्वारा भूमि के बड़े भागों को बेचा गया विशेषतः मठों की भूमि को (जिसका विघटन आरम्भ हो गया था) लन्दन के नागरिकों ने सरे (Surrey) में मैनर खरीदें तथा हेनरी अष्टम (Henry VIII) से ऋणों के भुगतान के रूप में इस प्रकार की सहायता प्राप्त की। अतः यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि भेड़-पालन इसलिये ही महत्वपूर्ण नहीं हैं कि उसने कृषि योग्य भूमि को चरागाहों में परिणित किया वरन् इसलिये भी महत्वपूर्ण है कि इसने पूँजी को इस ओर आकर्षित किया जिससे आगे चलकर व्यापारिक ढंग की पूँजीवादी कृषि का जन्म हुआ।

इस आन्दोलन की तीव्र प्रगति के निम्नलिखित कारण थे :—

(१) भूमि—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तीनों दृष्टिकोण से पहले से कहीं अधिक मूल्यवान हो गई। संसद में चुने जाने के लिये भूमि का स्वामी होना आवश्यक था। अतः भूमिपतियों का ही पार्लियामेन्ट पर अधिकार होता था। इसके अतिरिक्त प्रायः भूमिपति ही स्थानीय बड़ा अधिकारी होता था। भूमि का उपयोग स्वयं अनाज उत्पन्न करने या लगान पर छोटे किसानों को देने में किया जा सकता था। दोनों दशाओं में लाभ ही लाभ था अतः सभी भूमि खरीदना चाहते थे। एक ही स्थान पर अधिक भूमि रखने का प्रयास सभी करने लगे।

(२) व्यापार की उन्नति के साथ-साथ व्यापारियों का धन बढ़ा और वे अपनी सम्पत्ति को पूँजी की तरह भूमि में लगाने लगे। इसके पीछे उनका उद्देश्य लाभ कमाने के साथ-साथ राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना भी था।

(३) देश की जनसंख्या बढ़ रही थी और इसलिये खाद्य-पदार्थों की बढ़ी हुई माँग के लिये यह आवश्यक था कि खेतों की पैदावार बढ़ाई जाये। उत्पादन बढ़ाने के लिए बन्द खेतों में खेती करना आवश्यक था।

---

1. Prothero : *Pioneers and Progress of English Farming*, P. 21

(४) संसद मुख्यतः भूमिपतियों के ही अधिकार में थी। अतः घेराबन्दी अधिनियम स्वीकृत कराने में कोई कठिनाई नहीं होती थी।

घेराबन्दी आन्दोलन के निम्नलिखित प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण हैं :—

(१) छोटे-छोटे खेतों के स्थान पर सब बड़े-बड़े खेत बन गए और बिखरे हुए खेतों के टुकड़ों को मिलाकर उनका एक संगठन कर दिया गया।

(२) प्रत्येक किसान अपने खेतों का उपयोग अपनी सुविधा और पसन्द के अनुसार कर सकता था। उसे अनाज बोने तथा कृषि सुधार सम्बन्धी अन्य कार्य करने में अपने पड़ौसियों के मुँह ताकने और उनकी स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं रही।

(३) खेती करने योग्य जमीन परती नहीं छोड़ी जाने लगी जैसा पहले Two or Three Field System में होता था।

(४) खेत के प्लाट बड़े होने के कारण उसे जोतने, उसमें खाद डालने तथा उसकी देख-भाल करने में आसानी होने लगी। घिरे खेत की फसल का पशुओं से बचाव भी होने लगा।

(५) कृषि का ढंग भी बदल गया। अब शलजम और क्लोवर-घास की खेती होने लगी।

(६) खेतों की नालियों में भी सुधार हुआ और दलदल भूमि में भी खेती की जाने लगी।

(७) कृषि में पूँजीवाद का पदार्पण हुआ और उद्योग की तरह कृषि में भी पूँजी लगाई जाने लगी।

(८) कृषि-कार्य में विज्ञान का प्रवेश हुआ और कृषि के नये-नये वैज्ञानिक तरीके व्यवहार में आने लगे।

(९) इस आन्दोलन के कारण बहुत से लोग बेकार होकर शहर चले गये और वहाँ स्थापित होने वाले नये-नये कारखानों में मजदूर का काम करने लगे, इस तरह औद्योगिक-क्रांति को सहायता मिली।

किन्तु घेराबन्दी के कुछ अप्रिय फल भी हुए, जैसे :—

(१) गरीब किसानों के लिये यह आन्दोलन आपत्तियों का जन्मदाता सिद्ध हुआ। उनकी भूमि छीन ली गई। जिनके पास थोड़ी-सी भूमि रही भी वे उससे अपने परिवार का पोषण नहीं कर सकते थे चूँकि अब वे पहले की तरह परती जमीन और जंगल का उपयोग नहीं कर सकते थे, अतः उनको भी विवशतः अपनी भूमि बेच देनी पड़ती थी।

(२) गाँव से जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण भाग बेकार होकर शहरों की ओर चला गया और गाँव खाली हो गये। देश में बेकारी की समस्या विकट हो गई और समाज में श्रमिकों का एक नया वर्ग उत्पन्न होगया।

(३) गाँवों का गृह-उद्योग भी नष्ट होने लगा और योग्य कारीगर शहरों में जाकर कारखानों के मजदूर होने पर विवश हुए।

कृषि-प्रक्रिया में सुधार (Improvement in Agriculture Practice)

कृषि-क्रांति के कारण वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग हुआ इससे बहुत से कृषि-श्रमिक बेकार हो गये। कृषि-क्रांति के फलस्वरूप खाद्य-पदार्थों का उत्पादन बढ़ गया था। कृषि-क्रांति के कारण बहुत से कच्चे मालों का उत्पादन भी देश में होने लगा। १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में उत्तम बीजों के उपयोग और मिट्टी के प्रयोग से उत्पादन में वृद्धि हुई, तथा कृषि में यन्त्रीकरण और वैज्ञानिक-व्यवस्था का आविर्भाव भी हुआ। कृषि-क्रांति के विभिन्न चरणों का वर्णन इस प्रकार है :—

(१) **पूँजीवादी पद्धति द्वारा कृषि**—घेराबन्दी आन्दोलन का विरोध धीरे-धीरे कम होता जा रहा था, उसका कारण विशेष तौर से यह था कि बड़े-बड़े खेतों का उपयोग कृषि-पद्धति के सुधार के लिये किया जाता था। पूँजीपतियों ने अपनी पूँजी का अधिकांश भाग भूमि में लगाया था। इस प्रकार कृषि का व्यापारीकरण होने लगा। साथ ही मूल्यों के उतार-चढ़ाव में छोटे किसान परिस्थिति का सामना नहीं कर सकते थे वहाँ पूँजीपतियों को अत्यन्त लाभ हुआ। इससे खेत बड़े-बड़े हुए और बड़े पैमाने की कृषि पद्धति अस्तित्व में आई।

(२) **डच या डेनिश कृषि-पद्धति**—प्रारम्भिक रूप में कृषि-पद्धति के विकास की कहानी हालैण्ड की ऋणी है। डच लोग पशु-पालन और डेरी-फार्मिंग में बहुत निपुण थे। सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में इस बात के प्रयत्न किए गये कि पशु-पालन के रूप में कृषि में सुधार किया गया। मोटे पशुओं का आयात वैधानिक रूप में निषेध किया गया और अठारहवीं शताब्दी के मध्य में पशु-नस्ल में सुधार किया गया। हालैण्ड में पशु-पालन और नस्ल-सुधार के लिये जिमीकंद और त्रिपती घास पैदा की जाती थी। इंग्लैंड में भी इसको उत्पन्न करने के प्रयत्न किए गए परन्तु यह प्रयोग सफल नहीं रहा।

(३) **टल-फार्मिंग (Tullian Farming)**—जेथ्रोबल (Jethro Bull) (१६७४-१७४१) नामक विद्वान को कृषि में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का श्रेय है। उसने जिस कृषि-पद्धति का प्रारम्भ किया उसे **टल-पद्धति** कहते हैं। उसने ड्रिल (Drill) नामक एक मशीन का आविष्कार किया और एक अश्व-चालित फावड़े (Horse-driven Hoeing) का भी आविष्कार किया। इस प्रकार उनकी पद्धति **अश्व-चालित-फावड़ा और ड्रिल पद्धति** कहलाई। ड्रिल यंत्र के सहारे पंक्ति-बद्ध रूप में बीज बोया जाता था और पौधों की आपसी दूरी भी रहती थी। एक एकड़ भूमि में दो पौण्ड बीज से ही काम चल जाता था जबकि पहले दस पौण्ड लगता था। अश्वचालित फावड़े के फलस्वरूप प्रत्येक पौधे को पर्याप्त मात्रा में मिट्टी मिल जाती थी।

जेथ्रोबुल का जन्म बर्कशायर में सन् १६७४ में हुआ। उनके पिता के पास कुछ भूमि थी। जेथ्रोबुल की शिक्षा-दीक्षा एटन और ओक्सफोर्ड में हुई। तत्पश्चात् उन्होंने यूरोप महाद्वीप की यात्रा की। उन्होंने १६९९ में किसान के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया और क्रोमार्स (Crowmarsh) जो टेम्स नदी के पास है, खेत लिया। उन्होंने आलू, चुकन्दर, चारा इत्यादि बोने का प्रयत्न किया। इन्हीं प्रयोगों के अन्तर्गत उन्होंने उपर्युक्त आविष्कार किये। सन् १७०९ में वे पुराने खेत में माउन्ट प्रोसपरस (Mount Prosperous) के नवीन खेत पर स्थानान्तरित हुए। सन् १७११

में उन्हें फ्रांस जाना पड़ा, वहाँ से अनुभव प्राप्त कर लौटने पर उन्होंने गेहूँ, आलू उगाने का प्रयत्न किया।

सन् १७३१ में जेथ्रोबुल ने 'नवीन अश्व-चालित-सफाई-कृषि पद्धति' (New Horse-hoeing Husbandry) नामक पुस्तक लिखी जिसमें कृषि सम्बन्धी नवीन परीक्षणों का विवरण था। आरम्भ में पुस्तक अधिक प्रचलित नहीं हुई किन्तु जब कृषि में लोगों की रुचि बढ़ने लगी तब जेथ्रोबुल के प्रयोगों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। लोग उसके क्षेत्र पर निरीक्षण हेतु आने लगे और जब सन् १७४० में उस की मृत्यु हुई तो उसके प्रयोगों को उन व्यक्तियों ने अपनाया जो पूँजीपति थे।

(४) **नोर-फोक-कृषि-पद्धति (Nor-Folk System)**—अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंण्ड में कई जमींदार स्वेच्छा से कृषि करते और उसके परीक्षणों में रुचि रखते थे। ऐसे रुचिशील व्यक्तियों में सम्राट जार्ज तृतीय (जिसको प्रजा जन स्नेह-पूर्वक कृषक जार्ज कहती थी) का नाम भी लिया जा सकता है। उसने विन्सर में एक आदर्श खेत स्थापित किया।

इन्हीं जमींदारों में **लोर्ड टाउनशेन्ड (Lord Townshend)** का नाम अधिक प्रसिद्ध है जो रौबर्ट वालपोल का सम्बन्धी था और हॉलेन्ड में कुछ समय राजदूत रहा। जब उसने सेवा से अवकाश ग्रहण किया तो वह अपनी भू-सम्पदा नोर-फोक चला गया। वह जेथ्रोबुल का बड़ा प्रशंसक था उसने उसकी ड्रिल और अश्व-चालित-फावड़ा पद्धति अपनाई। साथ ही फसलों के आवर्तन का प्रसिद्ध तरीका भी खोज निकाला जो **चतुर्थ-स्तरीय आवर्तन-प्रणाली (Four Fold Rotation of Crops)** कहलाती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत एक के पीछे दूसरे वर्ष में क्रमशः गेहूँ, रामपर्ण, जौ और शलजम की खेती की जाती थी। इससे भूमि में पुनः उर्वराशक्ति उत्पन्न हो जाती थी। कन्दमूल (शलजम आदि) शरद ऋतु में पशुओं के खाने के काम में आते थे।

(५) **पशु-नस्ल सुधार**—इस क्षेत्र में पशु-नस्ल सुधार के साथ चारे की पूर्ति पर भी ध्यान दिया गया। **रोबर्ट बेकवेल (Robert Bakewell)** (१७२५-१७९५) जो (लिसस्टर शायर का रहने वाला था) ने क्रास-ब्रीडिंग द्वारा पशु-नस्ल सुधार में योग दिया। उसने अपने परीक्षणों का विवरण लिखकर सन् १८२२ में 'शोर्ट होर्न' (Short Horn) नामक पुस्तक रूप में उन्हें प्रकाशित किया।

बेकवेल के कार्य को **थोमस विलियम कोक**, (१७५२-१८४२) अर्ल ऑफ लिसस्टर, ने अधिक आगे बढ़ाया और प्रसिद्धि प्राप्त की। कोक ने तत्सम्बन्धी मेलों का आयोजन किया।

कृषि की नवीन पद्धति को प्रसिद्ध करने के लिये **पिट** ने सन् १७९३ में कृषि-मंडल (Board of Agriculture) की स्थापना की जिसका सचिव श्री आर्थर यंग को नियुक्त किया गया। जब तक यह कृषि-मंडल कार्य करता रहा उसने प्रकाशन और पुरुस्कार द्वारा कार्य और प्रणाली के प्रचार में अभिवृद्धि की। यद्यपि यह मण्डल गैर-सरकारी था और सन् १८२२ में इसका अन्त हो गया, परन्तु इस क्षेत्र में इसका कार्य सराहनीय रहा।

कृषि-प्रणाली में आवश्यक सुधार, परिवर्तन, संशोधन और विकास करने में कृषि विशेषज्ञों ने महत्वपूर्ण योग दिया है, इन्हें कृषि-क्रांति का अग्रदूत कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस प्रकार की परम्परा सन् १७२६ में रिचर्ड ब्रेडले की पुस्तक "कृषि और बागवानी" से प्रारम्भ हुई और आर्थर यंग और विलियम कोक के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रयोगों के साथ समाप्त हुई।

(६) **भूमि सुधार (Land Reclamation)**—सन् १७६० से १८२० तक भूमि के प्राप्तिकरण के प्रयत्नों में भी प्रगति हुई। दलदली भूमि को कृषि-योग्य बनाया गया। इस कार्य का अन्वेषक **जोसेफ एल्किंटन** किसान था (जोकि वारविक-शायर का रहने वाला था)। पानी की नालियों का व्यावहारिक ढंग **जेम्स स्मिथ** द्वारा निकाला गया (जो कि पर्थशायर, स्काटलैण्ड, में सूती-वस्त्र उद्योग का व्यवस्थापक था)।

(७) **रासायनिक खाद और वैज्ञानिक यंत्र**—कृषि-क्रान्ति के फलस्वरूप मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। हल, औजार सभी लोहे के बनने लगे। रासायनिक खाद का उपयोग भी दिन व दिन बढ़ने लगा। **लीबिग (Leibig)** की प्रसिद्ध पुस्तक "Chemistry in its Application to Agriculture and Physiology" के प्रकाशन के समय सन् १८४० में यह प्रचार बढ़ा। **जोन बेनेटलॉज** तथा उसके सह-योगियों ने (जो लीबिग के शिष्य थे) लीबिग की खोजों को इंगलैण्ड में प्रसारित किया। श्री लॉज ने लन्दन में एक रासायनिक-खाद का कारखाना स्थापित किया जिसका प्रचार व प्रयोग दिन व दिन बढ़ता गया।

(८) **सरकारी नीति**—सरकार भी कृषि की ओर पहले से अब कहीं अधिक ध्यान देने लगी। संसद में भूमिपतियों का ही प्रभाव अधिक था और सरकार पर राजा की अपेक्षा अब संसद का ही अधिकार हो गया। अतः सरकारी यन्त्र द्वारा कृषि-क्रान्ति में बड़ी सहायता मिली। घेरा-बन्दी आन्दोलन के पक्ष में सरकार ने कानून बनाये। सरकार ने **शाही-कृषि-समिति (Royal Agricultural Society)** का संगठन किया। इस संस्था ने कृषि में नई जान डाल दी। इसके अतिरिक्त कृषि-रसायन परिषद् (Agricultural Chemistry Association) का निर्माण १८४२ ई० में हुआ। कृषि में विकास करने के उद्देश्य से किसान-क्लब (Farmer's Club) भी खोले गए।

उपर्युक्त विभिन्न परिवर्तनों ने कृषि के आधार में इतने अधिक परिवर्तन उपस्थित किये कि इनको क्रांति संज्ञा देना न्यायसंगत है। इंगलैण्ड की कृषि-क्रान्ति परिवर्तित परिस्थितियों की चरम सीमा थी। एक साथ कृषि के ढङ्ग, ढाँचे व आकार में परिवर्तन हुए और उनका प्रभाव सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सभी क्षेत्रों पर गहरा पड़ा।

कृषि क्रान्ति के कारण

कृषि क्रान्ति के कारणों में निम्नलिखित मुख्य हैं:—

(१) **भूमि का महत्व बढ़ जाना**—यह परिवर्तन राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक तीनों दृष्टिकोणों से हुआ। संसद के सदस्य चुने जाने के लिए तथा काउन्टीज (Counties) में मत का अधिकार प्राप्त करने के लिए भूमिपति होना आवश्यक था। अतः राजनैतिक प्रभाव मुख्यतः भूमिपतियों के हाथों में आ गया था। १८वीं शताब्दी में भूमि का महत्व यहाँ तक बढ़ गया कि व्यापारी लोग भी समाज तथा राजनीति

में अपना प्रभाव जमाने के लिए भूमि खरीदने लगे। इस प्रकार सभी ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ उसके फलस्वरूप उसमें अनेक सुधार होने लगे।

(२) **जनसंख्या की वृद्धि**—देश की जनसंख्या में वृद्धि होने से खाद्य-पदार्थों की माँग भी तेजी से बढ़ी। फलस्वरूप परती भूमि को कृषि योग्य बनाया गया और कृषि योग्य भूमि को अधिक उर्वरा बनाने के प्रयत्न किए गये।

(३) **कृषि में विज्ञान का प्रवेश**—उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से नवीन उपायों की खोज की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान गया और उन लोगों ने नये यंत्रों तथा कृषि की नवीन प्रणालियों का पता लगाया।

(४) बीज को अधिक उपयोगी बनाने तथा वैज्ञानिक तरीके से लगाने के तरीके भी निकले। इस क्षेत्र में मुख्यतः जेथ्रोटल का कार्य बहुत ही उल्लेखनीय रहा।

(५) **कृषि-सम्बन्धी नये विचारों का प्रसार**—उस समय यातायात के साधन इतने कम थे कि कृषि-सम्बन्धी नये-नये विचारों तथा तरीकों का ज्ञान दूर-दूर स्थित गाँवों तक पहुँचना बहुत ही कठिन था। किन्तु इसके बिना क्रान्ति हो भी कैसे सकती थी। अतः इस क्षेत्र में भी कई लोगों ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

(६) **कृषि में पूँजी का प्रवेश**—उद्योग की भाँति कृषि में भी पूँजी के बिना क्रांति सम्भव न थी। कृषि के तरीकों में सुधार लाने के लिए पूँजी की आवश्यकता थी और यह पूँजी बड़े-बड़े भूमिपतियों तथा व्यापारियों ने लगाई।

कृषि-क्रांति के प्रभाव

(१) भूमि का आधिपत्य थोड़े से हाथों में केन्द्रित हो गया।

(२) छोटी-छोटी इकाई की जगह बड़े-बड़े कृषि-फार्म स्थापित हो गये।

(३) गाँवों में एक नये वर्ग कृषक-श्रमिक (Agricultural Labour) का जन्म हुआ। इस वर्ग में वे लोग आये जो भूमिहीन हो गये।

(४) पूँजीवादी-कृषि (Capitalistic Agriculture) का विकास हुआ।

(५) कृषि के तरीके में सुधार हुआ और उससे उपज बढ़ी।

(६) कृषि-उद्योग से अधिक लाभ होने लगा और भूमि का दाम तथा लगान बढ़ गया।

(७) कृषि-प्रथा के यन्त्रीकरण की ओर प्रगति हुई।

(८) छोटे-छोटे किसान बर्बाद हो गये।

(९) कृषक-श्रमिकों की मजदूरी बहुत कम हो गई, (सप्ताह में ८ शिलिङ्ग से भी कम) इतने में तो पेट भरना भी मुश्किल था। अतः बहुत से लोग जाड़े में सर्दी से मर गये।

(१०) भूमि बंदोबस्त कानून (Settlement Laws) के अनुसार कोई भी मजदूर बिना अनुमति लिये अपना गाँव नहीं छोड़ सकता था। अतः मजदूरों के लिए विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी।

द्वितीय घेराबंदी आन्दोलन (Second Enclosure Movement)

द्वितीय समावरण आन्दोलन व्यक्तिगत कृषि को व्यापारिक कृषि के रूप में बदलने में सहायक सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में अठारहवीं शताब्दी के मध्य से १९वीं शताब्दी के मध्य तक तीन महत्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं :—

(१) पूँजी का कृषि क्षेत्र में प्रवेश।

(२) औद्योगिक क्रांति के कारण मानव आवश्यकताओं और दृष्टिकोण में परिवर्तन।

(३) वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के लिए बड़े खेतों की आवश्यकता पर जोर दिया जाना ;

समावरण आन्दोलन का कार्यक्रम प्रारम्भिक रूप में व्यक्तिगत समझौतों के आधार पर सम्पादित किया गया था। बाद में कार्ट ऑफ चान्सरी (Court of Chancery or the exchequer) में इनका पंजीकरण (Registration) होने लगा। व्यक्तिगत समझौतों में लड़ाई-झगड़ों के फलस्वरूप पार्लियामेन्ट को व्यक्तिगत अधिनियम स्वीकार करना आवश्यक हो गया। संसद या पार्लियामेन्ट ने नये समावृत खेतों की जाँच पड़ताल के लिए आयुक्त नियुक्त किये। सन् १८०९ में **साधारण समावरण अधिनियम** (**General Enclosure Act**) स्वीकार किया गया। सन् १८३६ के संशोधित अधिनियम ने व्यक्तिगत अधिनियमों की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। निम्न तथ्य द्वितीय समावरण आन्दोलन की प्रगति और प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं[1] :—

काल	अधिनियम संख्या	एकड़ समावृत
१७००–१७६०	२०९	३१२,३६३
१७६१–१८०१	२,०००	३,१८०,८७१
१८०२–१८४४	१,८८३	२,५४९,३४५
१८४५ और बाद	६७२	५२२,२२७

समावरण आन्दोलन अपने प्रारम्भिक काल में कितना खर्चीला था इसकी एक झलक नीचे के आँकड़े से मिलती है :—

१२०६ एकड़ मद वाला ग्राम	पौं०	शि०	पेन्स
(१) पार्लियामेन्ट से अधिनियम स्वीकार कराना	३२४	१५	०
(२) भूमि का सर्वेक्षण	७२	९	०
(३) नक्शा बनाना	८४	०	०
(४) पाँच आयुक्तों की फीस १० शि० प्रतिदिन	१०५	०	०
(५) आयुक्तों के खर्च	५५	०	०
(६) रेक्टर फेन्स बनाना (Making Rector's Fence)	४६	३	३
(७) क्लर्क	२३	२	०
(८) विविध	६५	१	७
कुल योग	७७५	१७	१

1. Johnson, Disappearance of the Iand owner, Page 90.

द्वितीय समावरण आन्दोलन के प्रारम्भिक वर्षों की कठिनाइयों को विभिन्न पार्लियामेन्टरी अधिनियमों द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी यह आन्दोलन अधिक खर्चीला था। अतः कुछ समय के लिए पुनः छोटी खेतों की इकाइयों की प्रवृत्ति परिलक्षित हुई।

कृषि-क्रान्ति ने कृषि-व्यवस्था को नवीन आधार पर अवस्थित कर दिया था। जहाँ एक ओर कृषि-क्रांति ने वैज्ञानिक आविष्कार और पद्धतियों का सृजन किया, वहाँ दूसरी ओर कृषि के व्यापारवादी दृष्टिकोण को भी अधिक प्रोत्साहन दिया गया। कृषि अब सिर्फ जीविका का साधन न होकर एक व्यापार हो गया जिसे लाभ के दृष्टिकोण से अपनाया जाने लगा। अतः यह कहना युक्तिसंगत ही होगा कि कृषि क्रान्ति उन परिवर्तनों की अविरल शृंखला है जो आधुनिक शताब्दी तक इस उद्योग को प्रभावित करते रहे हैं।

कृषि-उद्योग की प्रगति : एक ऐतिहासिक अध्ययन

कृषि-क्रान्ति के फलस्वरूप पुरानी मध्ययुगीन मैनोरियल प्रथा के स्थान पर नवीन ढंग की वैज्ञानिक कृषि-पद्धति का धीरे-धीरे विकास हो रहा था। अब कृषि का आधार आत्म-निर्भरता के स्थान पर व्यापारीकरण अधिक हो गया था। इसमें उसका क्षेत्र राष्ट्रीय सीमा लाँघकर अन्तर्राष्ट्रीय सीमा तक पहुँच रहा था। ये सभी परिवर्तन और विकास सन् १८५० या उसके आसपास से प्रारम्भ होते हैं। इन विगत एक सौ दस वर्षों में कृषि को कई परिवर्तनों से निकलना पड़ा। इन परिवर्तनों तथा ऐतिहासिक क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) कृषि का स्वर्ण-युग (Golden Age of English Agriculture)—१८५० से १८७३ तक।

(२) संक्रान्ति काल (Transitional Period)—१८७४ से १८७६ तक।

(३) मन्दी का काल (Depression Age)—सन् १८७७ से १९१४ तक।

इस उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रगति का वर्णन क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) कृषि का स्वर्ण-युग (१८५०-१८७३)—इङ्गलैण्ड के आर्थिक-इतिहास में सन् १८५०-१८७३ का काल कृषि स्वर्ण युग के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि इसी काल में कृषि के विविध क्षेत्रों में बहुत ही उन्नति हुई। सन् १८४६ ई० में ही **अन्न कानून (Corn Law)** हटा दिया गया था जिसके फलस्वरूप विदेशों से अन्न के आयात की सुविधा हो गई परन्तु उचित लाभ प्राप्त नहीं हो सका क्योंकि विदेशों में जनसंख्या की वृद्धि ने खाद्य की माँग को उन देशों में भी बढ़ा दिया था। अन्न कानून हटाने का एक कारण यह भी था कि इंग्लैंड की कृषि में प्रगतिशीलता और स्थिरता ने प्रवेश कर लिया था, उसे अन्न कानून हटा कर विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के लिये प्रेरित किया गया। फिर भी खाद्य पदार्थ सस्ते नहीं हुए। विश्व के गेहूँ उत्पादक देश जो अपना उत्पादन का अधिकांश भाग इङ्गलैण्ड के बाजारों में भेजते थे। १८७० में युद्ध में प्रेरित हो गये अतः निर्यातों के द्वार अवरुद्ध हो जाये। इसी समय अमेरिकी आन्तरिक कलह में, रूस क्रीमियन युग की विभीषिका में, जर्मनी अपने पड़ौसी युद्धों में व्यस्त था। वस्तुओं के मूल्यों में धीरे-धीरे वृद्धि होती जारही थी क्योंकि केलीफोर्निया और आस्ट्रेलिया की खदानों से स्वर्ण का निकास आरम्भ हो गया था। मजदूरी बढ़ रही थी तथा माँस और रोटी का उपभोग बढ़ता जारहा था। रेल मार्गों का विस्तार हो

रहा था जिससे कृषि उत्पादन बाजारों तक पहुँचाने में आसानी हो रही थी और कृषि यंत्रों और औजारों की उपलब्धि सस्ती होती जा रही थी।

इसी अवधि में कृषि के क्षेत्र में कुछ बहुत ही आधारभूत परिवर्तन हुए। अन्न के उत्पादन को बढ़ाने के लिये तरह-तरह के उपाय काम में जाने लगे। कृषि में विज्ञान का प्रवेश हुआ और खेत काटने, जुताई करने, बीज बोने तथा फसलें तैयार करने में यन्त्रों का प्रयोग होने लगा। कृषि रसायन में भी काफी विकास हुआ और एक रसायन कारखाना डेप्टफोर्ड में खोला गया जिसमें बनावटी खाद तैयार किया जाता था। फलस्वरूप खेतों की उपज बढ़ गई। कृषि अधिक लाभदायक व्यवसाय सिद्ध हुआ। कृषि-श्रमिकों में बेकारी कम होगई और उनका पारिश्रमिक भी बढ़ गया। कृषि के विकास के लिये सरकार ने कम ब्याज पर किसानों को कर्ज देने की व्यवस्था की। यातायात के साधनों की उन्नति से किसान दूर-तक ले जाकर अपना माल बेचने लगे थे क्योंकि उसमें उनको अधिक लाभ होता था।

सरकार द्वारा स्थापित शाही-कृषि समिति से भी किसानों को बहुत सहायता मिली इसके अतिरिक्त उन दिनों वार्षिक कृषि-प्रदर्शनी लगा करती थी और हर प्रकार की कृषि-सम्बन्धी सूचना किसानों तक पहुँचाई जाती थी। कृषि बड़े पैमाने पर होने लगी थी। इतना सब कुछ होने पर भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस काल में सभी प्रकार उन्नति ही उन्नति थी। कृषि-मजदूरी में वृद्धि की गति कम थी तथा शहरों में विभिन्न प्रकार के धन्धे उपलब्ध थे। अतः लोग देहातों को छोड़ शहरों की ओर खिंच रहे थे। सामुद्रिक यातायात की सुविधाओं ने मजदूरों को केलीफोर्निया और आस्ट्रेलिया के स्वर्ण-क्षेत्रों की ओर जाने के लिये आकर्षित किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कृषि के लिये यह समय सर्वाधिक उन्नति और अधिक अभिवृद्धि का कहा जा सकता है।

(२) कृषि का संक्रान्ति काल (सन् १८७४ से १८७६ तक)

कृषि का स्वर्ण-युग १८७३ के बाद समाप्त होने पर आर्थिक-मंदी का काल आरम्भ हो गया। इस काल में इंग्लैंड में फल-उत्पादन और बागवानी के कार्य को प्रश्रय मिला। इस आर्थिक-मंदी के काल में भारी संख्या में श्रमिक शहरों और समुद्र पार देशों में चले गये थे। इसके फलस्वरूप देश में यह आन्दोलन चला कि छोटे-छोटे खेत (Small Holdings) बनाये जाँय ताकि अधिक मजदूरों को भूमि पर रखा जा सके। छोते-खेतों का निर्माण सरकार द्वारा ही हो सकता था क्योंकि बड़े आसामी या भूमिपति इस आन्दोलन का समर्थन नहीं कर थे।

इस आन्दोलन को सफल बनाने में **श्री जोसेफ चेम्बरलेन और जीस-कोलिंगज** का नाम लिया जा सकता है। श्री चेम्बरलेन-समिति के प्रतिवेदन के प्रकाशित होने पर—जिसमें छोटे खेतों की इकाइयों के निर्माण की सिफारिशें सम्मिलित थीं—संसद ने १८९२ में **छोटी इकाइयों का अधिनियम** (Small Holdings Act) स्वीकार कर लिया। इस अधिनियम के अन्तर्गत काउण्टी-कौंसिल को यह अधिकार दिया गया कि वे **पब्लिक-वर्क्स-कमीशन** से रुपया उधार ले और भूमि खरीदे तथा उसे एक से पचास एकड़ के भागों में बेचें। खरीद की शर्तें सरल थीं और छोटे खेतों की खरीद के लिए प्राप्त ऋण पचास वर्षों में चुकाया जाय ऐसी व्यवस्था की गई थी। परन्तु काउण्टी-कौंसिलों की उदासीनता और किसी केन्द्रीय संस्था के अभाव में यह अधिनियम सफल न हो सका।

(३) मन्दी का युग (सन् १८७७ से १९१४ तक)

सन् १८७३ ई० के बाद इंग्लैंड में कृषि मंदी का युग आरम्भ होता है। इस अवधि में वर्षा और अधिक सर्दी के कारण फसल की भारी हानि हुई। पशुओं में भी भयंकर बीमारी फैल गई और वे बड़ी संख्या में मर गये। भूमि के लगान में कमी हो गई और इस प्रकार किसानों के साथ जमींदारों की स्थिति भी खराब हो गई। इसी समय कृषि-पदार्थों को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा और कृषि-पदार्थों का मूल्य गिर गया। १८७३ ई० में ३७ लाख एकड़ भूमि में गेहूँ की खेती होती थी; पर वह घटकर १९०० ई० में १९ लाख एकड़ ही रह गई। अतः बड़े-बड़े भूमिपति कृषि योग्य भूमि को भी चरागाहों में परिवर्तित करने लगे। कृषि से पूँजी हटाई जाने लगी जिससे कृषि के लिए वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग बहुत कम हो गया।

संकट का मुख्य कारण विदेशी प्रतिस्पर्द्धा थी। स्वतन्त्र-व्यापार-नीति के कारण इंग्लैंड में आयात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। फल यह हुआ कि उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और अर्जेन्टाइना से बहुत अधिक गेहूँ का आयात हुआ। अन्तर-प्रान्तीय-रेलों की उन्नति के कारण अमेरिका की प्रेरी भूमि में गेहूँ की खेती अधिक होने लगी थी। देश में रेल और जहाजी यातायात ने बाहर से खाद्य पदार्थ मँगाने की कठिनाई को दूर कर दिया था। बाहर से आए हुए अधिक सस्ते गेहूँ के साथ देश के किसानों को प्रतिस्पर्द्धा करना बहुत कठिन था। फल यह हुआ कि किसानों को हानि उठानी पड़ी। अब कृषि कार्य लाभप्रद नहीं रहा। इसके विपरीत अन्य राष्ट्र कृषि पर विशेष ध्यान देने लगे। १८७४ ई० में रूस में २८७ लाख एकड़ भूमि में गेहूँ उपजाया गया था पर १९०३ में वह बढ़कर ४५१ लाख एकड़ हो गया। संयुक्त-राज्य अमेरिका में उसी अवधि में १८९ लाख एकड़ भूमि से बढ़कर ४९५ लाख एकड़ भूमि में गेहूँ की खेती होने लगी। उसी अवधि में कनाडा में १६ लाख एकड़ भूमि से बढ़कर ४४ लाख एकड़ भूमि में गेहूँ की खेती की जाने लगी। प्रशीतन-विधि की उन्नति के कारण आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड से भेड़ का माँस, अर्जेन्टाइना से गौ-माँस और संयुक्त-राज्य अमेरिका से डिब्बा बंद गो माँस एवं मछलियाँ आयात की जाने लगीं। इसके अतिरिक्त, पनीर, आलू और विभिन्न प्रकार के फलों का भी आयात होने लगा। इसका इंग्लैंड के डेरी उद्योग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उस समय जबकि इंग्लैंड स्वतन्त्र व्यपार की नीति अपना रहा था, जर्मनी, संयुक्त-राज्य अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में संरक्षणवादी नीति अपनाई जा रही थी।

कृषि संकट के कारण कृषि से पूँजी हटाई जाने लगी। खेती के लिये वैज्ञानिक यंत्रों का प्रयोग बहुत कम हो गया। खेत चरागाह में परिवर्तित होने लगे और लोग गाँवों को छोड़कर शहरों में बसने लगे। लगान में छूट दी जाने लगी। कृषि-श्रमिकों और छोटे किसानों को विशेष कठिनाई होने लगी। गेहूँ के आटे के आयात के कारण चक्कियाँ भी प्रायः बन्द हो गईं। कनाडा, आस्ट्रेलिया में कृषि-श्रमिकों की अधिक माँग होने से बहुत से कृषि-श्रमिक वहाँ जा बसे।

इस काल में इंग्लैंड की सरकार ने आर्थिक-मन्दी और संकट के कारणों का पता लगाने के लिये दो शाही समितियाँ बनाईं।

(१) रिचमांड समिति (Richmund Committee)

इसकी स्थापना सन् १८८२ ई० में **श्री रिचमांड** की अध्यक्षता में हुई। समिति ने अपने प्रतिवेदन में यह स्पष्ट किया कि आर्थिक-मंदी और संकट के निम्नलिखित प्रधान कारण रहे हैं :—

(१) **निकृष्ट फसल**—सन् १८७६-७७ में अच्छी फसल नहीं हो सकी। इसी प्रकार १८९२ से १८९९ तक देश में सूखा पड़ा और इससे पूर्व १८७२ से १८८४ तक अधिक शीत पड़ने एवं ग्रीष्म में अधिक वर्षा होने से फसलें अच्छी नहीं हुईं और अतः खाद्यान्नों की उत्पत्ति पर्याप्त मात्रा में न हो सकी।

(२) **लगान में वृद्धि**—इस समय जबकि आर्थिक-मंदी से कृषक जनता यों ही परेशान थी सरकार द्वारा करों में वृद्धि कर दी गई। अतः किसान व्यवसाय छोड़ने को विवश हुए।

(३) **पशु रोग**—इसी समय कृषि में काम आने वाले पशुओं में भयंकर बीमारियों का आविर्भाव हुआ। पशुओं के मुँह व पैरों में रोग उत्पन्न हुए। भेड़ों और शूकरों में भी विशेष प्रकार का बुखार फैला। इस प्रकार बहुत भारी संख्या में पशु मर गए और किसानों को पशु-धन की हानि उठानी पड़ी।

(४) **कृषि शिक्षा का अभाव**—यद्यपि कृषि में वैज्ञानिक यंत्रों और विधियों का प्रयोग किया जाने लगा था, परन्तु साधारण किसानों के लिये तत्सम्बन्धी शिक्षा का सर्वथा अभाव था। वे नितान्त अनभिज्ञ थे कि इन वैज्ञानिक यन्त्रों और विधियों का कहाँ और किस प्रकार का प्रयोग करना चाहिए। अतः जो लाभ कृषि के वैज्ञानिक सुधारों से अनुमानित किया गया उस रूप में उत्पादन स्तर में वृद्धि न हो सकी।

(५) **विदेशी प्रतिस्पर्द्धा**—आंग्ल-कृषि के विकास में एक तथ्य हमेशा से विद्यमान रहा है और वह यह कि उसे विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा है। संयुक्त-राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत, रूस, अर्जेन्टाइना से गेहूँ आयात किया जाता था, इङ्गलैंड का गेहूँ इस रूप में मँहगा पड़ता था अतः विदेशी गेहूँ की प्रतिस्पर्द्धा में टिक नहीं पाता था। साथ ही साथ गोश्त, मक्खन, पनीर, आलू आदि का आयात भी होता था अतः कृषि को आर्थिक-संकट का सामना करना पड़ा।

(६) **रेल भाड़ों में वृद्धि**—इस समय रेलों के भाड़ों में भी गहरी प्रतिस्पर्द्धा के कारण वृद्धि हुई जिसका उल्टा प्रभाव कृषि पर पड़ा।

(२) एवरस्ल समिति

रिचमाण्ड समिति के समान ही १८९३-९७ में एवरस्ले समिति की स्थापना **श्री एवरस्ले** की अध्यक्षता में की गई। इस समिति की जाँच-पड़ताल के अनुसार संकट का प्रमुख कारण चाँदी के मूल्य में की गई कमी थी। साथ ही साथ १८९० के बाद कृषि-श्रमिकों के अभाव के कारण भी संकट उपस्थित हुआ।

मन्दी के प्रभावों को दूर करने के प्रयत्न

१९ वीं शताब्दी के अन्त तक बड़े-बड़े फार्मों को तोड़कर छोटे-छोटे खेत बनाने का आन्दोलन पर्याप्त प्रगति कर चुका था और इसको सरकार का भी खुला समर्थन मिला। जमींदार इस आन्दोलन के विरुद्ध थे। किन्तु १८७९-८२ ई० की कृषि समित ने लघु-क्षेत्रों के निर्माण के पक्ष में अपना सुझाव दिया।

उपर्युक्त १८९२ ई० का लघु-क्षेत्र विधान अधिक सफल नहीं हुआ क्योंकि उसमें दो त्रुटियाँ थीं। पहली त्रुटि तो यह थी कि काउण्टी कौंसिल के लिये खेत खरीदकर छोटे-छोटे किसानों को बाँटना अनिवार्य नहीं था। दूसरी त्रुटि यह थी कि जमींदारों को भी खेत बेचना अनिवार्य नहीं था। सन् १९०८ में लघु-क्षेत्र एवं

आबंटन अधिनियम के प्रारम्भिक अधिकार कृषि-मण्डलों को सौंप दिया। अतः अब जिला परिषदें उपयुक्त प्रार्थियों के लिये छोटे खेत उपलब्ध करने को बाध्य हुईं क्योंकि उनके अस्वीकार करने में कृषि-मण्डल हस्तक्षेप कर सकता था और काम चालू रखने के लिये आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता था। समितियों को अनिवार्य भूमि प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया। भूमि का मूल्य मध्यस्थता द्वारा तय किया जाता था और खेत प्रार्थियों को या तो भारक पर दे दिये जाते थे अथवा उन्हें सरल शर्तों पर बेच दिया जाता था। इस अधिनियम के पारित होने एवं १९१४-१८ के महायुद्ध के प्रारम्भ के समय कुछ लघु क्षेत्रों का निर्माण भी हुआ। १९१२ ई० तक १,५५,००० एकड़ भूमि इसके अनुसार खरीदी और बाँटी गई। सन् १९०८ में इस बात को भी व्यवस्था की गई कि काउण्टी कौंसिल योग्य आवेदकों को अनिवार्य रूप से जमीन बेचें। सन् १९०६ में एक विधान पारित हुआ जिसके अनुसार किसान किसी भी तरह की फसल पैदा कर सकता था। १८९९-१९१४ की अवधि में कृषि के क्षेत्र में मुख्य चार प्रकार के परिवर्तन हुए :—

(१) जानवरों का पालना अधिक लोकप्रिय हो गया।
(२) फल-फूलों की खेती में अधिक वृद्धि हुई।
(३) गेहूँ, जो और आलू की खेती में कमी की गई।
(४) वैज्ञानिक ढंग पर मुर्गी पालना, अण्डा तथा मक्खन, पनीर और दूध का उत्पादन शुरू हुआ।

उपर्युक्त विधानों के अनुसार छोटे किसानों को भी वही सुविधाएं मिलने लगीं जो पहले केवल बड़े जमींदारों को प्राप्त थीं। इस काल में सहकारिता आन्दोलन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस आन्दोलन की प्रगति धीरे-धीरे उत्पादन, वितरण तथा ऋण के क्षेत्र में भी हुई। कृषि शिक्षा के लिये कृषि विद्यालयों की स्थापना की गई। ग्राम समितियों के अधीन भ्रमणशील शिक्षक नियुक्त किये गये जो घूम-घूम कर किसानों को कृषि की शिक्षा देते थे। कृषि-श्रमिकों का राष्ट्रीय संघ स्थापित हुआ। सन् १९१२ ई० में **लायड जार्ज** ने एक जाँच-समिति की स्थापना की और कृषि की उन्नति के लिए योजना बनाई जिसमें कृषि-मजदूरों के लिए कम से कम मजदूरी निश्चित करने तथा अन्य सुधारों की व्यवस्था की गई। समिति ने यह भी बताया कि कृषि पर जमींदारों का अधिकार होने से वे लोग कृषि उन्नति में कोई विशेष रुचि नहीं रखते थे। पर लायड जार्ज की इस योजना में प्रथम युद्ध के कारण सफलता नहीं मिली।

इस अवधि में कृषि के अतिरिक्त व्यापार और उद्योगों में भी निर्बाध नीति का परित्याग किया गया। कृषि की उन्नति के लिए कृषि-मण्डल की स्थापना की गई जिसके निम्नलिखित मुख्य कार्य थे—(१) पशुओं के रोगों की रोकथाम; (२) कृषि सम्बन्धी प्रचार कार्य; (३) प्रतिस्पर्द्धा से किसानों को बचाना; (४) खादों में होने वाली मिलावट को रोकना। उपनिवेशों के साथ आर्थिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए औपनिवेशिक सम्मेलन बुलाये गये। कृषि रोगों की रोक-थाम के लिये प्रयत्न किए गए। अनेक अनुसन्धान केन्द्र स्थापित किये गये। कृषि-सम्बन्धी उन्नति के लिए सारे देश को कुछ निश्चित कृषि-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया और प्रत्येक क्षेत्र में एक सरकारी कृषि-अधिकारी रहा करता था जो किसानों को अन्न, जंगल और पशुओं के सम्बन्ध में आवश्यक सुझाव दिया करता था।

आंग्ल कृषि : वर्तमान स्थिति
(English Agriculture : Present Era)

प्रस्तावना

यद्यपि इंग्लैंड घनी आबादी वाला औद्योगिक देश है, और उसे अपनी खाद्य की आवश्यकता की आधी सामग्री अन्य देशों से आयात करनी पड़ती है किन्तु फिर भी कृषि-उद्योग यहाँ का महत्वपूर्ण उद्योग है। इस उद्योग में लगभग १० लाख व्यक्ति लगे हैं जो नागरिक जनसंख्या का ४ प्रतिशत भाग हैं राष्ट्रीय आय के ४ प्रतिशत भाग की आय कृषि से ही प्राप्त होती है। ६ करोड़ एकड़ भूमि में से ४६ करोड़ एकड़ भूमि का उपयोग खेती के लिए किया जाता है। खेतों का औसत क्षेत्रफल ७० एकड़ है ऐसे खेतों की संख्या ३ लाख के लगभग है, किन्तु छोटे खेतों की संख्या भी अधिक है। लगभग आधे खेत मालिकों के अधिकार में हैं और शेष कृषकों द्वारा लगान पर बोये जाते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटेन अधिकतर कृषि-उत्पादन के क्षेत्र में आत्म-निर्भर था किन्तु बाद में जब ऊन, अनाज और गोश्त सभी सुदूर देशों में सस्ते उत्पन्न किये जाने लगे तो भारी मात्रा में उनका आयात किया जाने लगा। अतः कृषि-उद्योग को परावर्तित परिस्थितियों के अनुसार दूध, अण्डा, सूअर और बागवानी उद्योग की ओर आकर्षित करना पड़ा। कृषि की पद्धति में परिवर्तन होने से अन्नोत्पादन से प्रवृत्ति पशु उत्पादित वस्तुओं और फल-फूल तथा साग-पात के उत्पादन पर अधिक केन्द्रित होती गई। कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल सन् १८७२ से १९३९ तक निरन्तर घटता रहा। प्रथम महायुद्ध काल में माँस, डेयरी और मुर्गियों के लिए ब्रिटेन को अधिकाधिक अन्य देशों पर निर्भर होना पड़ा।

प्रथम महायद्ध के पश्चात् का काल

खाद्यान्न के अभाव तथा निरन्तर बढ़ते हुए मूल्यों के कारण आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था। इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न करने में उन देशों की आर्थिक नीतियाँ सहायक सिद्ध हुईं जहाँ अर्थ-व्यवस्था की उपयुक्तता के अनुसार कृषि वस्तुओं को संरक्षण प्राप्त था। कहा जाता है कि न्यूजीलैंड का पनीर और मक्खन इंग्लैंड में सस्ता पड़ता था जबकि वहीं न्यूजीलैंड में उपभोक्ताओं के लिए महँगा था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यदि न्यूजीलैंड का मक्खन इंग्लैंड में खरीदा जाकर पुनः न्यूजीलैंड जहाज द्वारा निर्यात किया जाता तब भी लाभ कमाया जा सकता

था। यही हाल फ्रांसीसी आटे का था जो फ्रांस में प्रचलित मूल्यों के एक तिहाई में ही इंगलैंड में प्राप्त हो जाता था।

कृषि को संरक्षण

सरकार ने कृषि की गिरती हुई दशा को ध्यान में रखते हुए प्रथम महायुद्ध से पूर्व और युद्ध काल में अन्न उत्पादन, उपभोग, यातायात एवं संचय सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान की थीं। किन्तु सन् १९३० के आर्थिक संकट ने किसान की कमर तोड़ दी। अतः सरकार ने संरक्षणात्मक नीति के अन्तर्गत दो प्रकार के अधिनियम स्वीकार किये—एक जो विशिष्ट प्रकार के थे और दूसरे वे जो साधारण कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित थे।

विशिष्ट अधिनियमों में सन् १९३२ के **गेहूँ अधिनियम** (Wheat Act) मुख्य था जिसके अनुसार आर्थिक सहायता और निश्चित गेहूँ उत्पादन की मात्रा का मूल्य निर्धारण किया जाता था। गेहूँ का प्रति क्वार्टर मूल्य १० शिलिंग निश्चित कर दिया गया और उसकी पूर्ति सरकार द्वारा की जाने लगी। इसी अधिनियम के अन्तर्गत एक **गेहूँ-आयोग** की स्थापना भी की गई जो प्रतिवर्ष के अन्त में विक्रय के औसत मूल्यों का निर्धारण करता था। यदि इस प्रकार की निर्धारित कीमत प्रामाणिक मूल्य से कम होती तो हर उत्पादक की घाटा-पूर्ति की जाती थी। जिस कोष से यह भुगतान किया जाता था वह आटे के उपभोग पर कर लगाकर संग्रह किया जाता था। २७० लाख क्वार्टर से ऊपर उत्पादन पर घाटा-पूर्ति कम या बिल्कुल ही नहीं की जाती थी जिससे उत्पादन की मात्रा नियन्त्रित रहे। इस गेहूँ नीति का इस आधार पर विरोध किया गया कि इस नीति का आधार व्यर्थ था क्योंकि नई दुनियाँ के गेहूँ उत्पादन की तुलना में इंगलैंड का कृषक गेहूँ उत्पादन में टिक नहीं पाता था परन्तु किसानों ने इस नीति की इसलिये सराहना की कि उन्हें संरक्षण दिया गया था।

साधारण अधिनियमों में सन् १९३१ का **कृषि बाजार अधिनियम** (Agricultural Market Act) मुख्य है। जिसमें कृषि संगठनों की आवश्यकता पर बल दिया गया। इस समय से पूर्व तक इस प्रकार कोई संस्था नहीं थी जो कि वस्तुओं के श्रेणीकरण, नाप-तोल, यातायात, मूल्य सूचना का आधार बनाती। इस अधिनियम के पीछे यही भावना थी कि किसानों को इस प्रकार की सुविधाएं प्रदान की जायें जिससे वे अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकें। सन् १९३१ का अधिनियम १९३३ में संशोधित किया गया। इसमें सरकार को इस प्रकार के अधिकार दिये गये कि वह वस्तुओं के आयात को सहकारी क्रय-विक्रय समितियों के हितों में नियमित और नियन्त्रित करे। इन दोनों बाजार अधिनियमों से घरेलू उत्पादन और कषि वस्तुओं का आयात नियमित हो सका।

उपर्युक्त दोनों बाजार अधिनियमों से जो संरक्षण किसान को दिया गया वह आयात-कर अधिनियम १९३२, द्वारा पुष्ट किया गया। इस अधिनियम के द्वारा (अ) आयातों पर प्रतिबन्ध लगाया गया, (आ) विदेशों द्वारा ब्रिटिश माल के प्रति भेद-भाव बरतने का समाधान प्रस्तुत किया गया और (इ) सरकारी आय में वृद्धि की गई। इस अधिनियम से किसानों को कई लाभ व सुविधाएं प्राप्त हुईं परन्तु साथ ही साथ विदेशों से आयात किये गये कृषि-यंत्रों तथा रासायनिक खाद पर अधिक कर देने पड़े।

सरकारी संरक्षण नीति के मुख्य आधार निम्नलिखित थे :—

(१) विशिष्ट मात्रा के उत्पादन के लिए गेहूँ के मूल्य की गारन्टी करना।

(२) जौ और जई की न्यूनतम कीमत निर्धारित करना।

(३) कृषकों को कृषि सुधार के लिए आर्थिक सहायता देना।

(४) घरेलू उत्पादन का उत्पादक नियन्त्रण द्वारा बाजार में नियमन तथा 'सरकारी नियन्त्रण' द्वारा आयातित वस्तुओं का नियन्त्रण करना उदाहरणार्थ चुकन्दर के लिए।

(५) घरेलू उत्पादन का नियंत्रण करना और आयात पर कर लगाना।

(६) आयात कर—बागवानी की वस्तुओं पर लगाना।

सन् १९३७ के कृषि अधिनियम में आर्थिक सहायता प्राप्त गेहूँ की राशि २७० लाख क्वार्टर से ३६० लाख क्वार्टर तक बढ़ा दी गई। इसी प्रकार जौ के उत्पादन को भी सन् १९३७ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रामाणिक मूल्य की सहायता का आश्वासन दिया गया। इसी प्रकार का संरक्षण जई को भी प्रदान किया गया।

आधुनिक इंगलैंड की कृषि में चकन्दर का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सन् १९२५ से पूर्व चुकन्दर की फसल नगण्य थी किन्तु सन् १९३४ में ४ लाख एकड़ भूमि में इसकी खेती होती थी जो कि देश की चीनी की चौथाई आवश्यकता की पूर्ति करता था। चुकन्दर की खेती को प्रोत्साहन मिलने का कारण सन् १९२५ का **ब्रिटिश शक्कर (आर्थिक-सहायता) अधिनियम** था जिसके अन्तर्गत १० वर्ष के लिए आर्थिक सहायता की घोषणा की गई थी। सन् १९३६ में **शक्कर उद्योग (पुनर्गठन) अधिनियम** में इस प्रकार की सहायता अनिश्चित काल के लिए देने की घोषणा की गई। इस प्रकार की आर्थिक सहायता प्रति वर्ष ५,६०,००० टन शक्कर के उत्पादन तक ही सीमित रखी गई। इसी अधिनियम के अन्तर्गत शक्कर उद्योग के वैज्ञानिकन का प्रश्न उठाया गया। अतः सभी शक्कर फैक्टरियाँ **ब्रिटिश शुगर कॉरपोरेशन लिमिटेड** में शामिल करली गईं जिसका निरीक्षण अब स्थायी शक्कर आयोग द्वारा किया जाता है।

द्वितीय महायुद्ध और आंग्ल कृषि

प्रथम महायुद्ध की तरह द्वितीय महायुद्ध काल में आंग्ल-कृषि सीधी सरकारी नियन्त्रण में आगई। खाद्य की जटिल समस्या ने सरकार को इस प्रकार के आवश्यक कदम उठाने के लिए विवश कर दिया। खाद्यान्नों के अभाव के निम्नलिखित कारण थे :—

(१) युद्ध छिड़ जाने से विदेशों से अन्न का आयात सम्भव नहीं था।

(२) कृषि-श्रमिकों की कमी के कारण उत्पादन कम हो गया। श्रमिकों को अनिवार्यतः सेना में भरती किया जाने लगा तथा महिला श्रमिकों को चिकित्सा और सेवा कार्यों में नियोजित किया जाने लगा। उसका परिणाम यह हुआ कि कृषि चौपट हो गई।

(३) हिटलर के जल-युद्ध के कारण आयात पर भारी रोक लग गई। इससे जल मार्गों से खाद्य सामग्री आयात न होने से भीषण संकट उपस्थित हो गया।

(४) देश की रक्षा और राजनैतिक स्वतन्त्रता की आकर्षण-शक्ति ने परिस्थितियाँ और जटिल बना दीं। सरकार को निम्न कारणों से भी अन्नोत्पादन की ओर ध्यान देना पड़ा :—

(अ) सेना को पर्याप्त भोजन देना आवश्यक था और सैनिकों की संख्या वृद्धि पर थी।

(आ) विदेशों द्वारा निर्यात बन्द कर दिया गया था।

(इ) जहाजों के किरायों में वृद्धि हो गई थी क्योंकि जहाजों का अधिकाधिक उपयोग कार्यों के लिए होने लगा।

(५) अतः सरकार ने इंग्लैंड की भूमि पर ही खाद्य उत्पादन को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया।

(६) कृषि को स्वेच्छा के बजाय राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नियंत्रित और नियमित किया गया। सरकारी रीति-नीति के अनुसार ही फसलों का उत्पादन होता था। युद्धकालीन कृषि-समितियों की स्थापना ने इस कार्य में अधिक सहायता पहुँचाई। इसी समय कृषि गवेषणा परिषद और कृषि सुधार परिषद की भी स्थापना की गई।

युद्धोपरान्त काल से अब तक की आंग्ल कृषि की स्थिति का अध्ययन

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् कृषि उत्पादन के महत्व को अंगीकार किया गया और यह अनुभव किया गया कि सरकारी नीति इस बारे में अधिक स्पष्ट और सुदृढ़ होनी चाहिए। सन् १९४७ में **कृषि अधिनियम (Agriculture Act)** पारित किया गया जिसका मुख्य ध्येय कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना और मूल्यों में स्थायित्व लाने का प्रयत्न करना है। जिस समय यह नियम स्वीकार किया गया उस समय खाद्यान्नों का अभाव था अतः सरकार ने अन्न का क्रय प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त राशनिंग और नियन्त्रण भी चालू किये। इस अधिनियम की नीति का यह फल हुआ कि सन् १९५२ में युद्ध पूर्व स्तर से उत्पादन ५० प्रतिशत ऊँचा हो गया। धीरे-धीरे परिस्थिति में सुधार होने पर अन्न का राजकीय व्यापार छोड़ दिया गया।

खाद्यान्नों के अभाव की समाप्ति के साथ ही सरकारी नीति में भी अत्यधिक परिवर्तन हुआ। सन् १९५९ में कृषि उद्योग की समीक्षा के पश्चात् सरकार ने निम्नलिखित आधारों पर अधिक जोर दिया :—

(१) भूमि का जोता जाने वाला भाग जितना अभी है उतना ही रखा जाय परन्तु गेहूँ और राई के उत्पादन को और अन्य फसलों की तुलना में कम कर दिया जाय।

(२) पशु-धन के लिए घास चारे के घरेलू उत्पादन पर अधिक निर्भर रहा जाय।

(३) बाजार की माँग के अनुसार गाय के माँस का उत्पादन बढ़ाया जाय।

(४) मेमने और सुअर के उत्पादन मूल्यों में कमी की जाय।

(५) दूध और अण्डों का उत्पादन बढ़ाया जाय।

सरकार का दीर्घकालीन कृषि सुधार का दृष्टिकोण यह है कि कृषि को प्रतियोगात्मक उद्योग के रूप में संगठित किया जाय। आधुनिक कृषि की विशेषताएं इस प्रकार हैं :—

(१) **खेतों की संख्या**—सन् १९६१ के आँकड़ों के अनुसार ब्रिटेन में ५,०६,००० खेत हैं (जिसमें चरागाह की इकाइयाँ शामिल नहीं हैं) जिनमें ३,०८,००० इंग्लैण्ड में, ५३,०००*वेल्स में; ६६,००० स्काटलैंड में, ७३,००० उत्तरी आयरलैण्ड में स्थित हैं। लगभग ३/४ खेत ५० एकड़ या उससे कम भूमि वाले, १९ प्रतिशत (९६,००० खेत) १०० एकड़ से ऊपर ३ प्रतिशत (१६,००० खेत) ३०० कृषि एकड़ से ऊपर वाले खेत हैं। लगभग १० लाख व्यक्ति कृषि-कार्य में नियोजित हैं जिसमें १/३ किसान हैं बाकी भुगतान लेकर काम करने वाले श्रमिक और कृषक परिवार हैं।

(२) **स्वामित्व**—कई किसान भूमि के मालिक हैं किन्तु अधिकतर काश्तकार हैं जिनको लगान की सुरक्षा दी गई है जो भूमि पर कृषि करने, पशु-धन और चल साधन रखने के अधिकारी हैं जबकि भूमिपतियों (Landlords) को भूमि, मकान, स्थायी साधन रखने होते हैं तथा भूमि के विकास का दायित्व उनका है। सन् १९५० में संयुक्त-राष्ट्र संघ के खाद्य व कृषि आयोग (U. N. F. A. O.'s World Census) द्वारा विश्व गणना का कार्य किया गया उसमें संग्रहित विवरण के अनुसार इंग्लैंड और वेल्स के ३५% खेतों के किसान मालिक हैं, ४९ प्रतिशत किराए पर उठाई गई जमीन हैं जो काश्तकारों के पास है तथा १५ प्रतिशत भूमि आधी खुद की और आधी किराये की है। अधिकांश में कृषक-विभिन्न संस्थाओं में एक या अधिक के सदस्य हैं। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय-कृषक संघ तथा कृषि सहकारी समितियाँ जो कृषकों को खरीदने और बेचने की सुविधाएं प्रदान करती हैं।

(३) **कृषि प्रणालियाँ**—मिट्टी और जलवायु की भिन्नता के साथ ही कृषि की प्रणालियों में परिवर्तन पाया जाता है। इंग्लैंड और वेल्स में ३०·६ लाख एकड़ भूमि में कृषि होती है तथा ५० लाख एकड़ केवल घास और चारा उत्पन्न किया जाता है।

(४) **उत्पादन**—द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ब्रिटेन अपनी आवश्यकता का अन्न ३१% उत्पादित करता था। सन् १९६२ तक लगभग ब्रिटेन ४० प्रतिशत तक उत्पादन करने लगा था। युद्ध से पूर्व ४५ प्रतिशत अन्न का आयात किया जाता था किन्तु अब ३८ प्रतिशत अन्न का ही आयात किया जाता है।

(५) **यन्त्रीकरण**—ब्रिटेन में १९२५ में लगभग २१,०००; १९३९ में ५,५७,००० व १९६१ में ४,८१,००० ट्रेक्टर थे। ब्रिटेन ट्रेक्टर के अनुसार घना आबाद है। प्रति ३६ एकड़ पर एक ट्रेक्टर है। इसी प्रकार फसल साफ करने के यंत्रों (Harvest threshers) की संख्या सन् १९६१ में ६४,००० थी जबकि सन् १९३९ में उनकी संख्या केवल १५० थी। विद्युत यन्त्रों का प्रयोग भी दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है विशेषतः दूध दुहने की मशीनों ने इन वर्षों में ख्याति प्राप्त की है।

सरकार और कृषि

इस शताब्दी में (विशेषतः स्वतन्त्र व्यापार नीति के परित्याग के पश्चात्) सरकार की रुचि कृषि विकास की ओर अधिकाधिक बढ़ती चली जा रही है। सरकार

ने कृषि अधिनियम १९४७ के अंतर्गत इस बात का प्रयत्न किया है कि देश में कम कीमत पर कृषि-उत्पादन हो और कृषि को उचित लाभ प्राप्त हों।

सरकार ने कृषि सुधारने के लिए अनेक परिषदों की स्थापना की है। इंग्लैंड तथा वेल्स में **काउन्टी-एग्रीकलचर-एक्जीक्यूटिव-कमेटियों** की भी स्थापना की गई है। स्कॉटलैंड तथा उत्तरी आयरलैंड में भी इसी प्रकार की समितियाँ स्थापित की गई हैं। इन समितियों में सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिनिधि शामिल किए जाते हैं जो कि विकास कार्यक्रम तैयार करते हैं।

सन् १९४७ के अधिनियम के अन्तर्गत कृषि-आयोग की भी स्थापना की गई है। लगान की सुरक्षा भी सरकारी नीति का अंग रहा है। इंग्लैंड तथा वेल्स में १९२३ का कृषि-इकाई (Agricultural Holdings) अधिनियम प्रचलित है जिसके अनुसार किसान को यदि बेदखल करना है तो एक वर्ष की सूचना दी जानी चाहिए तथा मुआवजे की भी व्यवस्था की गई है। १९४८ के संशोधित अधिनियम में अपील करने का अधिकार भी कृषक को दिया गया है।

कृषि वस्तुओं के उत्पादन में सुधार तथा पशु-धन के विकास के लिये भी सरकारी प्रयत्न किये जाते हैं। कृषि बाजार की ओर भी कुछ वर्षों से सरकार का ध्यान गया है। इसके लिए सन् १९५८ में कृषि बाजार अधिनियम स्वीकार किया गया जिसमें बाजार मण्डल और सहकारी-समितियों की स्थापना आदि की व्यवस्था है। **'केन्द्रीय कृषि सहकारी संघ लिमिटेड'** प्रतिनिधि संस्था है जो एक ओर राष्ट्रीय-किसान संघ (National Farmer's Union) तथा दूसरी ओर कृषि सहकारी समितियों में सामंजस्य स्थापित करती है। दुग्ध-वितरण, फल-उत्पादन, पशु-धन, नस्ल-सुधार कार्य के लिए भी विविध अधिनियम स्वीकृत किए गए हैं।

सरकार उत्पादन को बढ़ाने के लिये निम्नलिखित ढंग से सहायता देती है :—

		मिलियन पौण्ड में		
१.	कृषि सहायता तथा अनुदान	१९५८-५९	१९५९-६०	१९६०-६१
	फर्टीलाइजर-सहायता	२५·८	२९·४	३२·२
	लाइम-सहायता	९·२	११·०	९·०
	चरागाह जोतने सम्बन्धी सहायता	९·२	९·४	१०·७
	खेतों की नाली व सिंचाई सहायता	२·७	३·३	३·६
	पशु-धन सुधार के लिये नियोजित भूमि सहायता	१·५	१·५	१·६
	सीमान्त उत्पत्ति सहायता	२·२	१·७	१·०
	बोनस टी० बी० (Attested Herds) सहायता	८·५	९·०	८·९
	पशु-नस्ल सुधार	·०१	—	
	बछड़ा सहायता	१४·३	१६·५	१८·०

पहाड़ी भेड़ और पहाड़ी पशु	३·१	४·१	५·३
सीलो सहायता	१·०	१·४	०·६
खेत सुधार सहायता	३·३	६·६	८·२
छोटे किसानों को सहायता	—	१·१	६·३
अन्य सहायता	—	०·१	०·२
कुल योग १॥	८०·६	६५·१	१०५·६
२. कृषि मूल्य नियन्त्रण सहायता			
अनाज			
गेहूँ और जई	१६·३	२०·४	१८·१
जौ	२३·५	२५·१	३३·८
जई और मिश्रित अन्न	६·८	१२·८	११·८
	५२·६	५८·४	६३·७
आलू			
घरेलू अण्डा उत्पादन	३३·७	१·०	७·४
चर्बी वाले पशु		३३·१	२३·५
पशु	१२·५	३·४	११·७
भेड़	११·७	२५·४	१३·६
सुअर	२०·६	२२·२	१८·६
	४५·१	५०·६	४४·२
दुग्ध (स्कूल और कल्याणकारी दूध के अतिरिक्त)	१०·१	८·५	१०·६
ऊन	६·३	२·८	२·८
कुल योग २ :	१५४·७	१५४·७	१५२·५
कुल योग नकद (१+२)	२३५·६	२५२·४	
प्रशासनिक इकाइयाँ (जो १ तथा २ पर लागू हैं)	५·०	५·५	
कुल योग (१+२)	२४०·६	२४६·८	२५८·४
३. अन्य सेवाएँ		५·६	६·१
उत्तरी आयरलैण्ड के कोष को सहायता	०·८	१·२	१·१
कुल कृषि सहायता अनुमानित राशि	२४१·४	२५६·६	२६५·६

(*Source : Britain : An official Handbook—1962 Page 346*)

वर्तमान कृषि उत्पादन

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर कृषि उत्पादन कार्यों में काफी कम हो गई थी बहुतसी भूमि जिस पर पहले कृषि जाती थी अब चरागाहों के लिए छोड़ दी गई किन्तु युद्ध काल में लगभग ७० लाख एकड़ भूमि जहाँ चरागाह थे फिर से कृषि के अन्तर्गत लेली गई। आलू का क्षेत्रफल लगभग दुगुना बढ़ गया तथा गेहूँ और जौ का क्षेत्रफल दुगुने से कुछ कम। चौपायों की संख्या में भी कुछ वृद्धि हो गई किन्तु भेड़ें, मुर्गियों और सूअरों की संख्या में कुछ कमी हो गई। द्वितीय युद्ध के उपरान्त पशु संपत्ति में बड़ी वृद्धि हुई क्योंकि पौंड पावना की स्थिति में सुधार होने से विदेशों से पशुओं के लिए खाद्य आयात करने में सुविधा हो गई।

दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन खाद्यान्नों के उत्पादन में हुआ। आलू और जई को छोड़ कर सभी खाद्यान्नों, भेड़ तथा मेमने के माँस, गैर-माँस और दूध के उत्पादन में बड़ी वृद्धि हुई है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व की तुलना में सूअर के माँस और अंडों के उत्पादन में ७० तथा १०० प्रतिशत की वृद्धि हुई और दूध में ६५% की। पिछली दशाब्दी में प्रति गाय पीछे दूध का उत्पादन २०% बढ़ा है और एक गाय का औसत उत्पादन इस समय ७५० गैलन वार्षिक है।

कृषि के विकास के लिए इस समय सरकार द्वारा ये सुविधायें दी जा रही हैं:—

(१) सरकार द्वारा अनाज के न्यूनतम भाव निश्चित किए जाते हैं। इनसे कम मूल्य हो जाने पर किसान को होने वाली हानि के लिए सरकार उसकी क्षति पूर्ति करती है। पशु, भेड़, सूअर, गोश्त, अंडे, ऊन, दूध, अनाज आलू और चुकन्दर के लिए इस प्रकार के मूल्य निर्धारित किये जाते हैं।

(२) कृषि उत्पादन को बढ़ाने के खाद और कैलशियम खरीदने, घास उगाने बछड़े और बछड़ियाँ पालने, कृषि के शत्रु पशुओं को नष्ट करने लिए सरकार वित्तीय सहायता देती है।

(३) दीर्घकालीन कृषि सुधारों के लिए फार्म, भवन, सड़कें, बाड़ा, बिजली आदि की व्यवस्था करने, छोटी इकाइयों को बड़ी इकाइयों में बदलने, फलों का उत्पादन क्षेत्र बढ़ाने सिचाई योजनाओं को कार्यान्वित करने और खेतों में यन्त्रों का उपयोग करने के लिए १९५० के अधिनियम के अन्तर्गत सहायता दी जाती है।

(४) प्रत्येक क्षेत्र में कृषक को खेती और बागवानी की शिक्षा देने के लिए National Agricultural Advisory Service तथा Agricultural Land Service नामक संस्थायें कार्य कर रही हैं।

नीचे की तालिकाओं में कृषि सम्बन्धी आवश्यक आँकड़े प्रस्तुत किए गए हैं—

पशु सम्पति (लाख में)

	१९३९	१९४४	१९६०	१९६१
चौपाये	३९	४४	४८	५०
अन्य पशु				
भेड़ें	२६९	२०१	२७९	२९०

सूअर	४४	१६	५७	६०
मुर्गियाँ	७४४	५५१	१०३०	११४३
घोड़े	११	६	२	——

कृषि उत्पादन

वस्तुएँ	महायुद्ध के पूर्व का औसत	१९४६-४७	१९६१-६२ (अनुमानित)
गेहूँ	१६·५१ लाख टन	१९·६७ लाख टन	२५·७३ लाख टन
राई	००·१० ,,	००·३९ ,,	००·१८ ,,
जौ	७·६५ ,,	१९·६३ ,,	४९·७४ ,,
जई	१९·४० ,,	२९·०३ ,,	१८·२२ ,,
मिश्रित अनाज	०·७६ ,,	३·५० ,,	१·६९ ,,
आलू	४८·७३ ,,	१०·१६६ ,,	६२·०३ ,,
चुकन्दर	२७·४१ ,,	४५·२२ ,,	५९·३७ ,,
दूध	१५·५६ लाख गैलन	१६·५३ लाख गैलन	२५·६६ लाख गैलन
अंडे	३·८५ लाख टन	३·२२ लाख टन	७·५९ लाख टन
गौ मास	५·७८ ,,	५·३७ ,,	८·६५ ,,
सूअर का मास	१·९६ ,,	१·४१ ,,	२·६७ ,,
भेड़ों का मास	४·३५ ,,	२·११ ,,	७·४५ ,,
ऊन	००·३४ ,,	०·२७ ,,	००·३९ ,,
निर्देशांक	१००	१२४	१८३

अध्याय ६

मध्यकालीन औद्योगिक व्यवस्था
(Medieval Industrial System)

यदि इंगलैण्ड की औद्योगिक व्यवस्था का सुचारु रूप से अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि आधुनिक फैक्टरी व्यवस्था तक पहुँचने में औद्योगिक व्यवस्था के कई सोपानों से निकलना पड़ा है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से औद्योगिक व्यवस्था को चार सोपानों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) गृह-उद्योग प्रणाली (House-hold System)

(२) गिल्ड-प्रणाली (Gild System)

(३) घरेलू-प्रणाली (Domestic System)

(४) कारखाना प्रणाली (Factory System)

इनका सम्यक् अध्ययन इस बात को स्पष्ट करता है कि इन विभिन्न प्रणालियों के अन्तर का आभास पूँजी के नियोजन और बाजार के संकुचन तथा विस्तार पर निर्भर करता है। इन विभिन्न प्रणालियों का क्रमशः अध्ययन इस प्रकार है :—

(१) गृह-उद्योग प्रणाली (House hold System)—यह औद्योगिक विकास की सबसे प्रारम्भिक अवस्था थी। यह आर्थिक स्वावलम्बन की दशा का संकेतक है। इस अवस्था में कषि, पशुपालन, आखेट इत्यादि के साथ-साथ अनिवार्य पदार्थों का निर्माण घरों पर ही कर लिया जाता था। उदाहरणार्थ, वस्त्र, चमड़ा इत्यादि का निर्माण। इस अवस्था में औद्योगिक क्रिया कषि का ही एक अंग था। पूँजी नाम मात्र की थी तथा बाजार अत्यन्त संकुचित और प्रारम्भिक अवस्था में ही थे।

(२) गिल्ड प्रणाली (Gild System)—यह औद्योगिक विकास की दूसरी स्थिति थी। इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते इंगलैंड निवासियों की आवश्यकताओं में वृद्धि और विविधता आ गई। इस प्रणाली के उदय के साथ ही उद्योग या व्यवसाय को कृषि से भिन्न आर्थिक क्रिया समझा गया। एक प्रणाली के रूप में इस प्रथा का विकास १२ वीं शताब्दी में हुआ और क्रमशः यह व्यापारिक और औद्योगिक रूप में विकसित होती गई। गिल्ड व्यवस्था के अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से दो मुख्य भाग किये जा सकते हैं :—

(१) व्यापारिक गिल्ड (Merchant gild)

(२) कारीगर गिल्ड (Craft gild)

इनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है :—

(१) व्यापारिक संघों का उद्‌गम एवं विकास

बारहवीं शताब्दी में शहरों को मैनोरियल भू-स्वामियों तथा इंग्लैंड के सम्राट द्वारा कुछ विशिष्ट अधिकार प्रदान किये गये थे। समय-समय पर इन भू-स्वामियों द्वारा व्यापारियों को कुछ आर्थिक और व्यापारिक सुवधाएं प्रदान की जाती थीं। इंग्लैंड के इतिहास में यह वह समय था जबकि सम्पूर्ण के यूरोप के ईसाई राष्ट्र धार्मिक युद्धों (Crusades) में लगे हुए थे। इंगलैण्ड के सम्राट की सहायता के लिए धार्मिक-युद्धों में जाने वाले मैनोरियल भू-स्वामी धन प्रति के लिये कस्बों में रहने वाले व्यापारियों को कुछ विशेष अधिकार दे दिया करते थे और बदले में धन प्राप्त कर लिया करते थे। व्यापारिक संघ इन्हीं विशेष अधिकारों की उपज हैं। प्रारम्भिक स्थिति में ये संघ अल्प-संख्यक थे परन्तु धीरे-धीरे ये अधिक शक्तिशाली हो गये और शहरों एवं कस्बों की नगरपालिकाओं तथा स्थानीय संस्थाओं पर छा गये। इस प्रकार कस्बों की प्रशासन-व्यवस्था व्यापार नियन्त्रण नियमन और संचालन, इन संघों के हाथ में आ गये। इन संघों की विशेषताएं ये थीं :—

(१) व्यापारिक संघ विदेशियों के प्रति कड़ी निगरानी रखते थे। उन्हें स्थानीय और राष्ट्रीय व्यापार में कुछ प्रतिबन्धात्मक रूप में कार्य करने की अनुमति दी जाती थी।

(२) बाजार में क्रय-विक्रय की वस्तुओं की कीमत का निर्धारण संघों द्वारा होता था।

(३) वस्तुओं में मिलावट, अधिक मूल्य लेना, कम तोलना, गलत बाँटों का उपयोग तथा खराब वस्तु देने पर कड़ी निगरानी रखना और कड़ी सजाएं दी जाती थीं।

(४) विदेशी व्यापार का संचालन बिना केन्द्रीय सरकार की आज्ञा के भी इन संघों द्वारा संचालित होता था।

व्यापारी संघों के दो और भी प्रमुख कार्य थे :—

(१) प्रशासनिक कार्य, और।

(२) धार्मिक और सामाजिक कार्य।

(१) **प्रशासनिक कार्य**—व्यापारी संघ धीरे-धीरे स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं पर इतने हावी होगये कि नगर की शासन-व्यवस्था इन्हीं के द्वारा चलाई जाने लगी। व्यापारिक संघ अपने चुनाव द्वारा किसी भी व्यक्ति को चुनकर उसके द्वारा स्वास्थ्य, सफाई इत्यादि का प्रबन्ध करते थे।

(२) **धार्मिक और सामाजिक कार्य**—व्यापारी संघ आज के चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स के समान संस्थाएं तो थी हीं परन्तु वे इन आधुनिक संस्थाओं से कुछ और भी अधिक थीं। ये अपने सदस्यों के सामाजिक हितों का ध्यान रखती थीं। इनका कार्य अपने सदस्य को आर्थिक सहायता देना, सदस्यों की साधारण शिक्षा तथा चिकित्सा का प्रबन्ध करना, संघ के अन्तर्गत अनाथों, विधवा और अपाहिजों को रोजगार देना और उन्हें आर्थिक वृत्ति सुलभ करना तथा सदस्यों के विवाह, मृत्यु

इत्यादि कार्यों में सहायता करना। इस प्रकार ये संघ आधुनिक योजनाओं का आंशिक रूप में पालन करते थे। १३ वीं शताब्दी इनके विकास का स्वर्ण युग है जबकि इन संघों का अत्यधिक विकास और प्रसार हुआ।

(२) कारीगर संघों का (Craft Gild) उद्गम एवं विकास

व्यापारी संघों के समान ही कारीगर संघों का मध्यकालीन इंग्लैंड की आर्थिक-अवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। व्यापार और कृषि से भिन्न रूप में इनका उद्गम १२वीं और १३वीं शताब्दी में हुआ। इनके उद्गम के बारे में अर्थ-शास्त्री एक मत नहीं हैं। जो विभिन्न सिद्धान्त इनके उद्गम के बारे में प्रचलित हैं वे इस प्रकार हैं :—

(१) कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मानना है कि यूरोप के देशों से धार्मिक या राजनीतिक प्रताड़नाओं से भागे हुए और इंग्लैंड में आकर बसे हुए कारीगरों ने इस प्रकार के संघों को जन्म दिया।

(२) कुछ अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता है कि असन्तुष्ट श्रमिकों ने अपने आपको अलग से संगठित कर लिया था। कालान्तर में ये ही कारीगर संघों का रूप धारण कर सके।

(३) कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार व्यापारी संघों के साम्य और सादृश्य पर कारीगरों ने अपने भी संघ अलग बना लिये।

(४) कुछ अर्थशास्त्रियों की यह धारणा कि व्यापारी संघों ने ही (जो कि व्यापार और उद्योग दोनों का ही संचालन करते थे,) सुविधा और कुशलता की दृष्टि से अपने को दो विभागों में विभाजित कर लिया था।

उपर्युक्त विचारधाराओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि सम्भवतया सभी प्रकार की विचारधाराओं ने सम्मिलित और समन्वित रूप से कारीगर संघों के उद्गम में सहायता दी होगी। सर्वप्रथम इस प्रकार के संघों का गठन जुलाहों में हुआ। तत्पश्चात् ये अन्य उद्योगों में भी गठित हुए। इस संघों के उद्देश्य निम्न थे :—

(१) उद्योगों का नियन्त्रण और नियमन।
(२) मजदूरी का नियमन।
(३) वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण।
(४) धार्मिक कार्यों का संपादन।
(५) मित्र संघों के रूप में सदस्यों की सहायता।
(६) आमोद-प्रमोद के साधन जुटाना।
(७) विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से रक्षा।
(८) आपसी झगड़ों को हल करने के लिये मध्यस्थ का कार्य करना।

व्यवस्था और संगठन

इन कारीगर संघों का संगठन तीन प्रकार की श्रेणियों से मिलकर हुआ :—

(१) चतुर कारीगर (Master Craftsmen)
(२) साधारण कारीगर (Journey men)
(३) सीखने वाले (Apprentices)।

(१) **चतुर कारीगर**—यह मध्यकालीन औद्योगिक व्यवस्था का नायक होता था। चतुर कारीगर की अपनी शिल्पशाला होती थी जो उसी के प्रयत्नों से आरम्भ की जाती थी। इसमें उसके आधीन कई कारीगर व श्रमिक होते थे। ऐसे कारीगर या प्रशिक्षित श्रमिक मजदूरी पर रखे जाते थे। चतुर कारीगर के पास अपने औजारों और काम में आने वाली सामग्री के अतिरिक्त बहुत कम पूँजी होती थी। वह साधारणतया ग्राहकों द्वारा दी गई सामग्री पर आदेशानुसार कार्य करता था। वह ग्राहकों से परिचित होता था और उनका संरक्षण बनाये रखने के लिये अपनी व्यक्तिगत ख्याति या प्रतिष्ठा पर आश्रित रहता था। उद्योग के संगठन एवं अनुशासन का उत्तरदायित्व इसी नायक पर होता था। वह अपनी शिल्पशाला में नियोजित श्रमिकों के खाने-पीने का भी प्रबन्ध करता था।

(२) **साधारण श्रमिक**—ये वे प्रशिक्षित श्रमिक होते थे जिन्हें शुल्क देकर गिल्ड का सदस्य बनना पड़ता था और जिन्हें कार्य के लिये नायक से वेतन मिलता था। ये प्रशिक्षित श्रमिक कई वर्षों के अनुभव के पश्चात् मास्टर-क्राफ्ट मेन बन जाते थे। प्रशिक्षित श्रमिक किसी शिल्पशाला में काम करते रहने को अपने जीविकोपार्जन की अन्तिम अवस्था नहीं मानता था। वह निरन्तर इस प्रकार के प्रयत्न में संलग्न रहता और राह देखता था कि कभी वह मास्टर-क्राफ्टमेन बन सके। अतः मजदूरी के प्रश्न पर अधिक ध्यान न होकर उसका ध्यान अलग से शिल्पशाला स्थापित करने पर रहता था। वह जब तक मास्टर-क्राफ्ट मेन के यहाँ नियोजित रहता उसी के मकान में रहता था और उसके भोजन इत्यादि का प्रबन्ध भी उसी के यहाँ होता था। यह शिल्पशाला का मास्टर-क्राफ्टमेन के बाद महत्वपूर्ण अंग था, इसी के सहयोग पर मास्टर-क्राफ्टमेन की प्रतिष्ठा निर्भर थी।

(३) **सीखने वाला श्रमिक**—कारीगर संघों के ऐतिहासिक विवरणों में यह स्पष्ट आभास मिलता है कि इस प्रकार के श्रमिकों की प्रथा सन् १२६० के पूर्व भी मिलती है। यह वर्ग धीरे-धीरे कारीगर संघों का महत्वपूर्ण अंग बन गया। यद्यपि प्रारम्भिक स्थिति में सीखने वाला ही रहे बिना भी अपनी दक्षता का सन्तोषजनक प्रमाण देने पर कारीगर संघों के सदस्य बना लिये जाते थे तथापि कालान्तर में किसी शिल्प में प्रवेश करने का यही एक मार्ग बन गया था। इस प्रकार के प्रशिक्षण का उद्देश्य न सिर्फ किसी युवक को उत्तम कारीगर बनाना ही था, वरन् उसे उत्तम नागरिक और उत्तम ईसाई बनाना भी था। यही कारण था कि चतुर कारीगर या मास्टर-क्राफ्टसमेन को नौसिखिये, पर पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार था। प्रशिक्षण की अवधि विभिन्न शिल्पों और नगरों में भिन्न-भिन्न थी, परन्तु बाद में चलकर लन्दन के कारीगरों ने ७ वर्ष की उपयुक्त अवधि निश्चित करदी और अन्य नगरों के कारीगर संघों ने भी इसी नीति का अनुकरण किया। सन् १५६३ के शिल्पी अधिनियम के आधीन यह नियम सर्वत्र व्यवहार में लाया गया।

नौसिखियों का प्रवेश नगर के अधिकारियों के अभिलेखों में होता था। नगरपालिकाएँ इस प्रकार के पंजीयन करने के लिये शुल्क लेती थी, अतः कभी-कभी पंजीयन से बचने की प्रवृत्ति के भी प्रमाण मिलते हैं। कभी-कभी मास्टर-क्राफ्टमेन बदलने की आवश्यकता भी नौसिखिया द्वारा अनुभव की जाती थी, इस प्रकार की स्थिति मृत्यु या दीर्घकालीन बीमारी के कारण उत्पन्न होती थी अथवा नौसिखिये के प्रशिक्षण में मास्टर-क्राफ्टमेन द्वारा प्रसंविदा का पूरा-पूरा पालन नहीं करने पर भी

कारीगर संघों द्वारा इस प्रकार की अनुमति दी जाती थी। उद्योगों की प्रारम्भिक अवस्था में नौसिखियों की संख्या सीमित नहीं थी, परन्तु बाद में मास्टर-क्राफ्टमेन के अन्तर्गत इनकी संख्या निश्चित की जाने लगी। यह व्यवस्था नियोजित और नियोजक दोनों के ही दृष्टिकोण से लाभदायी थी। नौसिखियों के दृष्टिकोण से प्रशिक्षण की सुविधा का उत्तम उपयोग तथा बेकारी की समस्या का उचित समाधान होता था तथा मास्टर-क्राफ्टमेन के दृष्टिकोण से अधिक प्रवेशार्थियों की संख्या से उसके समकक्ष व्यक्तियों की प्रतियोगिता का डर रहता था।

कारीगर संघों से लाभ और हानियाँ

इन संघों की उपस्थिति से निम्न लाभ थे :—

(१) रोजगार की निश्चितता।
(२) उचित मजदूरी का निर्धारण और आश्वासन।
(३) सामाजिक संरक्षण।
(४) विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से बचाव।
(५) सामाजिक और धार्मिक लाभ।

किन्तु इनसे निम्न हानियाँ भी थीं :—

(१) इनसे एकाधिकार को बल मिला।
(२) रूढ़िवादिता बढ़ गई।
(३) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन हुआ, और
(४) श्रमिकों को अनुशासन के नाम पर कष्ट भी सहना पड़ता था।

पतन के कारण

कारीगर संघों के पतन के प्रधान कारण निम्न थे :—

(१) साधारण मजदूरों का अधिक सशक्त और अधिकारों के प्रति जागरूक होना जिससे मास्टर-क्राफ्टमैन तथा साधारण मजदूरों में फूट पड़ गई और उनके प्रतिद्वन्दी संघों का निर्माण होने लगा।

(२) कारीगर संघों की सामाजिक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों का अन्त होना।

(३) साधारण सदस्यों पर कारीगर संघों का नियन्त्रण सम्बन्धी अत्याचार होना।

(४) सन् १४३७ और १५०४ के ब्रिटिश सरकार के अधिनियमों ने भी कारीगर संघों के पतन में योग दिया।

(५) छोटे-छोटे कारीगर संघों का बड़े संघों में एकीकरण पतन में सहायक हुआ। सन् १४२३ में सम्पूर्ण इंग्लैंड में इन संघों की संख्या १११ थी जबकि १५३१ में वह केवल ६० ही रह गई।

(६) विशेष प्रकार की पोशाक को जिसे लिवरी कहा जाता था—धारण करने वाली कम्पनियों ने कारीगर संघों की शक्ति को कुचल दिया क्योंकि इन कंपनियों के पास पूँजी और साधन अधिक थे।

(७) कारीगर संघों का व्यापार से भी बहिष्कार इनके पतन में सहायक हुआ।

(८) नगरों की वृद्धि और वैज्ञानिक विकास होना।

(९) घरेलू औद्योगिक-व्यवस्था से आधुनिक औद्योगिक-व्यवस्था की स्थापना भी इन संघों के पतन में सहायक हुई।

कारीगर संघों तथा श्रम-संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन

कभी-कभी इन कारीगर संघों की तुलना आधुनिक श्रम संस्थाओं (Trade Unions) से की जाती है किन्तु इस तुलना में निम्न तथ्य विचारणीय हैं :—

(१) कारीगर संघों का निर्माण सिर्फ चतुर कारीगरों द्वारा ही किया जाता था जबकि आधुनिक श्रम-संस्थायें कुशल और अकुशल कारीगरों के सहयोग से ही बनती हैं।

(२) इस प्रकार के संघों में नियोजक और नियोजित सम्मिलित होते थे किन्तु आधुनिक मजदूर संगठन केवल विशुद्ध रूप से मजदूरों का ही संगठन है।

(३) इस प्रकार के संघों पर नगरों की स्थानीय संस्थाओं का नियन्त्रण होता था किन्तु इस प्रकार का कोई नियन्त्रण इन मजदूर संस्थाओं पर नहीं है।

(४) कारीगर संघ केवल शहरी संस्थाएं ही थीं किन्तु आज के मजदूर संगठनों में ग्रामीण और शहरी तत्व दोनों ही शामिल हैं।

(५) इन कारीगर संघों की कोई केन्द्रीय नियामक सत्ता नहीं होती थी किन्तु इनमें संगठन फेडरेशन या बड़े राष्ट्रव्यापी संगठन से नियन्त्रित होता है।

(६) वे कारीगर संघ सामाजिक और धार्मिक कार्यों का संचालन करते थे किन्तु आज की ये मजदूर संस्थाएं कुछ कुछ सामाजिक कार्य करती हैं।

(३) घरेलू प्रणाली (Domestic System)

गिल्ड प्रणाली के पश्चात् जो प्रणाली अस्तित्व में आयी उसे घरेलू प्रणाली का नाम दिया गया है। जब १४ वीं शताब्दी के पश्चात् गिल्ड प्रणाली का पतन होने लगा तब नवीन पूंजीपति वर्ग का उदय हो रहा था। पूंजी का आविर्भाव आंग्ल उद्योग के क्षेत्र में नवीन घटना थी जो ऊनी उद्योग के उत्पादन की देन थी। ऊन उद्योग के विकास ने ही पुरानी मैनोरियल कृषि व भूमि-व्यवस्था को समाप्त किया जो कि भेड़-पालन या समावरण आन्दोलन के नाम से विख्यात है और इस प्रकार ऊन ही पुराने औद्योगिक ढाँचे गिल्ड प्रथा को समाप्त करने का महत्वपूर्ण कारण थी। घरेलू प्रणाली का महत्व इस रूप में भी है इसने औद्योगिक क्रांति की पृष्ठभूमि का कार्य किया।

उद्गम एवं विकास—इस प्रणाली का विकास बहुत ही धीरे-धीरे हुआ है। इसके विकास में निम्न तत्व प्रमुख रहे हैं :—

(१) गिल्ड प्रथा के अन्तर्गत जिन प्रशिक्षित श्रमिकों को गिल्ड की सदस्यता नहीं मिल पाती थी अथवा जिनको अपनी मजदूरी की दरों से सन्तोष न था वे कारीगर ग्रामीण क्षेत्रों में चले गये और उन्होंने वहाँ अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

(२) श्रम-विभाजन की प्रक्रिया का भी अब अधिक विकास हो गया था। स्वाभाविक रूप में एक ही वस्तु का उत्पादन अलग-अलग विभागों और व्यक्तियों

द्वारा सम्पन्न किया जाने लगा । साहसी या व्यापारी-पूँजपति इन विभिन्न व्यक्तियों के मध्य एक कड़ी या शृंखला का कार्य करता था। वस्तु-उद्योग ने इस प्रकार के व्यक्ति का अस्तित्व अनिवार्य कर दिया क्योंकि एक ऐसे मध्यस्थ व्यक्ति की आवश्यकता थी जो इस प्रकार के कार्य का निरीक्षण और समायोजन करे। यह पूँजीपति मध्यस्थ व्यक्ति न केवल उद्योग का निरीक्षण ही करता था, वरन् वह कच्चा माल भी खरीदता था और पक्के निर्मित माल को बेचता था। पक्के माल से प्राप्त आय से वह मजदूरों की मजदूरी चुकाता और बचत को अपने पास रखता।

पूँजीपति मध्यस्थ के कार्य—इस व्यापारी पूँजीपति के निम्नलिखित कार्य होते थे :—

(१) कच्चे माल की खरीद करना;
(२) कच्चे माल को भिन्न-भिन्न प्रकार के कारीगरों में वितरण करना;
(३) अर्द्ध-निर्मित माल को एक कारीगर से दूसरे कारीगर तक पहुँचाना;
(४) पक्के माल का सग्रह करना;
(५) पक्के माल को बाजार में विक्रय करना;
(६) प्राप्त आमदनी से मजदूरों की मजदूरी का वितरण तथा अवशिष्ट रकम को लाभांश रूप में रख लेना।

इस प्रकार की घरेलू-प्रणाली का प्रचलन ऊनी वस्त्र व्यवसाय के क्षेत्र में सर्वप्रथम आता था। वह इस व्यवस्था का केन्द्र-विन्दु था। ऊनी वस्त्र व्यवसाय में इसे **कपड़े** *वाला* (Clothier) *कहा गया*। इस प्रकार के कपड़े वाले कई कारीगरों को अपने यहाँ नियोजित करते थे। इस प्रकार का ऐतिहासिक प्रमाण १३९५ के सरकारी-विवरणों (Auinageirs reports) से मिलता है। इस प्रकार के व्यवसायी १४ वीं शताब्दी में दृष्टि गोचर होने लगे और १८ वीं शताब्दी तक इनका प्रचार और प्रकार बढ़ गया। इस सम्बन्ध में **कनिघम** नामक आर्थिक इतिहासकार ने लिखा है कि सन् १३३९ में ब्रिस्टिल के थोमस ब्लैन्कट ने कर्घे स्थापित, किये और कारीगरों को किराये पर नियोजित कर सके, ऐसी व्यवस्था कर रहा था । घरेलू-प्रणाली के अन्तर्गत पूँजी शिल्प से अधिक महत्वपूर्ण थी। अतः शिल्पी पूँजीपति पर निर्भर था और शिल्पी की इस प्रकार की स्थिति का पूँजीपति आसानी से लाभ उठा सकता था और उसका शोषण कर सकता था। ऐसे कई उदाहरण मिलते थे कि जिसमें पूँजीपति शिल्पियों को अपना उचित पारिश्रमिक नहीं देता था।

यही कारण था कि सरकार ने घरेलू प्रणाली के विकास को रोकने के लिये कई अधिनियम पारित किये थे। यह आर्थिक शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष था और इस रूप में जितने भी सरकारी प्रयत्न किये गये उनकी समाप्ति असफलता में ही हुई। सन् १४६४ के अधिनियम के अन्तर्गत नियोजकों से नियोजितों को वैधानिक मजदूरी देने की बात कही गई, इसी प्रकार १५५५ के **बुनकर अधिनियम** के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि कोई ऊनी-बुनकर (जो शहर से बाहर रहता है) दो से अधिक कर्घे नहीं रख सकता था और न कोई कपड़े वाला (Clothier) शहर से बाहर एक कर्घे से अधिक रख सकता था। सोलहवीं शताब्दी तक कपड़े वालों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई कि शहर में एक ही छत के नीचे कई श्रमिक या कारीगर नियोजित किये जाने लगे। इस प्रकार की प्रवृत्ति को सरकार ने रोकना चाहा क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति से कई अनावश्यक तत्व शहर में पनपते हैं जिससे शहर की शांति और व्यवस्था को खतरा पहुँचता था।

घरेलू प्रणाली के लाभ (Advantages of Domestic System)—इस प्रणाली से निम्नलिखित लाभ हुए :—

(१) इस प्रणाली में व्यक्तिगत निरीक्षण की प्रवृत्ति पाई जाती थी जो गिल्ड-प्रणाली की व्यवस्था से अधिक प्रभावोत्पादक थी।

(२) श्रम-विभाजन की प्रवृति से घरेलू-प्रणाली के अन्तर्गत बढ़ते हुए बाजार की आवश्यकताओं को पूंजीवादी विशालस्तरीय उत्पादन को संभव बनाया जा सका।

(३) गिल्ड-व्यवस्था के स्थान पर घरेलू प्रणाली के आविर्भाव ने औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं के द्वार खोल दिये क्योंकि गिल्ड व्यवस्था अपनी एकाधिकारी प्रवृत्ति के कारण ऐसी स्थिति के लिये अनुपयुक्त थी।

(४) इस प्रणाली के अन्तर्गत कृषक खाली समय में अपनी आय बढ़ा सकता था।

(५) आधुनिक औद्योगिक नगरों की स्वास्थ्य और सफाई सम्बन्धी समस्याँए भी नितान्त अनुपस्थित थी।

घरेलू प्रणाली की हानियाँ (Disadvantages of Domestic System)—घरेलू प्रणाली के लाभकारी दृष्टिकोण के अतिरिक्त एक और भी पक्ष था जिसमें उसकी हानियों की ओर हमारा ध्यान जाता है :—

(१) घरेलू प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिक का शोषण होता था। कम मजदूरी और गाढ़े पसीने की कमाई के रूप में यह वर्ग अस्तित्व में आया था। उसे कच्चे माल और औजारों के लिये "नियोजक पर निर्भर रहना पड़ता था और इसी कारण से उसे मजदूरी कम मिलती थी और उसका शोषण होता था।

(२) घरेलू प्रणाली के अन्तर्गत कालान्तर में नियोजित (श्रमिक) और नियोजक (पूंजीपति) का प्रत्यक्ष सम्पर्क समाप्त हो गया और दोनों के मध्य सम्बन्ध एजेन्टों द्वारा होने लगा। अतः यह खाई बढ़ती ही गई और सामाजिक असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित होने लगी।

(३) नियोजक और नियोजित के अलग-अलग स्थानों पर रहने से माल के ले जाने, लाने में पर्याप्त समय और शक्ति का दुरुपयोग होता था।

(४) श्रमिकों में प्रतिस्पर्द्धा भी बढ़ी अतः कृषि कार्य को हानि हुई क्योंकि अधिकांशतः श्रमिक वर्ग फालतू समय इस प्रकार का कार्य सम्पादित करते थे।

(५) मजदूरी का भुगतान वस्तुओं में होता था; अतः घटिया किस्म की वस्तुएं देकर श्रमिक को हानि पहुँचाने को प्रवृत्ति पाई जाती थी।

(६) कार्य की वृद्धि और लोभ वृत्ति के परिणाम-स्वरूप बालकों को भी काम पर लगाया जाता था जिसका फल बाल श्रमिकों का शोषण और शैक्षणिक विकास रोक देना था।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि घरेलू प्रणाली में कालान्तर में लाभ के स्थान पर हानियाँ अधिक उत्पन्न होने लगीं, अतः इस प्रथा के स्थान पर फैक्टरी पद्धति का आविर्भाव हुआ जो औद्योगिक क्रांति की देन है। फिर भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि यह प्रणाली गिल्ड प्रणाली और फैक्ट्री प्रणाली के मध्य की कड़ी थी। इसमें पूंजी का महत्व बढ़ रहा था तथा श्रम-विभाजन का विकास हो रहा था और बाजार की व्यापकता के साथ ही बड़े पैमाने के उत्पादन का महत्व भी समझा जा रहा था।

औद्योगिक क्रान्ति

(Industrial Revolution)

अध्याय ७

औद्योगिक क्रान्ति का जन्म १८ वीं शताब्दी में इंगलैंड में हुआ था किन्तु १६ वीं शताब्दी में यह अपनी चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। इसने विश्व के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। इन परिवर्तनों को क्रमिक विकास कहा जाना चाहिये था परन्तु ये परिवर्तन दीर्घकालीन होने पर भी इतने महत्व के और आकर्षक थे कि इन्हें **औद्योगिक क्रांति** की संज्ञा दी गई। प्रायः कहा जाता है कि औद्योगिक क्रांति शब्द का प्रयोग सबसे पहले **अरनोल्ड टोयनबी** ने १८८४ में किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि एक फ्रांसीसी लेखक **ब्लान्की** ने १८३७ में इसका प्रयोग किया और तत्पश्चात् जेवन्स, एन्जिल्स और कार्ल मार्क्स ने भी इस शब्द का प्रयोग किया।

क्रांति का अभिप्राय आधारभूत परिवर्तनों से है, **राजनीतिक-क्रांति** शासन में पूर्ण परिवर्तन को कहते हैं। **कूटनीतिक-क्रांति** अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के पुनर्सङ्गठन को कहते हैं। **कृषिक-क्रांति** कृषि की पद्धति और संगठन में परिवर्तन को कहते हैं। **सामाजिक क्रांति** कतिपय-सामाजिक वर्गों के सापेक्षिक महत्व में परिवर्तन को कहते हैं; इसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति, औद्योगिक पद्धति में परिवर्तन था। इसमें दस्तकारी के स्थान पर शक्ति-संचालित यन्त्रों से काम होने लगा। इन नवीन परिस्थितयों में उद्योग-धन्धों का उद्देश्य बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करना था, एक सीमित और स्थिर मन्डी की माँग की पूर्ति करने के पुरातन आदर्श का स्थान राष्ट्र की सीमाओं से अधिक विस्तृत और वास्तव में एक संसारव्यापी मण्डी में पूर्ति करने के सस्ती और प्रचुर मात्रा में उत्पत्ति करने के दृढ़ निश्चय ने ले लिया।

औद्योगिक क्रांति के लिए कोई निश्चित तिथि निर्धारण करना कठिन सा ही है। कुछ उद्योगों में परिवर्तन अत्यन्त तीव्र गति से हो गये। जबकि अन्य उद्योगों में ये परिवर्तन होने में कई दशाब्दियाँ लग गईं। परिवर्तनों का क्रम १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलता रहा। यह परिवर्तनों का काल इतना विस्तृत था कि उन्हें एक ही श्रृंखला में देखना परिवर्तनों के प्रति न्यायोचित व्यवहार कहा जा सकता है। १७६५ से १७८५ के बीस वर्षों में वस्त्र, उद्योग सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण आविष्कार हुए तथापि औद्योगिक क्रांति को इस अवधि तक सीमित रखने का कोई प्रश्न नहीं उठता। १७६५ से पूर्व कई वर्षों में वस्त्र निर्माण करने के यन्त्रों में प्रयोग और १७८५ के पश्चात् कई वर्षों तक उनमें सुधार

किये गये और वस्त्र-उद्योग के पूर्ण रूपान्तर में सत्तर वर्षों से कम समय नहीं लगा। दूसरी दिशा में इससे अधिक काल तक परिवर्तन हुए। वाष्प इन्जन का प्रादुर्भाव शक्ति के स्रोत के रूप में अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इसने पूर्णतः जल-चक्र का स्थान नहीं लिया। घरेलू कार्य से कारखानों में कार्य का परिवर्तन भी अल्पकाल में पूर्ण नहीं हुआ। किन्तु यदि आंग्ल उद्योगों की १८५० की स्थिति का १७७० की स्थिति से अन्तर देखा जाय तो जो परिवर्तन हुए उसका महत्व समझा जा सकता है और उनको क्रांतिकारी बतलाने की उपयुक्तता स्वीकार की जा सकती है।

औद्योगिक क्रांति का श्रीगणेश इंग्लैण्ड में ही क्यों ?

इंग्लैंड की साम्राज्य-तृष्णा ने उसे ऐसे विश्व का स्वामी बना दिया था जहाँ पर कभी सूर्यास्त ही न होता था, अर्थात् इंग्लैंड का राजनीतिक अधिकार विश्व के सभी भू-खण्डों पर था। इस कारण इंग्लैंड के पास असीमित नाविक शक्ति एवं जलयान थे, जिनसे वह विदेशों से तथा अपने उपनिवेशों से व्यापार करता था। 'मूलतः हमारे उपनिवेशों ने हमको विस्तृत बाजार दिये; हमारे व्यापार पर यूरोपीय देश अथवा उनके उपनिवेश प्रतिबन्ध लगा सकते थे, परन्तु हम अपने उपनिवेशों के साथ जैसा चाहे जैसा व्यवहार कर सकते थे और यदि हम अन्य देशों के साथ व्यापार न करते हुए केवल अपने उपनिवेशों के साथ ही व्यापार करते तब भी इंग्लैंड विश्व का सबसे बड़ा व्यापारिक देश होता।"[1] इससे इंग्लैंड का विदेशी व्यापार कितना बढ़ा-चढ़ा था, इसकी कल्पना की जा सकती है। इस असामान्य स्थिति के कारण इंग्लैंड ने १७ वीं शताब्दी तक औद्योगिक स्वामित्व प्रस्थापित कर लिया था, जिससे अन्य कोई भी देश टक्कर लेने में असमर्थ था। किसी भी देश में औद्योगिक क्रांति होने के लिए चार बातें आवश्यक होती हैं—(१) पूँजी-विपणि एवं कुशलता (Capital market and Skill), (२) विस्तृत बाजार-क्षेत्र, (३) औद्योगिक प्रभुत्व तथा (४) राजनीतिक शांति। इंग्लैंड में सौभाग्य से ये सब बातें उपलब्ध थीं और इसी कारण इंग्लैंड ही एकमात्र ऐसा देश था जहाँ पर औद्योगिक क्रान्ति का बीजारोपण हुआ, जिससे इंग्लैंड विश्व के औद्योगिक सिंहासन पर आसन जमा बैठा। इंग्लैंड में सर्वप्रथम औद्योगिक क्रांति होने के मूल कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) **विश्व में औद्योगिक प्रभुत्व**—इंग्लैंड ने अपने विशाल साम्राज्य के कारण अपना विदेशी व्यापार उपनिवेशों में फैला रखा था, जहाँ पर मन चाहा करने की उसे पूर्ण स्वतंत्रता थी। इस औद्योगिक प्रभुत्व के कारण विश्व के अन्य राष्ट्र इंग्लैंड से टक्कर लेने में असमर्थ थे। इस कारण औद्योगिक विकास के लिये नई-नई बातों की आवश्यकता इंग्लैंड को प्रतीत हुई, जिसने यांत्रिक आविष्कारों को जन्म दिया।

---

1 "Originally our colonies were prized because they gave us larger markets, restrictions might be placed on our trade with European nations or with their colonies, but with our own colonies we could deal as we pleased. If we had confined ourselves to trading in the main with in the bounds of their Empire—England would even then have been the greatest commercial country in the world."—*Land marks in Industrial History* by G. T. Wauts, p. 222.

(२) **विस्तृत बाजार**—इंग्लैंड का साम्राज्य विश्व में चारों ओर फैला होने के कारण उसके उपनिवेश उसके लिए अच्छे बाजार थे, जहाँ पर इंग्लैंड का माल सरलता से बेचा जा सकता था और बिक रहा था। इस कारण इंग्लैंड को माल की बिक्री के लिये बाजारों की चिन्ता न थी। इन उपनिवेशों में भारत का बाजार सबसे बड़ा एवं महत्वपूर्ण था।

(३) **पूँजी का असीमित संचय**—इंग्लैंड का ऊन-व्यवसाय तथा विदेशी व्यापार एवं वाणिज्य अत्यन्त उन्नत होने से व्यापारियों के पास असीमित मात्रा में धन का संचय हो रहा था, जिसको विनियोग करने के साधन उन्हें नहीं मिल रहे थे। ग्रेट ब्रिटेन की परिस्थितियाँ पूँजी संग्रह करने के पक्ष में थीं जो औद्योगिक विस्तार के लिये आवश्यक मानी जाती हैं। विशाल व्यापारी कम्पनियों की सफलता के फलस्वरूप उनके सदस्यों को सम्पत्ति प्राप्त हुई थी और इस प्रकार विदेशी व्यापार के लाभ से प्राप्त मुद्रा उद्योगों में लगाने के लिए उपलब्ध थी। इंग्लैंड का व्यापार पूर्व और पश्चिम द्वीप समूहों से होता था। इन देशों का व्यापार इंग्लैंड के बैंक द्वारा नियन्त्रित होता था, उससे औद्योगिक क्रांति के लिए पूँजी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी। कभी-कभी तो यह भी कहा जाता है कि यही एक महत्वपूर्ण कारण ऐसा था जिसने अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड के औद्योगिक विकास को बहुत तेजी से आगे बढ़ाया अर्थात् ईस्टइन्डिया कम्पनी के व्यापारियों द्वारा बंगाल की लूट। एक अमेरिकन लेखक **ब्रुक एडम्स** लिखते हैं—कि प्लासी के तुरन्त बाद ही, बंगाल की लूट का माल लन्दन में नजर आने लगा और उसके प्रभाव आशातीत थे—प्लासी का युद्ध १७५७ में लड़ा गया''''१७६० में 'फ्लाइंग शटल' दिखी, १७६४ में हारग्रीब्ज ने स्पिनिंग जेनी का आविष्कार किया; १७७६ में क्राम्पटन ने म्यूल और १७८५ में कार्टराइट ने शक्ति-कर्घे का और १७६८ में जेम्सवाट ने वाष्प एंजिन का निर्माण किया।" यद्यपि सत्यता के दृष्टिकोण से यह तो सम्भव नहीं है कि एक ही कारण औद्योगिक क्रांति के लिए उचित ठहराया जाय, परन्तु इतना अवश्य मानना होगा जैसा कि **श्री रजनी पामदत्त** ने अपनी पुस्तक **आज का भारत** में लिखा है—"यदि प्लासी की लूट का माल और भारत की सम्पदा इंग्लैंड की ओर उन्मुख न होती तो मेनचेस्टर, पेसले और लंकाशायर के सूती मिल नष्ट हो जाते तथा जेम्सवॉट, आर्कराइट, कार्टराइट, क्रोम्पटन जैसे आविष्कारक और उनके आविष्कार समुद्र में फैंक दिये जाते।"

(४) **राजनैतिक शान्ति**—१८ वीं शताब्दी में, जबकि यूरोपीय देश गृह-युद्धों में अथवा परस्पर-युद्धों में फंसे हुए थे, इंगलैंड में पूर्ण राजनैतिक शान्ति थी। इसी कारण युद्धग्रस्त देशों के अनेक शिल्पी एवं व्यवसायी इंगलैंड में आकर बसे। इसी प्रकार इटली से भी अनेक कार्यक्षम शिल्पी एवं व्यवसायी इंगलैंड में आये, क्योंकि इटली में उस समय धर्म-युद्ध हो रहा था। इस कारण औद्योगिक उन्नति के कार्य-क्षम एवं बुद्धिमान प्रणेता इंगलैंड को अनायास ही मिल गये।

(५) **श्रम-संचयक साधनों की आवश्यकता**—उपनिवेशों के कारण इंगलैंड के व्यापारिक क्षेत्र का बहुत अधिक विस्तार हो चुका था, जिन देशों की माँग घरेलू-पद्धति में पूर्ण नहीं की जा सकती थी। इंगलैंड से माल की पूर्ति उत्पादन से सीमित थी, जो वहाँ के सीमित शिल्पियों द्वारा किया जाता था, अतः इंगलैंड के असीमित व्यापार-क्षेत्र की तुलना में उसकी जन-शक्ति बहुत सीमित थी। जन-शक्ति सीमित

होने से वहाँ के कुशल शिल्पियों का ध्यान श्रम-संचयक साधनों के आविष्कारों की ओर आकर्षित हुआ। फलतः श्रम संचयक साधनों के—यन्त्रों के—आविष्कारों को उत्तेजन मिला।

(६) **कोयले एवं लोहे की निकटता एवं विपुलता**—इंगलैंड में कोयले एवं लोहे की खानें एक दूसरे के निकट हैं, जिनसे विपुल मात्रा में लोहा एवं कोयला मिलता है। चूँकि यन्त्रों के निर्माण एवं चलन के लिए इन दोनों की आवश्यकता होती है, इसलिए इनकी खानें एक-दूसरे के निकट एवं विपुलता से होना भी औद्योगिक क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण कारण है।

(७) **घरेलू-युग की उत्पादन पद्धति**—इंगलैंड में उस समय घरेलू-पद्धति के अन्तर्गत दूसरे ढंग से उत्पादन होता था, अर्थात् पूँजीपति मध्यस्थों द्वारा कच्चा माल, औजार आदि शिल्पियों को दिये जाते थे। इस पद्धति के कारण वहाँ पर पूँजीवाद का श्रीगणेश हो चुका था एवं उसका महत्व बढ़ गया था। इससे औद्योगिक क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला।

(८) **इंगलैंड की व्यापारिक एवं आर्थिक नीति**—इंगलैंड की व्यापारिक एवं आर्थिक नीति उद्योगों को संरक्षण देकर देशी व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति के पक्ष में थी। इस नीति के फलस्वरूप ही इंगलैंड ने संरक्षण करों द्वारा अपने माल की माँग बढ़ा कर वर्षों तक अपना व्यापार-सन्तुलन अपने पक्ष में रखा, जिससे वहाँ पर पूँजी का असीमित संचय होता गया और विदेशी व्यापार-क्षेत्र का विकास एवं विस्तार। इस नीति के कारण औद्योगिक क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला।

(९) **इंगलैण्ड की भौगोलिक स्थिति**—इंगलैंड की भौगोलिक स्थिति भी उसके लिए लाभकर थी, क्योंकि वह विश्व के मध्य में बसा हुआ है। इस स्थिति के कारण उसे विश्व के सभी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखने में सुगमता होती है। यह भी औद्योगिक क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण कारण है।

(१०) **मत परिवर्तन**—बाजार क्षेत्रों के विकास के साथ इंगलैंड के पूँजीपतियों की और विचारशील जनता की यह विचारधारा हो गई थी कि इतने विस्तृत व्यापार-क्षेत्रों से लाभ उठाने के लिये पूँजी की सहायता तथा बड़े-बड़े यन्त्रों के आविष्कार से उत्पादन-तन्त्र में सुधार किया जाना चाहिए। इस विचारधारा ने इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति का मार्ग खोल दिया।

(११) **अधिकोषों का विकास**—इंगलैंड ने १७ वीं शताब्दी में ही अधिकोषों का विकास हो चुका था। अधिकोषण विकास के कारण वहाँ पर औद्योगिक विकास के लिए उन्नत एवं विकसित मुद्रा-मण्डी भी उपलब्ध थी।

सारांश में, १८ वीं शताब्दी के आरम्भ में विश्व में इंगलैंड ही एक ऐसा देश था जहाँ औद्योगिक क्रांति की पोषक एवं अनुकूल उपयुक्त परिस्थिति थी। इस कारण इंगलैंड में ही सर्व प्रथम औद्योगिक क्रान्ति हुई। "इन महत्वपूर्ण आविष्कारों के आरम्भ होने के पूर्व इंगलैंड में वाणिज्य के अनुकूल सरकार थी, मुक्त आन्तरिक व्यापार था, समृद्ध एवं विकसित होने वाला वस्त्र-उद्योग था, जिसका निर्मित माल

महाद्वीप (यूरोप) को निर्यात होता था एवं जिसके व्यापारिक सम्बन्ध अधिक थे, जहाँ संयुक्त-स्कन्ध-प्रमण्डल थे तथा उन्नत अधिकोषण पद्धति थी।"[1]

औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश

जिसको आज हम औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं वह इंगलैंड के उद्योगों के चमत्कारपूर्ण विकास की कहानी है। यह कहानी वास्तव में औद्योगिक विश्व के यान्त्रिक आविष्कारों की रोचक कहानी है, जिसने इंगलैंड का औद्योगिक, आर्थिक एवं सामाजिक कलेवर पूर्ण रूप से बदल दिया। औद्योगिक क्षेत्र में यान्त्रिक आविष्कारों का सूत्रपात स्टेपल-उद्योग (रेशे का उद्योग) 'बुनाई' से हुआ, ऊनी वस्त्र उद्योग से नहीं, क्योंकि उस समय भी यह उद्योग घरेलू अवस्था में था तथा बुनकर को सूत देने पर वह उसका कपड़ा सूत देने वाले मध्यस्थ को बुन देता था। उस समय छः सूत कातने वालों के एक दिन के सूत से एक बुनकर एक दिन का काम कर सकता था, परन्तु चूँकि सूत कातने के उद्योग में साधारणतः स्त्रियाँ, बच्चे आदि भी काम करते थे, इस कारण उस समय सूत की विशेष अड़चन नहीं थी और यन्त्रीकरण की ओर जो कुछ थोड़े से आविष्कार हुए भी थे उनसे केवल कपड़े के प्रकारों में सुधार हुआ था, किन्तु उपयोग में जो हाथ-यन्त्र—स्पिनिंग ह्वील और लूम—थे, वे पूर्ववत् ही थे।

यान्त्रिक क्षेत्र में सन् १७३३ से इन आविष्कारों का प्रारम्भ हुआ :—

(१) आविष्कारों के लम्बे मार्ग का सबसे पहिला आविष्कार **जॉन के (Jhon Kay)** नामक बुनकर ने सन् १७३८ में किया। यह आविष्कार **फ्लाइंग शटल (Kay's Flying Shuttle)** यन्त्र का था। इस आविष्कार ने बुनकरों की उत्पादन-क्षमता बढ़ा दी, क्योंकि इससे पूर्व जितने भी हाथ-बुनकर यन्त्र थे उनमें ताने (Warp) के बीच बाना (Weft) लेने का काम जुलाहे को अपने दोनों हाथों से करना पड़ता था। इस अन्वेषण से बाना तानों के बीच से यान्त्रिक पद्धति फेंका जाने लगा। इससे एक तो चौड़ा कपड़ा बुनना सम्भव हुआ तथा दूसरे, जुलाहे को एक ओर से दूसरी ओर बाना फेंकने की आवश्यकता न रहने से उसका उत्पादन दुगना हो गया।

(२) **जान के** के आविष्कार ने बुनने की क्षमता बढ़ा दी, जिससे बुनकरों को अब अपने एक दिन के कार्य के लिए पर्याप्त मात्रा में सूत मिलना कठिन हो गया। कारण, उनकी सूत की आवश्यकता भी अब दुगनी हो गई, जिसकी पूर्ति करना मध्यस्थ (Middlemen Clothier) को असम्भव हो गया, जिससे अब सूत कातने के यन्त्रों के आविष्कार के लिए प्रयोग होने लगे।[2] फलतः सन् १७४८ में **पाल और वाट**

---

[1] "Before the great inventions began, England had a government favourable to commerce, internal free trade, prosperous and growing textile industry, exporting its products to the continant, with large commercial connections, joint stock companies and a welldeveloped banking system."

—Hammand : *The Rise of Modern Industry*, p. 62.

[2] John A. Hobson ; Evolution of Modern Capitalism.

(**Paul and Watt**) ने रोलर स्पिनिंग यन्त्र (**Roller Spinning Machine**) का आविष्कार किया। इस आविष्कार से सूत के प्रकार में सुधार हुआ, परन्तु उत्पादन-क्षमता न बढ़ी।

(३) अतः ब्लैक बर्न के निवासी **जेम्स हरग्रीव्स** (**James Hargreaves**) ने सन् १७५३ में अपने स्पिनिंग व्हील (Spinning Wheel) में सुधार कर स्पिनिंग जेनी (Spinning Jenny) का आविष्कार किया। इस यन्त्र से एक साथ सूत के ५४ धागे निकाले जा सकते थे। इसी का सुधार होकर सन् १७६४ में स्पिनिंग जेनी नाम से हरग्रीव्स ने पेटेण्ट कराया, परन्तु फिर भी सूत का प्रदाय कम ही रहा, क्योंकि यह जेनी भी हाथ से ही चलाई जाती थी। इससे एक साथ ५४ धागे कतते थे।

(४) हरग्रीव्स के बाद सन् १७६९ में **रिचार्ड आर्कराइट** (**Richard Arckright**) ने अपने प्रयोग द्वारा रोलर स्पिनिंग मशीन तथा स्पिनिंग मशीन तथा स्पिनिंग जेनी के संयोग से एक ऐसी रोलर स्पिनिंग मशीन तैयार की जो पानी से चलती थी तथा रोलर की गति को आवश्यकतानुसार कम या अधिक किया जा सकता था, जिससे अच्छे एवं मजबूत धागे काते जा सकते थे। आर्कराइट के इस आविष्कार का नाम 'वाटर-फ्रेम' है।

(५) सन् १७७९ में हरग्रीव्स की स्पिनिंग जेनी तथा आर्कराइट वाटरफ्रेम के यन्त्रों के संयोग से **क्रॉम्पटन** (**Crompton**) ने एक नवीन यन्त्र 'म्यूल' (Crompton's Mule) का आविष्कार किया। इस यन्त्र द्वारा इतने अच्छे धागे काते जाने लगे जो उस इंगलैंड में कभी नहीं काते गए थे।

इस प्रकार यांत्रिक प्रयोग एवं आविष्कारों का ताँता लगा रहा। फलस्वरूप एडमंड आर्कराइट नामक पादरी ने पॉवरलूम का आविष्कार किया, जिसका उत्पादन क्षेत्र में प्रयोग सन् १७९१ में मैनचेस्टर के एक कारखाने वाले ने ४०० यन्त्र खरीदकर आरम्भ किया। यह यन्त्र प्रारम्भिक स्थिति में बैल द्वारा चलाया जाता था, परन्तु सन् १७६९ में जेम्स वाट ने स्टीम इंजिन का आविष्कार किया। इस आविष्कार के कारण स्टीम इंजन द्वारा चलने वाला पहिला लूम सन् १७८९ में काम में लिया गया। इस प्रकार सूती वस्त्र उद्योग से औद्योगिक क्षेत्र में यन्त्रों का आविष्कार आरम्भ होकर अन्य उद्योगों में उसकी प्रतिक्रिया होने लगी। फलस्वरूप क्रमशः निम्नलिखित यन्त्रों के आविष्कार होते गये :—

यन्त्र	आविष्कर्त्ता (Inventor)
(क) वूल कोम्बिंग मशीन	एडमंड कार्टराइट
(ख) कैलिको पर छपाई का काम करने के लिए 'सिलेन्डर प्रिंटिंग मशीन'	बेल
(ग) लेस मेकिंग मशीन	हीथ कोट

इन आविष्कारों से इंगलैंड के वस्त्र-व्यवसाय की उत्पादन-पद्धति में यन्त्रों का उपयोग होने लगा और क्रमशः ऊनी-उद्योग, लिनन इत्यादि के कारखानों में इन यन्त्रों का उपयोग होकर वे भी पूरी तरह से यन्त्र-चालित हो गये। "इस प्रकार कातने एवं

बुनने के वर्तमान यन्त्र ८०० आविष्कार तथा ६० पेटेंट्स के संयोग से बने हुए हैं।" इन विभिन्न आविष्कारों की कल्पना निम्न तालिका से होगी :—

वर्ष	यन्त्रों का अन्वेषण[1]
१७३०	वाट की रोलर स्पिनिंग मशीन (सन् १७३८ में पेटेंट)।
१७३८	जॉन के का फ्लाइंग शटल।
१७४८	पॉल की कार्डिंग मशीन [ली, आर्कराइट तथा वूड के संशोधनों के बाद (सन् १७७२-७४) इसका उपयोग होना प्रारम्भ हुआ।]
१७६४	हरग्रीव्स की स्पिनिंग जेनी (सन् १७७० में पेटेंट)।
१७६४	कैलिको प्रिंटिंग (लंकाशायर में उपयोग भी)।
१७६८	आर्कराइट ने वाट की स्पिनिंग मशीन का आविष्कार पूरा किया (पेटेंट सन् १७६९)।
१७७९	क्रॉम्पटन का म्यूल यन्त्र पूरा हुआ।
१७८५	कार्टराइट का पॉवरलूम।
१७९२	ह्विटने का सॉ-जिन।
१८१३	हॉरॉक (Horrock's) की ड्रेसिंग मशीन।
१८३२	रॉबर्ट ने स्व-संचालित म्यूल का अन्वेषण पूरा किया
१८४१	बलो (Bulloh's) का संशोधित पॉवरलूम।

यन्त्रों के आविष्कार एवं उनके बढ़ते हुए उपयोग से अधिक लोहे की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जिससे इस क्षेत्र में भी आविष्कारों की खोज होने लगी। फलस्वरूप **अब्राहम डर्बी** तथा **रोबक** ने सबसे पहले यह प्रमाणित किया कि कोयले तथा बाद में खनिज-कोयले से लोहा जल्दी तथा सरलता से गलाया जा सकता है। इसके बाद जब लोहा गलाने में अच्छी भट्टियों का तथा उनको चलाने के लिये स्टीम एन्जिन का उपयोग होने लगा तब इस उद्योग की उत्पादन-शीलता अधिक हो गई, परन्तु हेनरी कोर्ट ने जब खनिज लोहे से अच्छा लोहा 'पडलिंग (Puddling) द्वारा निकालने का अन्वेषण किया तब लौह उद्योग का स्वरूप पूरी तरह बदल गया। तत्पश्चात् लौह-उद्योग में सुधार होते गये, जिससे सन् १८१२ में लौह-उद्योग की उत्पादन-शीलता सन् १७८७ की अपेक्षा २० गुनी हो गई। यान्त्रिक क्षेत्र में भी अन्वेषण चालू ही रहे, परन्तु **मॉड्स्ले (Maudslay)** ने अच्छे यन्त्रों एवं औजारों का आविष्कार किया तथा यन्त्रों को इस योग्य बना दिया कि खराब हिस्से को किसी भी समय बदला जा सकता था। मॉड्स्ले और उसके बाद **क्लेमंट मरे, ह्विटवर्थ** तथा **नेस्मिथ (Clement, Murray, Whitworth and Nasmyth)** ने यन्त्रों का एवं उनके हिस्सों का प्रमापीकरण कर दिया, जिससे यन्त्रों का उपयोग और भी अधिक होने लगा। इस प्रकार जिस औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात सन् १७३० में हुआ वह सन् १९४२ में पूरी हुई। औद्योगिक क्षेत्र के इन परिवर्तनों ने यहाँ के कृषि,

[1] "Evolution of Modern Capitalism,"—*Hobson.*

यातायात एवं वाणिज्य को भी उन्नति करने के लिये बाध्य किया। फलस्वरूप इन क्षेत्रों में भी क्रान्ति होने लगी।

औद्योगिक क्रान्ति की इंगलैण्ड पर प्रतिक्रियाएँ

औद्यौगिक क्षेत्रों में यान्त्रिक आविष्कार एवं उनके बढ़ते हुए उपयोग के कारण सन् १८४२ तक इंगलैंड का पूरी तरह से परिवर्तन हो गया। **इस क्रान्ति ने पूँजीवाद को प्रोत्साहन दिया,** क्योंकि बड़े-बड़े यन्त्र खरीदने के लिये पूँजी की अधिक आवश्यकता होती थी। इससे औद्योगिक क्षेत्र में पूँजी का महत्व बढ़ने लगा।

कृषि-क्षेत्र में भी काफी परिवर्तन हुए तथा क्रान्ति के बाद छोटे-छोटे, बिखरे हुए तथा खुले खेतों की जगह बड़े-बड़े तथा सीमायुक्त खेत दिखाई देने लगे और इंगलैण्ड का कृषि-उत्पादन बढ़ने लगा, परन्तु फिर भी इंगलैंड विशेष रूप से खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे माल का आयात बहुत करता था, क्योंकि इन दोनों बातों की उसकी आवश्यकताएँ बढ़ गई थीं। कृषि में खाद्यान्नों के उत्पादन की अपेक्षा औद्योगिक फसलें अधिक उगाई जाने लगी थीं, इसलिए खाद्यान्नों का आयात बढ़ रहा था और दूसरी ओर यन्त्रों के आविष्कार के कारण, औद्योगिक कच्चे माल की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही थी, इसलिये इसका आयात भी बढ़ रहा था।

घरेलू उत्पादन पद्धति का अन्त हो गया तथा छोटे-छोटे घरेलू उद्योगों की जगह यन्त्र-चालित बड़े-बड़े कारखाने दिखाई देने लगे। इससे इंगलैंड का उत्पादन भी बढ़ गया। यन्त्रों के कारण श्रम-विभाजन अधिक सुविधाजनक हो गया, जिससे श्रमिकों की कार्यक्षमता में भी वृद्धि हुई। आवागमन एवं यातायात में भी क्रमशः क्रान्ति होने से कच्चे माल के प्रदाय के लिये उपनिवेशों का उपयोग होने लगा। इन्हीं उपनिवेशों में निर्मित माल की बिक्री भी होती थी, जिससे इंगलैंड को अपने माल के लिए अधिक बाजार सहज ही मिल गये। इससे वस्तुओं की माँग बढ़ी और इंगलैंड के पास अधिक पूँजी एकत्र होने लगी और क्रमशः पूँजी का महत्व एवं पूँजीवाद का जोर बढ़ता गया तथा श्रमिकों का महत्व नष्ट होता गया।

निर्माणी पद्धति के अनुसार उत्पादन होने से **उत्पादन-व्यय कम हो गया** तथा अधिक उत्पादन होने लगा। इस स्थिति में घरेलू-पद्धति पर उत्पादन करने वाले शिल्पी प्रतियोगिता में न टिक सके और उन्हें अपना व्यवसाय छोड़कर उपजीविका कमाने के लिए कारखानों की शरण लेनी पड़ी। इसमे श्रमिक वर्ग का उदय हुआ जो पूर्ण रूप से पूँजीपति नियोक्ता (Capitalist Employer) पर निर्भर हो गये। इससे जनता के काम की खोज में कारखानों के शहरों में आने लगी और शहरों का विकास होता गया।

कारखानों में बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के कारण **प्रतियोगिता—जो अभी तक अज्ञात थी—बढ़ने लगी** और उसका महत्व प्रस्थापित हो गया तथा साथ ही बढ़ते हुए विदेशी व्यापार के कारण इंगलैंड की राष्ट्रीय संपत्ति भी बढ़ती गई।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप सन् १७३० से सन् १८५० तक इंगलैंड के सामाजिक, आर्थिक एवं औद्योगिक कलेवर में उपर्युक्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिससे

इंगलैंड का स्वरूप पूर्ण रूप से बदल गया। सारांश में, इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति की निम्नलिखित प्रतिक्रियाएँ हुईं :—

(क) छोटे-छोटे, बिखरे हुए एवं खुले खेतों की जगह बड़े-बड़े सीमाबद्ध खेत दिखाई देने लगे।

(ख) घरेलू-युग का अन्त होकर निर्माणी-युग का प्रारम्भ हुआ, जिससे पूँजी एवं पूँजीवाद का महत्व बढ़ने लगा और बड़े-बड़े यन्त्र-चालित कारखाने दिखाई देने लगे। इससे शहरों का विकास होने लगा।

(ग) प्रतियोगिता जो औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षेत्र में क्रान्ति-पूर्व अज्ञात थी, उसका महत्व व्यापारिक क्षेत्र में प्रस्थापित हो गया।

(घ) शिल्पियों का महत्व कम हो जाने से उनको अपने व्यवसाय छोड़ कर कारखानों की शरण लेनी पड़ी, जिससे नवीन श्रमिक वर्ग का उदय हुआ। समाज का विभाजन पूँजीपति एवं श्रमिक इन दो वर्गों में होने से इनके परस्पर सदभावना-पूर्ण सम्बन्धों का अन्त हो गया।

(ङ) यन्त्रों के उपयोग से श्रम-विभाजन सुविधाजनक होकर उसका उपयोग बढ़ता गया। इससे कम लागत पर अधिक उत्पादन होने लगा।

(च) इंगलैंड विशेष रूप से निर्मित माल का निर्यात तथा खाद्यान्न एवं कच्चे माल का आयात करने लगा। इसमें उपनिवेशों का अधिक उपयोग होता था।

(छ) जनता की कृषि पर निर्भरता हो गई, जो उद्योगों में आने लगे। इससे जन-संख्या का घनत्व भी प्रभावित हुआ, जो दक्षिणी भाग से कम होकर उत्तरी भाग में बढ़ने लगा, जहाँ बड़े-बड़े कारखाने थे। इससे औद्योगिक शहरों का निर्माण एवं महत्व बढ़ने लगा।

(ज) बढ़ते हुए **विदेशी व्यापार** के कारण इङ्गलैंड का **विदेशी व्यापार बढ़ा,। जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि हुई।**

(झ) बढ़ते हुए व्यापार एवं वाणिज्य के कारण व्यापारिक एवं औद्योगिक व्यवस्था में भी आवश्यक परिवर्तन हुए।

नवीन तन्त्र का औद्योगिक क्षेत्र में विकास हुआ

इंग्लैंड के बाद औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए उनका विकास फ्रांस, अमरीका, जर्मनी आदि यूरोपीय देशों में होने लगा। इसके परिणामस्वरूप औद्योगिक, व्यापारिक एवं परिवहन क्षेत्रों में मूलगामी परिवर्तन हुए। मशीनों के उपयोग के कारण उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा, इसलिए नए बाजारों की विज्ञापन आदि साधनों द्वारा खोज होने लगी और बाजारों का विकास होता गया। पूँजी का महत्व बढ़ा और सम्पूर्ण विश्व के समाज में पूँजी-पति एवं श्रमिक इन वर्गों में समाज का विभाजन हो गया। नए-नए औद्योगिक शहरों का विकास होने लगा। परिवहन के साधनों में भी क्रान्ति हुई। प्रबन्ध की नवीन-नवीन पद्धतियों का आविष्कार होने लगा और अन्ततः प्राचीन घरेलू पद्धति के स्थान पर बड़े पैमाने के बड़े-बड़े कारखाने दिखाई देने लगे। यह विकास इंग्लैंड के बाद

विकसित देशों में तेजी से होता गया, परन्तु अविकसित देशों में इसकी गति अत्यन्त धीमी रही। फिर भी यहाँ के कुटीर उद्योगों की अवनति हुई और कृषि भूमि पर जन-संख्या का प्रभार बढ़ता गया, इसके विपरीत बड़े कारखानों को श्रम प्रदाय के लिए कृषि जन-संख्या पर निर्भर रहना पड़ा, जिससे भारत में अभी तक पृथक श्रमिक वर्ग का निर्माण नहीं हो सका।

फ्रांस में औद्योगिक क्रांति इंग्लैंड से पहले सम्पादित क्यों नहीं हुई ?— फ्रांस इङ्गलैंड से अधिक विकसित व समृद्ध देश होने पर भी औद्योगिक क्रांति न कर सका इसके कारण निम्नांकित हैं :—

(१) यहाँ का वस्त्र उद्योग विकसित होने पर भी वहाँ की बैंकिंग-व्यवस्था तथा प्रणाली विकसित नहीं हो पाई थी।

(२) फ्रांस में वणिक संघों का सर्वथा अभाव था। वणिक संघ व्यापार को प्रोत्साहित करते हैं और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में वे औद्योगिक प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति का फ्रांस में अभाव था।

(३) फ्रांस में सम्राटों को अपने वंशानुगत समस्याओं से ही फुरसत नहीं थी कि वे देश के आर्थिक विकास व प्रगति के विषय में सोच सकें।

(४) फ्रांसीसी राज्य-क्रांति ने अग्नि में घृत का कार्य किया। क्रान्ति की अस्त-व्यस्तता ने औद्योगिक विकास को पीछे ढकेल दिया और उसकी गति अवरुद्ध सी हो गई।

(५) फ्रांस की जनसंख्या भी इतनी अधिक थी कि उसे अतिरिक्त हाथ पैर और मस्तिष्क का काम देने वाली मशीनों और यन्त्रों के आविष्कार की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। जनसंख्या के तुलनात्मक आँकड़े इस तथ्य की सत्यता स्वयं प्रकट करते हैं :—

(१) फ्रांस सन् १७००	२ करोड़
सन् १७८०-६०	२½ करोड़ से अधिक
(२) इंग्लैंड सन् १७००	५५ लाख
सन् १७८०-६०	६० लाख

जर्मनी औद्योगिक क्रान्ति प्रथम क्यों न कर सका ? जर्मनी भी फ्रांस की तरह औद्योगिक क्रान्ति पहले नहीं कर सका, उसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) पूँजी का अभाव—औद्योगिक क्रान्ति के सम्पादन के लिए जितनी विशाल पूँजी की आवश्यकता होती है, वह उस समय जर्मनी के पास नहीं थी।

(२) जर्मनी ने इसी समय बड़े पैमाने पर सैनिकीकरण किया था जो कि उसकी औद्योगिक प्रगति के मार्ग में बाधा थी।

हौलैंड औद्योगिक क्रांति प्रथम क्यों न कर सका ? इसके निम्न कारण दिये जा सकते हैं :—

(१) पूँजी का अभाव।

(२) बैंकिंग व जहाजरानी का अविकसित होना।

(३) उपनिवेश जीतने की होड़, जिसमें भी इंग्लैंड से विजय न पा सका।

स्पेन औद्योगिक क्रान्ति प्रथम क्यों न कर सका ? स्पेन जो कि हालैंड की तरह सोलहवीं शताब्दी का प्रथम श्रेणी का यूरोपीय राष्ट्र था, औद्योगिक क्रान्ति का सम्पादन निम्नलिखित कारणों से प्रथम नहीं कर सका :—

(१) धर्म और सैनिकवाद का प्रसार।

(२) उपनिवेश जीतने की प्रतिस्पर्द्धा।

(३) अमेरिका की चाँदी की खानों की ओर अधिक आकर्षित।

(४) असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था।

रूस भी इसी श्रेणी में आता है उस समय रूस यूरोप का राष्ट्र ही नहीं माना जाता था। उसकी पुरानी अर्थ-व्यवस्था परम्परागत बंधनों और नियमों में आबद्ध थी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यूरोप महाद्वीप के कई राष्ट्र विगत सोलहवीं, और अठारहवीं शताब्दियों में उत्तम आर्थिक स्थिति वाले देश रहे हों किन्तु कुछ ऐसे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक तथा प्राकृतिक कारणों का संयोग हुआ कि इंग्लैंड उन प्रथम श्रेणी के यूरोपीय राष्ट्रों को पीछे धकेल औद्योगिक क्रान्ति का जन्मदाता और नेता बन गया।

अध्याय ६

सूती वस्त्र उद्योग
(Cotton Textile Industry)

औद्योगिक-क्रांति का आरम्भ सर्वप्रथम सूती-वस्त्र व्यवसाय के क्षेत्र में ही हुआ था। सूती-वस्त्र उद्योग का विकास १५८५ ई० से ही मेनचेस्टर के आस-पास आरम्भ हो चुका था। पर उस समय यह उद्योग छोटे पैमाने पर चल रहा था। उस समय सूत और वस्त्र दोनों ही हाथ कर्घों पर बनाये जाते थे। सूती वस्त्र उद्योग केवल स्थानीय माँग की पूर्ति करता था और वस्त्र का निर्यात बहुत ही कम होता था। यातायात की असुविधा के कारण घरेलू व्यापार भी बहुत कम होता था। १७०० ई० में इस उद्योग में केवल २० लाख पौण्ड रुई की खपत थी। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सूती माल का निर्माण महत्वपूर्ण नहीं था। रुई लीवान्ट (जहाँ पर फ्रांसीसी और डच व्यापारी उपलब्ध पूर्ति के क्रय के लिये अँग्रेज व्यापारियों से प्रतियोगिता करते थे) और पश्चिमी द्वीप-समूह से (जहाँ १७६३ तक अँग्रेजों की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी,) आती थी। इस प्रकार रुई की पूर्ति अनिश्चित थी। इस उद्योग की मन्द प्रगति का एक कारण ऊनी और रेशमी उद्योगों में लगे हुए लोगों की और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शत्रुता थीं, जो आरम्भ से ही भारत से सूती माल का आयात करती थीं।

भारत का सूती माल इंग्लैण्ड में अधिक लोकप्रिय था और ऊनी तथा रेशमी उद्योगों के हित में, १७०० ई० में, पोशाक या सजावट के लिये पूर्वी देशों से छपे सूती माल का आयात बन्द कर दिया गया था। फिर भी सफेद सूती वस्त्र का आयात किया जा सकता था। सफेद वस्त्रों की छपाई का उद्योग स्थापित हो गया था। भारतीय सूती माल का उपयोग भी जारी रहा। इसलिये १७२१ ई० में एक अधिनियम पारित हुआ जिसके आधीन दिसम्बर १७२२ ई० के पश्चात्, इंग्लैंड में पोशाक के लिये या सजावट के लिये, छपे हुए सूती माल का उपयोग बन्द कर दिया गया, चाहे छपाई वहाँ की गई हों या कहीं और। अँग्रेज महिलाएँ जो अब भी इस माल का उपयोग करना चाहती थीं, केवल सफेद सूती वस्त्र (केलिको) या मलमल का उपयोग कर सकती थीं। १७०० ई० के ये प्रतिबंध पुनर्निर्यात के उद्देश्य से इंग्लैण्ड में लाये गए छपे सूती माल पर लागू नहीं थे। आंग्ल व्यापारी इन वस्तुओं को पूर्वी देशों से आयात कर पश्चिमी अफ्रीका, पश्चिमी-दीप समूह और अमेरिका के दक्षिणी उपनिवेशों में बेच देते थे।

सन् १७२० ई० पचास वर्ष बाद तक एक कपड़ा (जिसमें सन् और रुई का मिश्रण था) इंग्लैंड में बनाया जाता था। अँग्रेज निर्माता ताने के लिए यथेष्ठ मजबूत

सूत बनाने में सफल नहीं हुए थे और वे सन का ताना और सूत का बाना बनाते थे। १७२१ के अधिनियम के पारित होने के पश्चात् इस सामग्री के उपयोग की वैधानिकता में कुछ संदेह था और सन् १७३६ के मेनचेस्टर अधिनियम द्वारा निश्चित रूप से यह वैधानिक घोषित कर दिया गया। **वस्त्र उद्योग की इस शाखा के विकसित होने के अनेक कारण थे :—**

(१) आयातित सफेद सूती वस्त्रों और मलमल की प्रतियोगिता प्रभावहीन थी क्योंकि उन पर भारी कर लगे हुए थे।

(२) निर्यात पर सहायता देकर उद्योग को संरक्षण दिया गया था।

(३) सन् १७०७ ई० में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भारत में दीर्घकाल तक आन्तरिक अशान्ति रही थी। इन दिनों उस देश में प्रभुत्व स्थापित करने के लिए फ्रांसीसियों और अँग्रेजों में युद्ध छिड़ गया। ऐसी परिस्थितियाँ व्यवस्थित व्यापार के लिए अनुकूल नहीं थीं और भारतीय सूती माल की पूर्ति रुक जाने से जो आंग्ल-व्यापारी उन वस्तुओं का निर्यात करना चाहते थे उनको आंग्ल उद्योगों की उत्पत्ति का सहारा लेना पड़ा।

(४) सन् १७७४ में इंग्लैंड में छापे हुए सूती वस्त्रों के उद्योग पर १७२१ में लगाई गई निषेधाज्ञा उठाली गई जिससे सूती उद्योग के विकास के मार्ग में आने वाली औद्योगिक और वैधानिक रुकावटें एक साथ दूर हो गईं।

(५) संयुक्त-राज्य अमेरिका में कपास की खेती आरम्भ कर दी गई और शताब्दी के समाप्त होने से पूर्व इस स्रोत से रुई की असीमित पूर्ति उपलब्ध हो गई।

सूती वस्त्र उद्योग की तीव्र प्रगति इस काल में अनेक नये आविष्कारों के कारण हुई। ये आविष्कार इस प्रकार थे :—

जोन के और फ्लाइंग शटल
(John Kay & Flying Shuttle)

प्रथम और महत्वपूर्ण आविष्कार सन् १७३३ ई० में बरी (Bury) स्थान के **श्री जोन के० (John Kay)** द्वारा **फ्लाइङ्ग शटल** के रूप में किया गया। श्री के के इस अविष्कार से पूर्व बुनकर को ताना-बाना पूरा करने में दोनों हाथों का प्रयोग करना पड़ता था। इस आविष्कार के द्वारा बुनकर अपने हाथों को खाली रख सकता था। इस मशीन का प्रयोग पहले ऊन उद्योग में किया गया और सन् १७६० तक तो इसका प्रयोग सूती वस्त्र उद्योग में भी होने लगा। बुनाई विभाग में इस परिवर्तन और आविष्कार से अधिक सूत की माँग होने लगी। कताई में बिना आविष्कार और परिवर्तन के यह सम्भव नहीं था। अतः आविष्कारकों का ध्यान कताई विभाग की ओर आकर्षित हुआ, जिसमें तीन महत्वपूर्ण आविष्कार हुए जिनके परिणामस्वरूप आंग्ल सूत न केवल घरेलू आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त होने लगा वरन् बचत को बाहर भी भेजा जा सकता था।

कताई मशीनरी—कताई मशीन के वास्तविक उद्‌गम के सम्बन्ध में कोई एक मत नहीं पाया जाता। यह एक विवादास्पद विषय है लेकिन रोलरों के प्रथम प्रयोगकर्त्ताओं के रूप में **जोन वाट (John Wyatt)** और **लुइस पॉल (Loui's Paul)** का नाम जुड़ा हुआ है। वाट; लीचफील्ड (Lich field) का

रहने वाला था, जिसने अपने आविष्कार की सफलता के लिए पॉल से साझेदारी की। उसने वॉट को वित्तीय सहायता दी। रोलरों के दो युग्म (Pairs) प्रयोग किये जाते थे लेकिन उनकी गति में अन्तर था। कपास की कताई से पहले उसे जिस तरीके से लपेटा जाता था, वह पद्धति कार्डिंग कहलाती थी। यह कार्य पहले घर-घर किया जाता था। पॉल ने सन् १७४८ में **'सिलेन्ड्रिकल कार्डिग मशीन' (Cylindrical carding machine)** का आविष्कार किया। वॉट और पॉल के ये आविष्कार व्यावसायिक दृष्टि से अधिक सफल न हुए क्योंकि इन आविष्कारकों के पास आवश्यक पूँजी और व्यावसायिक योग्यता का अभाव था। इतना होने पर भी इनकी मशीनें बर्मिंघम और कुछ वर्षों पश्चात् नार्थम्पटन स्थान पर फैक्टरियों में स्थापित की गई जहाँ कि २५० तकुए जल-शक्ति से संचालित होते थे। नोर्थम्पटन की यह मिल यूरोप में सर्वप्रथम शक्ति संचालित सूती कताई की मिल थी।

हारग्रीव्ज और स्पिनिंग जेनी (Hargreaves of Blackburn & Spinning Jenny)—कताई में प्रथम व्यावहारिक सफलता **श्री हारग्रीव्ज (Hargreaves)** को ही मिली, जिसने कि हाथ की जेनी (Jenny) मशीन का सन् १७६७ में आविष्कार किया। इस यंत्र से एक के स्थान पर एक साथ ग्यारह धागे काते जा सकते थे।

रिचर्ड आर्कराकट और वाटरफ्रेम (Richard Arkwright & Water frame)—सन् १७६० के लगभग कताई की समस्या इतनी प्रबल वेग से सामने आई कि **सोसाइटी ऑफ आर्टस (Society of Arts)** ने कताई मशीन के आविष्कार के लिए पुरुस्कार घोषित किया। सोसाइटी को कई मशीनों के नमूने प्रस्तुत किये गए लेकिन वे सब नगण्य थे। इस समय **हाइज या हेज (Highs or Hays)** नामक व्यक्ति का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित हुआ और उसने एक मशीन का आविष्कार किया भी जिसमें रोलरों की मदद से कताई सम्भव हो सकती थी परन्तु वह अपने इस प्रयोग को धन की कमी के कारण पूरा नहीं कर सका। हाइज या हेज की महत्ता कताई के इतिहास में इसी रूप में है कि संभवतया उसी के आधार पर वाटर-फ्रेम का श्रीगणेश हुआ। सन् १७६९ में रिचर्ड आर्कराइट ने जिस कातने की मशीन का आविष्कार किया वह सर्वथा नवीन सिद्धान्त पर आधारित थीं। यह मशीन जल-शक्ति से चलाई जाती थी अतः यह वाटर-फ्रेम कहलाई। यह घरों में काम में नहीं ली जा सकती थी ; क्योंकि आकार बड़ा होने से इसे घरों में रखने में कठिनाई पड़ती थी तथा श्रमिकों के लिये यह बहुत मँहगी भी बहुत थी। **वाटरफ्रेम** से तैयार सूत "जेनी" के सूत से भिन्न था। यह मजबूत और मोटा ताना बनाने के लिए उपयुक्त था। सन् १७७१ में रिचार्ड आर्कराइट ने क्रोमफोर्ड के पास पहली 'स्पिनिंग-मिल' स्थापित की। सन् १७७८ में उसने कई और आविष्कार किए जिनमें से मुख्य कार्डिंग मशीन क्रेन्क, कॉम्ब रॉविंग फ्रेम और फीडर हैं। आर्कराइट से पहले ताने का सूत हाथ का कता हुआ प्राप्त होता था। आर्कराइट का आविष्कार आधुनिक अर्थों में मशीन थी जिसकी बनावट पेचीदा और कार्य अत्यन्त नाजुक था।

सन् १७७१ में क्रोम फोर्ड (Crom Ford) में जो कताई-मिल स्थापित की गई जिसकी सफलता ने अन्य लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इसके सफल व्यावहारिक व्यावसायिक प्रयोग के बाद ही इंग्लैंड में सूती वस्त्र का उद्योग अधिक प्रगति कर सका। सन् १७०८ ई० में उसने अपने अन्य आविष्कारों का भी पेटेण्ट प्राप्त कर

लिया। अधिकांश आविष्कारकों की तरह आर्कराइट को भी प्रतिद्वन्दी व्यापारियों और व्यवसायियों का तीव्र विरोध सहना पड़ा। उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने कम साधन सम्पन्न और अभागे व्यक्तियों के विचारों से लाभ उठाया है। १७८५ में पार्लियामेन्ट ने भी उसे पेटेण्ट के अधिकारों से वंचित कर दिया। फिर भी डेनिलडेल की साझेदारी में उसने स्काटलैंड में न्यूलैनार्क मिल्स और बेकवेल में भी एक मिल स्थापित की। उसने सर्वप्रथम अपनी नोटिंगम फैक्टरी में वाष्प एंजिन का भी प्रयोग किया।

सेम्यूअल क्रोम्पटन तथा म्यूल (1753-1827)—क्रोम्पटन ने उत्तम सूत का विशाल पैमाने पर उत्पादन अपनी म्यूल नामक मशीन के आविष्कार से सम्भव बना दिया। क्रोम्पटन; बोल्टन का रहने वाला था उसने १७७६ में म्यूल का आविष्कार किया जिससे जैनी और वाटर फ्रेम के सिद्धान्तों को मिलाकर महीन और मजबूत सूत तैयार किया जाने लगा। इस प्रकार इंग्लैंड में मलमल बनाना सम्भव हो सका (इससे पूर्व यह भारत से आयात की जाती थी) जैनी के समान ही पहले तो म्यूल लकड़ी से बनाई गई और बाद में सन् १७८३ में सुधरे हुए डिजायन के अन्तर्गत धातु के रोलर और चक्र इत्यादि बनाये गये। सन् १७६० में **विलियन केली (Willian Kelly)** ने 'स्वचालित म्यूल' का आविष्कार किया जिसमें कई सौ तकुए लगे हुए थे और इस प्रकार १२०० ई० तक म्यूल ने 'स्पिनिंग जेनी' को सूती व्यवसाय से हटा सा दिया।

विटने और उसका सा-जिन (Whitney's Saw-Gin)—अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कच्चा माल (कपास) के उत्पादन-कार्य में इस मशीन के आविष्कार से सहायता मिली। इस शताब्दी में अमरीका से आने वाली लम्बी रेशे वाली कपास की पूर्ति सीमित थी क्योंकि वह कुछ ही स्थानों पर उगाई जाती थी। विटने की औटाई मशीन से कपास को बिनौलों से अलग किया जाने लगा उसके फलस्वरूप छोटे रेशे वाली कपास उत्पन्न करना आर्थिक और मितव्ययिता की दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। चूंकि छोटे रेशे वाली कपास लाभदायक ढंग से सभी दक्षिणी-राज्यों में उगाई जा सकती थी अतः अमरीका असीमित मात्रा में कपास का निर्यात करने लग गया।

बुनाई विभाग (Weaving Department)—कताई विभाग में उपर्युक्त परिवर्तनों और आविष्कारों ने सूत का उत्पादन सस्ता व अप्रत्याशित रूप से बढ़ा दिया, अतः कताई और बुनाई में संतुलन बिगड़ गया। अतः बुनाई विभाग में भी आविष्कारों की आवश्यकता अनुभव की गई।

एडमंड कार्टराइट और शक्ति-चालित कर्घा (Edmund Cartwright & Powerloom (1743-1823)—एडमंड कार्टराइट, (जो एक पादरी था और जिसे विशिष्ट तकनीकी ज्ञान भी न था) ने बुनाई की इस समस्या पर विचार किया। सन् १७८५ में उसने एक शक्ति-चालित कर्घे की डिजायन तैय्यार की जो एक केन्द्र पर कार्यशील हो सकता था किन्तु वह अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। तकनीकी ज्ञान और अन्य कर्घों के परीक्षण का अनुभव एडमंड को इस बात में सफलता प्रदान कर सका कि वह एक उत्तम शक्ति-चालित कर्घा निकाल सका। सन् १७८७ में डान कैस्टर में एक छोटी फैक्टरी स्थापित की गई जिसमें स्टीम एन्जिन बर्मिघम से लाया गया किन्तु यह प्रयत्न भी असफल हुआ और आविष्कर्ता बरबाद हो गया। कार्टराइट ने वूल-काम्बिग-मशीन का भी आविष्कार किया जो बाद में अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। स्कॉटलैण्ड में शक्तिचालित कर्घा व्यावसायिक दृष्टि से सफल हुआ और सन् १७९३ में रोबर्टसन ने ग्लासगो और डम्बरटन में कर्घे स्थापित किये।

कर्घे की कुछ कमियाँ **रेडक्लिफ** और **रॉस** ने तथा **विलियम जोनसन** ने दूर कीं। सन् १८०३ से १८११ के मध्य में स्टॉकपोर्ट के **होरोक्स** ने पूर्ण धातु की मशीन बनाई और तभी से शक्ति-चालित कर्घा अपने आधुनिक रूप को प्राप्त कर सका। होरोक्स को इस आविष्कार से कोई लाभ नहीं हुआ, परन्तु उसके विचारों को विकसित करके **रोबर्टस और शार्प** ने सुधरा हुआ मॉडल १८२२ में बाजार में प्रस्तुत किया। सन् १८४०० तक वास्तव में **कैनवर्दी** तथा **बुलोग** ने कर्घे पर सुधारों का क्रम पूरा किया जिसके द्वारा बुनाई के श्रम में बचत हुई और उत्तम-कोटि का वस्त्र बनना सम्भव हो सका।

छपाई और रंगाई (Printing & Dyeing)—सन् १७८० से १८०० ई० के बीच में सूती वस्त्र व्यवसाय में छपाई और रंगाई के क्षेत्र में भी बहुत सुधार हुए। सन् १७८३ तक छपाई हाथ से होती थी जिसमें कि श्रम, शक्ति और धन का अपव्यय होता था। सन् १७८३ में **थोमस बैल** ने ताँबे के सिलैन्डर द्वारा छापने का आविष्कार किया और शीघ्र ही पूरे लंकाशायर क्षेत्र में इस प्रकार की छपाई का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार ग्लासगो के **टैनेन्ट** ने रंगाई की कला में १७९९ में सुधार और आविष्कार किया जिससे महीनों का कार्य दिनों में होने लगा। इसी प्रणाली को बाद में मैनेचेस्टर के **हेनरी** ने विकसित किया। लगभग इसी समय **टेलर** ने **टर्कीरेड** रंगाई का ढंग निकाला जिसकी रंगाई भारतीय रंगाई से ऊँची सिद्ध हुई। इस प्रकार सूती वस्त्र व्यवसाय के प्रत्येक विभाग में आविष्कारों की धूम मच गई।

प्रारम्भिक दशा में कुछ आविष्कारकों को शारीरिक यातनाएँ सहनी पड़ीं और कुछ को अपना देश भी छोड़ना पड़ा क्योंकि उस समय इंग्लैंड इन आविष्कारों द्वारा उत्पन्न आर्थिक प्रभाव को झेलने के लिए तैयार नहीं था। किन्तु भारतवर्ष और अन्य उपनिवेशों से जब बड़ी मात्रा में पूँजी इंग्लैण्ड में आने-जाने लगी तब ये आविष्कार काम में लाए जाने लगे। श्रमिकों के अभाव और पूँजी के बाहुल्य ने सूती वस्त्र-व्यवसाय क्षेत्र में उत्पादन की नवीन पद्धति को प्रश्रय दिया। कातने और बुनने की पद्धतियाँ पहले मनुष्य द्वारा संचालित होती थीं अब मशीन द्वारा संचालित होने लगीं। लंकाशायर और यार्कशायर सूती वस्त्र के केन्द्र बन गये। ऊनी वस्त्र उद्योग में भी इन आविष्कृत मशीनों का उपयोग किया जा सकता था परन्तु निम्न कारणों से ऐसा नहीं हो सका :—

(१) ऊनी वस्त्र उद्योग में श्रमिकों की अधिकता थी। व्यवसायी उनके स्थान पर मशीनों का श्रीगणेश करके श्रमिक आन्दोलन और असन्तोष को निमन्त्रित नहीं करना चाहते थे। उससे उत्पन्न बेकारी की समस्या भी उन्हें बाधित करती थी कि वे इन नवीन आविष्कारों का लाभ न उठावें।

(२) ऊनी वस्त्र व्यवसाय का आर्थिक और व्यापारिक संगठन बहुत ही सुव्यवस्थित था और ऊन के माल की माँग देश और विदेश में बिना नवीन आविष्कारों को अपनाये हुए भी अधिक थी। अतः वे उसमें परिवर्तन के इच्छुक नहीं थे जिससे कि समस्त व्यवस्था में परिवर्तन हो।

(३) आंशिक रूप में मशीनों के आविष्कार में ऊनी वस्त्र बुनने और कातने की मशीनों का भी अभाव था जिससे ऊनी वस्त्र व्यवसायी उस ओर आकर्षित न हो सके। नवीन प्रयोगों के खतरों से भी ऊनी वस्त्र व्यवसायी सशंकित

थे। उन्होंने इसमें ही बुद्धिमानी समझी कि नवीन प्रयोगों से उत्पन्न लाभों को बिना देखे नहीं अपनाना चाहिये।

उपर्युक्त कारणों से ऊनी वस्त्र उद्योग में मशीनों का प्रयोग १८५० के लगभग ही हो सका। उसकी तुलना में **सूती-वस्त्र उद्योग निम्नांकित कारणों से मशीनों के प्रयोग में अग्रणी रहा :—**

(१) इङ्गलैंड की जलवायु इस उद्योग के लिये अनुकूल थी।

(२) यन्त्रों के आविष्कार से बड़े पैमाने और कम व्यय में उद्योग को चलाना सम्भव हो गया।

(३) विश्व के अन्य देशों में इस उद्योग का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सका था अतः इङ्गलैंड को आसानी से कच्चा माल मिल जाता था।

(४) उपनिवेशों के हाथ में आ जाने से बाजार की समस्या हल हो गई थी।

(५) उद्योग को चलाने के लिए लोहा और कोयला दोनों प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे।

(६) इङ्गलैंड की सरकार द्वारा तटकर और संरक्षण की नीति उद्योग को मिली थी।

(७) श्रमिक का अभाव था।

(८) उस समय इङ्गलैंड में एक नये तरह के वस्त्र का उद्योग विकसित हो रहा था जिसमें आधा लिनन और आधा सूती सूत मिला रहता था जिसे इङ्गलैंड की महिलाएँ बहुत पसन्द करती थीं।

(९) इङ्गलैंड में अन्न की कमी थी और इस कमी को दूर करने के लिए सूती-वस्त्र-उद्योग की उन्नति करने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था। ऊनी वस्त्रों का व्यापार विस्तृत होते हुए भी स्थानीय अधिक था अतः विदेशों को सूती वस्त्र ही देकर इङ्गलैंड उनसे अन्न खरीद सकता था।

(१०) इंग्लैंड के प्राकृतिक तथा उपयुक्त बन्दरगाहों की अधिकता ने कच्चे माल के आयात और पक्के माल के निर्यात को सुगम बना दिया था।

(११) पूर्वी देशों में धार्मिक-विरोध तथा अन्धविश्वास के कारण यन्त्रों का प्रयोग नहीं हो पाता था। उनके पास उतनी पूँजी भी नहीं थी। अतः इंग्लैंड को निर्विघ्न आगे बढ़ने का अवसर मिला।

(१२) इंग्लैंड में पूँजी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। यहाँ की बैंकिंग, साख और जहाजरानी का विकास तीव्र गति से हो रहा था।

(१३) इंग्लैंड में यातायात के क्षेत्र में प्रगति हो रही थी, इस प्रकार सूती वस्त्रोद्योग के विकास में बड़ी सहायता मिली।

सूती मिलों के विकास ने कई समस्यायें उत्पन्न कीं जिन्हें सरलता से हल कर लिया गया। **ऐसी एक समस्या कपास पूर्ति की थी।** यह तो स्पष्ट है कि इंगलैंड एक पौंड भी कपास उत्पन्न नहीं करता था, वह विदेशों से ही इसका आयात करता था। किन्तु भारी मात्रा में कपास का आयात तभी सम्भव था जबकि इस प्रकार का उपाय ढूँढ़ निकाला जाय जिससे जहाज में कम स्थान घेरा जाय। **विटने (Whitney) ने** सन् १७९३ में जिनिंग-प्रोसेस का आविष्कार किया, उसके पश्चात् अमेरिकन कपास

का भारी मात्रा में देश में आयात होने लगा। सन् १८३२ में ३००० लाख पौंड के मूल्य का कपास अमेरिका से निर्यात किया गया जिसमें से इंग्लैंड ने २२०० लाख पौंड का कपास आयात किया था।

द्वितीय महत्वपूर्ण समस्या भारी और बड़े पैमाने के उत्पादन के लिये बाजार और मंडी की खोज थी। औपनिवेशिक दौड़ में इंग्लैंड ने कई उपनिवेशों पर अधिकार कर लिया जिसमें भारत भी था। सन् १८१३ में सभी अँग्रेज-व्यापारियों को व्यापार की खुली छूट थी और आयात-कर भी कम रखे गये। भारत में आयात किये जाने वाले वस्त्र और सूत के आँकड़े बाजार के विस्तार पर प्रकाश डालते हैं :—

	सूत	वस्त्र
१८१५	—	८,००,००० गज
१८३०	३०,००,००० पौंड	४,५०,००,००० गज

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इंग्लैंड में सूती-वस्त्र उद्योग का कुछ विकास उसकी कारीगरी, मेहनत और अध्यवसाय से हुआ; कुछ विकास उसके प्राकृतिक और भौगोलिक परिस्थितियों और कुछ विकास उपनिवेशों के संघर्ष में विजय से हुआ। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय दशाब्दी तक उद्योग सुदृढ़ आधार पर संगठित हो गया। सन् १८३३ में १,००,००० शक्ति-कर्घे कार्यशील थे जिसमें कपास का उपभोग ३००० लाख पौंड तक पहुँच गया था। उस समय देश में १२६२ कपास के कारखाने थे जिनमें २,२०,००० श्रमिक नियोजित थे।

इस प्रयोगात्मक-स्तर के बाद उद्योग निरन्तर प्रगति करता गया। यह विशेषतः लंकाशायर में केन्द्रित हुआ और यही कारण था कि युद्ध के समय के अनुमान के अनुसार ८५% श्रमिक इस भाग में ही नियोजित थे। इस स्थान पर उद्योग के केन्द्रीयकरण होने के कई कारण थे—(१) यदि कताई शुष्क जलवायु में की जाय तो रुई का धागा टूट जाता है, लंकाशायर में भारी वर्षा होती है और यहाँ का जलवायु नम होता है। (२) पेनाइन और रोसनडेल की घाटियों के नालों से आरम्भ में मशीनों के लिए जल-शक्ति मिल गई और भाप के इंजन के आने के पश्चात् इसको चलाने के लिये इस जिले का कोयला उपलब्ध हो गया। (३) लंकाशायर जिले के लिये कच्ची रुई का आयात करने और सूती-वस्त्र का निर्यात करने के लिये लीवरपूल का बन्दरगाह आदर्श है। देश के अन्य भागों में इन अनुकूल परिस्थितियों में से एक या अन्य पाई जाती हैं। क्लाइड की घाटी के अतिरिक्त तीनों बातें एक साथ कहीं नहीं पाई जातीं और वहाँ वस्त्र-निर्माण की अपेक्षा जहाज बनाने के लिये प्राकृतिक लाभ अधिक है, इसलिए क्लाइड क्षेत्र ने लंकाशायर से वस्त्र-निर्माण में प्रतियोगिता नहीं की है और जहाजों के बनाने में ही ध्यान केन्द्रित रखा। इसीलिये सूती-वस्त्र के निर्माण के लिये लंकाशायर आदर्श स्थल सिद्ध हुआ। यह उद्योग सुसंगठित है और इसकी मंडियों और व्यापार के मार्ग सुस्थापित हैं। यहाँ के श्रमिकों ने अभूतपूर्व क्षमता प्राप्त करली है और इस जिले में कई सहायक उद्योग स्थापित हो गये हैं। १८७५-७६ और १८८५-८६ की अवधि में अमेरिकन-गृह-युद्ध तथा आर्थिक-मन्दी के कारण इस उद्योग की प्रगति में थोड़ी बाधा अवश्य आई किन्तु इसके बाद उसकी प्रगति आशातीत हुई। प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने के समय तक ५६० लाख तकुऐ, ८ लाख ५ हजार शक्ति-कर्घे इस उद्योग में कार्य कर रहे थे। इनमें २,०००० लाख

पौंड कपास का उपभोग होता था और ६,२०,००० श्रमिक नियोजित थे। इंग्लैंड के कुल निर्यात व्यापार में सूती-वस्त्रों का एक-चौथाई भाग था। सारे विश्व के सूती वस्त्र उद्योगों में इंग्लैंड का प्रथम स्थान था जिसमें विश्व के कुल तकुओं का ३९ प्रतिशत और कर्घों का २९ प्रतिशत और विश्व में कपास के व्यापार का ६५ प्रतिशत इंग्लैंड के हाथ में था। इस उद्योग का मुख्य बाजार ब्रिटिश-भारत था जो ४४ प्रतिशत सूती-वस्त्र का आयात इंग्लैंड से करता था। इस शताब्दी में इंग्लैंड की सफलता आश्चर्यजनक और प्रशंसनीय थी।

प्रथम-महायुद्ध के प्रारम्भ होने से इंग्लैंड के सूती-वस्त्र-उद्योग को बड़ा धक्का लगा। युद्ध के समय कपास का आयात और वस्त्रों का निर्यात कठिन हो गया। इन कठिनाइयों के कारण १९१७ से १९१९ तक इस उद्योग को **कपास-नियन्त्रक समिति (Cotton Control Committee)** के आधीन कार्य करना पड़ा। यह समिति कपास का राशनिंग करती थी और जहाँ आवश्यक समझा जाता वहाँ मशीनों को बन्द भी कर दिया जाता था। जहाजरानी की कमी के कारण इंग्लैंड को कई बाजारों से हाथ धोना पड़ा।

युद्धोपरान्त काल में कुछ समय के लिए पूर्वी देशों की माँग बढ़ गई किन्तु सन् १९२० के पश्चात् उद्योग का लगातार ह्रास होता रहा और १९२४ ई० तक सूत और कपड़ों का उत्पादन १९१३ ई० की अपेक्षा क्रमशः ३० और ३३ प्रतिशत कम हो गया। सन् १९३० ई० में १९२४ ई० की तुलना में उत्पादन ४०% और घट गया। १९२५ में विश्व में सूती उद्योग का भारी विस्तार और प्रसार हुआ परन्तु लङ्काशायर उद्योग लगातार गिरता गया। विश्व-मंदी से परिस्थिति और बिगड़ गई। **सन् १९२४ ई० के बाद इंग्लैंड के सूती वस्त्र उद्योग की अवनति के निम्नलिखित कारण थे :—**

(१) भारत और चीन निवासियों की क्रय-शक्ति बहुत कम हो गई थी तथा इंगलैंड का वस्त्र मँहगा होने के कारण इन देशों में विलायती वस्त्र की बिक्री कम हो गई।

(२) सुदूर पूर्वी देशों में कपड़े का उनका अपना उत्पादन भी बढ़ गया था क्योंकि इन देशों में भी औद्योगिक-विकास के फलस्वरूप सूती उद्योग स्थापित हो गया था। अतः इन देशों में विदेशी कपड़ों के आयात में कमी हो गई और इंगलैंड के लिए बाजार की समस्या भयङ्कर हो गई।

(३) इंगलैंड से वस्त्रों के कुल निर्यात कोटे में कमी हो गई।

(४) इसी समय जापान ने औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश किया और वह इतना सस्ता कपड़ा बेचने लगा कि ७५ प्रतिशत कर लगाने पर भी उसका मूल्य इंगलैंड के कपड़े से कम होता था। अतः जापानी वस्त्रोद्योग ने प्रतिस्पर्द्धा में इंगलैण्ड के उद्योग को समाप्त सा कर दिया।

(५) इंगलैण्ड में भी लोग सूती कपड़े के स्थान पर अन्य प्रकार के कपड़ों का प्रयोग करने लगे। अतः सूती-वस्त्र की स्थानीय और राष्ट्रीय माँग में भी कमी आ गई।

(६) चीन में दस्तकारी उद्योग की पर्याप्त प्रगति हुई तथा यह अपनी आवश्यकता का अतिरिक्त वस्त्र जापान से आयात करने लगा।

(७) संरक्षणवादी नीति के फलस्वरूप कई देशों में राष्ट्रीय उद्योगों के विकास की बलिवेदी पर आयात को कम से कम कर दिया गया।

१९२९ के विश्वव्यापी आर्थिक-मन्दी के काल में उद्योग को बड़ा धक्का पहुँचा। इस ह्रास प्रक्रिया को रोकने के लिए सूती-वस्त्र उद्योग में संयोग आन्दोलन (Combination Movement) प्रारम्भ हुआ। १९२८ में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक समिति का निर्माण हुआ, जिसकी देख-रेख में कई निगम स्थापित किये गये, जिनमें लंकाशायर कॉटन निगम सबसे प्रमुख था। इसके अतिरिक्त **कम्बाइनिंग इजीशियन-स्पीनर्स एण्ड कं० तथा क्विल्ट मेन्यूफेक्चरर एसोसियेशन** स्थापित की गई।

इस प्रकार इस उद्योग ने गिरते हुए निर्यात बाजार को रोकने का प्रयत्न किया। सरकार ने उद्योगपतियों की मंशा का आदर करते हुए सन् १९३६ में **सूती-उद्योग पुनर्गठन विधेयक (Cotton Industry Reorganisation Act)** स्वीकृत किया। इसके अनुसार एक तकुआ-मण्डल (Spindles Board) की स्थापना की गई और उसको आवश्यकता से अधिक तकुओं को कारखानों से निकाल देने का काम सुपुर्द किया गया। सन् १९३६ ई० के बाद से यह उद्योग सरकारी सहायता के बल पर ही चल रहा है। १९३९ ई० में **काटन-इण्डस्ट्रीज बोर्ड** की स्थापना की गई। द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने से इस उद्योग की गिरती हुई अवस्था को सहारा मिल गया। युद्ध में वस्त्रों की माँग बढ़ी और उसकी पूर्ति के लिए इंगलैण्ड के सूती वस्त्र-उद्योग का उत्पादन भी बढ़ाया गया। युद्ध के समय सरकारी नियन्त्रण और भी सक्रिय और व्यापक हो गया। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् उद्योग में पुनरुत्थान का युग आया। युद्ध के युग में राशनिंग और नियन्त्रण के कारण कपड़े की आवश्यकताओं को कम करना पड़ा। इस समय उपभोक्ताओं की माँग में वृद्धि हुई किन्तु उत्पादन को बढ़ाने में इङ्गलैण्ड को एक बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा और वह कठिनाई थी श्रमिकों का अभाव। युद्ध से पूर्व इङ्गलैंड के इस उद्योग में ११,६०,००० श्रमिक नियोजित थे किन्तु युद्ध के पश्चात् १९४६ ई० में कुल ८,४४,००० श्रमिक बच रहे। श्रमिकों का यह अभाव कई वर्षों तक चलता रहा। १९५०-५१ में उनकी संख्या १०,१५,००० हो गई। सन् १९५१ में इस उद्योग में १,९०,००० श्रमिक कताई में और १,३५,००० श्रमिक बुनाई विभाग में नियोजित थे। इनमें से $\frac{3}{4}$ भाग महिला-श्रमिकों का था। इन्हीं दिनों इंगलैण्ड को अफ्रीका में बहुत ही अच्छा बाजार मिल गया था। उत्तरी अमेरिका को छोड़कर जितना भी सूती-वस्त्र इंगलैण्ड से निर्यात किया जाता है उसका ८० प्रतिशत राष्ट्र मण्डलीय देशों में ही जाता है और उनमें अफ्रीका का सबसे बड़ा भाग है। श्रमिकों के अभाव की पूर्ति ने विवेकीकरण की योजना लागू की और बहुत पुराने यन्त्रों को बदल कर नवीन यन्त्र लगाये। विवेकी-करण के कारण उत्पादन-कुशलता भी बढ़ गई और १९३७ ई० की अपेक्षा १९५० में प्रति व्यक्ति पीछे वार्षिक उत्पादन २० प्रतिशत बढ़ गया। १९६१ में १२३·५ करोड़ गज सूती कपड़ा तथा ७२·८ करोड़ सूत तैयार किया गया।

उद्योग की समस्यायें

इंगलैण्ड के सूती-वस्त्र उद्योग की समस्याएँ इस प्रकार हैं :—

(१) देश में जिस समय एकीकरण और समन्वय के लिए प्रयत्न किए जा रहे थे उस समय क्षितिजीय विशिष्टीकरण (Horizontal Specialisation) की प्रक्रिया को देश के उद्योगों के लिए उचित नहीं समझा गया। इस प्रकार लम्बरूप

विशिष्टीकरण (Vertical Specialisation) प्रणाली को अपनाने की माँग औद्योगिक क्षेत्रों में होने लगी।

(२) औद्योगिक क्षेत्र की दूसरी समस्या प्राविधिक अनिपुणता (Technical Inefficiency) की थी।

(३) विदेशी-बाजारों की प्रतिस्पर्द्धा भी उद्योग की एक प्रमुख समस्या थी जिसके कारण उद्योग को प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के बीच के समय में भारी हानि उठानी पड़ी।

(४) द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही उद्योग को अधिक लागत मूल्य की कठिनाई का अनुभव हो रहा है।

(५) निर्यात की स्थिति १९३९ और १९६१ में लगभग समान ही थी। सन् १९३९ में निर्यात ३३४० लाख गज था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इंगलैण्ड का सूती-वस्त्र उद्योग लगातार मन्दी का सामना कर रहा है। १९५१ के बाद से सूती वस्त्रों के निर्यात में भारी कमी हो गई। इसका मुख्य कारण यही था कि भारत का सूती-वस्त्र-उद्योग काफी विकसित हो चुका था और इसके अतिरिक्त जापान ने एशिया के बाजार में अपना प्रभुत्व जमा लिया था। सूती-वस्त्रों के उत्पादन में बहुत कमी करदी गई और बहुत से कारखाने बन्द होने लगे। यूरोप के बाजारों में भी इंगलैंड को फ्रांस से प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ा किन्तु १९५२ के समाप्त होते-होते पुनरुत्थान का बीज पुनः उगने लगा था। **श्री एन्थोनी इडन** के प्रधान-मंत्रित्व काल में एक टैक्सटाइल शिष्ट-मंडल भारत आया था और जिसने ३ मई सन् १९५५ में भारत सरकार से एक समझौता किया जिसके अनुसार निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए २५% की कमी मूल्य में करदी गई। इसी प्रकार क्रय-कर (Purchase tax) के उन्मूलनार्थ भी ब्रिटिश सरकार ने ४ मई १९५५ को एक अधिनियम स्वीकृत किया। इन दोनों योजनाओं से जो कि संरक्षण के लिए आवश्यक थीं ६० लाख पौण्ड कुल लागत का अनुमान किया गया। **यूनाइटेड-किंगडम-एकाधिकार और प्रतिबन्धात्मक प्रयोग-आयोग (United Kingdom Monopolies and Restrictive Practices Commission)** ने २९ जून १९५५ को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। **आयोग ने एक ६ सूत्रीय समझौता कार्य-क्रम प्रस्तुत किया :—**

(१) विक्रेताओं द्वारा सामूहिक विवेकपूर्ण निर्णय और मूल्य निर्धारण;
(२) विक्रेताओं द्वारा सामूहिक विवेकपूर्ण क्रय;
(३) सामूहिक रूप में विक्रय दशाओं का निर्धारण;
(४) सामूहिक रूप से उपर्युक्त दशाओं पर लागू करना;
(५) क्रेताओं का सामूहिक विवेकपूर्ण निर्णय;
(६) संग्रहित रिबेट।

बीसवीं शताब्दी में निरन्तर बढ़ती हुई विदेशी प्रतिस्पर्द्धा तथा कई देशों द्वारा (विशेषतः भारत द्वारा) सूती-वस्त्र उद्योग की स्थापना ने ब्रिटिश बाजारों का अभाव उत्पन्न कर दिया। १९३७ के स्तर से श्रमिक सख्या ५० प्रतिशत तक कम हो गई। सन् १९५९ के अन्त तक १,००,००० व्यक्ति कताई तथा डबलिंग विभाग में नियोजित

थे तथा ६३,००० व्यक्ति बुनाई विभाग में नियोजित थे। इन श्रमिकों में २/३ भाग स्त्रियों का है। अधिकतर यह उद्योग लंकाशायर तथा उत्तरी-पूर्वी भाग में स्थित है जो कि बुनाई के लिए प्रसिद्ध है तथा दक्षिणी-पूर्वी भाग कताई से सम्बन्धित है। कॉटन-एक्सचेन्ज जो कि कच्चे माल के व्यापार में नियोजित है, लिवरपूल में स्थित है।

अप्रैल सन् १९५९ में सरकार ने अतिरिक्त कार्यक्षमता को कम करने की योजना की घोषणा की। सरकारी कोष से अतिरिक्त कार्यक्षमता कार्य के अन्तर्गत २/३ भाग मुआवजा रूप में दिया जायगा साथ ही उद्योग के आधुनिकीकरण तथा पुनरुद्धार के लिए १/४ भाग मूल्य अदा किया जायगा। इस प्रकार की पंचवर्षीय योजना का अनुमानित व्यय ३०० लाख पौण्ड होगा। यह सम्पूर्ण योजना कार्य-क्रम एक विशिष्ट संस्था **'कपास-मंडल' (Cotton Board)** द्वारा चलाई जायगी जिसे कि विकास परिषद् के रूप में सवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं।

सन् १९४५ से १९५१ तक उत्पादन में लगातार वृद्धि हुई जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है तत्पश्चात् लगातार उतार-चढ़ाव का काल रहा है। तकनीकी सुधारों के बावजूद भी आयात-करों से मुक्त आयातित भूरे-वस्त्र ने स्थिति गम्भीर बना दी है। सन् १९५९ में इस प्रकार के वस्त्र का आयात ३५२० लाख वर्ग गज था। राष्ट्रमण्डलीय देशों से इस प्रकार के समझौते किए जा रहे हैं कि जिससे इस प्रकार के वस्त्रों के आयात की सीमा निर्धारित करदी जाय। उत्पादन और उपभोग का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि सन् १९३७ की तुलना में सन् १९५९ का उत्पादन आधा था तथा कपास का उपभोग सन् १९५९ में २,८४,००० टन था जबकि सन् १९३७ में ६,३९,००० टन था।

कोयला उद्योग
(Coal Industry)

अध्याय १०

यह सर्वविदित है कि कोयला और लोहा औद्योगिक क्रांति के दो चक्र रहे हैं। कोयले का महत्व इस बात से आँका जा सकता है कि धातु-सम्बन्धी उद्योगों तथा अन्य उद्योगों में इसका कितना उपयोग होता है। यातायात के साधनों को क्रियाशील बनाने में भी कोयला जीवन-दायनी शक्ति सिद्ध हुआ है। औद्योगिक क्रान्ति के अन्तर्गत जो एक मूल-भूत परिवर्तन हुआ है वह हाथ के काम के स्थान पर मशीन द्वारा उत्पादन था मशीन शक्ति से चलाई जाती थी और प्रारम्भ में यह बहते हुए पानी से चलती थी। कालान्तर में शक्ति के साधन के रूप में वाष्प की उत्तमता ज्ञात हुई और इसके प्रयोग से इन्जिनों और मशीनों के निर्माण के लिये लोहे की माँग हुई। इनको चलाने के लिए कोयले की आवश्यकता हुई। रोम के समय में भी कोयला खानों से खोदा या निकाला जाता था। सम्भवतः सेक्सन और नार्मन समय में बहुत कम खानें खोदी गई, परन्तु तेरहवीं शताब्दी में टाईन क्षेत्र में उद्योग की उन्नति हुई। समुद्र का कोयला जहाजों से इंगलैण्ड भेजा जाता था जहाँ पर वह मुख्यतः घरेलू कार्यों के लिए काम आता था। चौदहवीं शताब्दी तक नोर्दम्बरलैंड, डरहम, यॉर्कशायर, लंकाशायर, स्टैफोर्डशायर और दक्षिणी वेल्स में कोयले का प्रयोग होने लगा। बाद में कोयले का निर्यात यूरोप के अन्य देशों को भी होने लगा। ग्रेट-ब्रिटेन में कोयले और लोहे की प्रचुरता थी। यदि ऐसा नहीं होता तो उसको औद्योगिक प्रधानता नहीं मिल सकती थी।

१६ वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति आने पर कोयले का अधिक महत्व अनुभव किया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी में रेलें और भाप से चलने वाले जहाज कोयले के बिना कार्य नहीं कर सकते थे। बहुत दिनों तक यह कच्चे लोहे को गलाने के लिये उपयुक्त नहीं माना जाता था, क्योंकि कोयले की गन्धक लोहे से मिलकर उसको कुरकुरा बना देती थी किन्तु जैसा कि आगे के वर्णन से स्पष्ट हो जायगा कि जब डरबी ने कोयले को गलाने की भट्ठियों में काम लेने से पूर्व कोक के रूप में बदल दिया तो समस्या हल हो गई।

प्रारंभिक आविष्कारक—वाष्प-एंजिन ने औद्योगिक क्रांति का मार्ग बहुत कुछ निर्धारित किया है। इस प्रकार के एंजिन बनाने के प्रयास किये जा रहे थे। इस प्रकार के प्रयत्नशील व्यक्तियों में **मारकिस आफ वरसेस्टर (Marquis of Worcester (1663)** सर्वप्रथम थे जिसने सबसे पहले वाष्प एंजिन का आविष्कार किया लेकिन वह अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। पेपिन (Papin) ने 'डाइजेस्टर'

(Digester) नामक इंजन का आविष्कार किया लेकिन उसकी भी व्यावहारिक महत्ता नगण्य थी। उसने यह प्रयोग १६६० में किया।

सेवरी (Savery 1698)—सेवरी प्रथम व्यक्ति था जिसने व्यावहारिक कार्य-कलापों के लिये एंजिन का उपयोग किया। सेवरी ने पेपिन के वेक्यूम सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए उसे और आगे बढ़ाया। उसने अपने एंजिन का उपयोग खानों से पानी बाहर निकालने में किया।

न्यूकोमन (Newcomen)—एंजिन के आविष्कार के इतिहास में न्यूकोमन का नाम भी मुख्य है। इसने सिलेण्डर और बॉयलर को अलग-अलग बनाया।

वाट (James Watt 1738-1815)—जेम्स वाट का जन्म ग्रीन नोक नामक स्थान पर १७३६ में हुआ था। उसने तकनीकी ज्ञान के क्षेत्र में अपने स्टीम-एन्जिन से जो अद्‌भुत चमत्कार प्रस्तुत किया वह औद्योगिक क्रांति की उपलब्धियों में महत्व-पूर्ण है। उसके आविष्कार का गिल्डवादियों ने विरोध किया लेकिन ग्लासगो विश्व-विद्यालय ने उसे इस क्षेत्र में प्रयोग की सुविधा प्रदान कर सहायता दी। उसे अन्त में ऐसा अवसर भी प्राप्त हुआ कि जिससे वह न्यूकोमन के एन्जिन की मरम्मत और सुधार का काम कर सका। उसने कुछ सामान्य सिद्धान्त निकाले और उसे न्यूकामन एन्जिन पर प्रयोग किये। उसने कुछ सुझाव सुधार के लिये दिये और अपना प्रयोगा-त्मक एंजिन १७६३ से १७६६ के बीच बनाकर तैयार कर दिया। कुछ निश्चित सिद्धान्त सभी प्रकार के स्टीम एन्जिनों पर लागू किये गये जिससे उनकी कार्य-क्षमता बढ़ सके। वह अपने प्रयोग में तो सफल हो गया, लेकिन उसे व्यावसायिक सफलता प्रदान करने के लिये मैसर्स मेथ्यू बोल्टन से साझेदारी स्थापित की।

ट्रीवीथिक (Trevithick)—श्री ट्रीवीथिक ने १८०० में नोन-कन्डेंसिंग हाई-प्रेशर एन्जिन का आविष्कार किया।

जोन रोबक (John Roebuck) तथा मेथ्यू बाल्टन (Mathew Boulton)—जेम्स वाट ने स्टीम एन्जिन का प्रयोग तो सफलतापूर्वक कर लिया लेकिन व्यावसायिक और व्यावहारिक सफलता के लिये उसे केरन के **जोन रोबक** और सोहो बर्मिंघम के **मेथ्यू बाल्टन** की सहायता लेनी पड़ी। यह रोबक की वित्तीय सहायता का फल था कि वाट अपना प्रथम स्टीम एन्जिन एडिनबर्ग के पास स्थापित कर सका, लेकिन वह इतने दोषपूर्ण ढङ्ग से कार्य करता रहा कि उसे योजना का परित्याग करना पड़ा। सन् १७७३ में रोबक दिवालिया हो गया और जेम्स वाट ने मेथ्यू बाल्टन के साथ साझेदारी की। यह साझेदारी इस रूप में महत्वपूर्ण है कि न सिर्फ मैथ्यू बॉल्टन के पास पर्याप्त वित्तीय साधन थे वरन् उसके पास तत्कालीन तकनीकी ज्ञान की सुविधा और साधन भी उपलब्ध थे। प्रथम स्टीम एन्जिन जो सोहो में बनाया गया उसके द्वारा ब्लूमफील्ड कोयला खान का पानी निकाला गया तथा पानी निकालने के अतिरिक्त एक एन्जिन और बनाया गया जिससे विल्किनूसन की धमनभट्टियाँ प्रज्वलित करने का काम लिया गया। सन् १७७७ में मेथ्यू फर्म ने एन्जिन बनाने का काम आरम्भ किया जो कोरनिश टीन खानों का पानी निकाल सके। इस कार्य में प्रारंम्भ में कठिनाइयाँ अनुभव हुई लेकिन मैथ्यू बॉल्टन और वाट को भाग्य से ऐसा फोरमेन (विलियम मरडोक), प्राप्त था जिसने १७६४ में लोकोमोटिव स्टीम एन्जिन बनाया तथा १७८८ में कोयला गैस से सोहो वर्क्स को रोशन कर दिया।

मरडोक के सुझाव पर ही वाट ने रोटरी मोशन एन्जिन का पेटेन्ट प्राप्त किया; जिस पर वाट की सारी प्रसिद्धि निर्भर है।

कोयले ने इंगलैंड को वह शक्ति प्रदान की जिसके सहारे यन्त्रों को गति मिली, यातायात के नये साधन निकले जिनके द्वारा भारी से भारी सामान को भी कम समय और कम व्यय में एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाने लगा। उत्पादन-कुशलता बढ़ गई और बड़े पैमाने पर कम लागत से उत्पादन करना सम्भव हो गया तथा इंगलैंड की जनता को जीवन की अन्य सुविधाएँ उपलब्ध हुईं। इतना ही नहीं इंगलैंड के कोयले ने दुनियाँ के कई अन्य देशों के पनपते हुए उद्योगों की भी सहायता की और इंगलैण्ड ने कोयले के निर्यात से बड़ा धन कमाया तथा विश्व बाजार को कई वर्षों तक प्रभावित किया।

कोयला उद्योग का ऐतिहासिक सिंहावलोकन

कोयले का उत्पादन ब्रिटेन लगभग ७०० वर्षों से करता आ रहा है और लगभग ३०० वर्षों से तो वह एक संगठित उद्योग के रूप में अस्तित्व में है जो कि अन्य यूरोपीय देशों के कोयला उद्योग से २०० वर्ष पुराना है।

१६ वीं शताब्दी में कोयले का घरेलू कार्यों के लिए उपयोग होता था और जहाँ आवश्यक समझा जाता था वहाँ प्राकृतिक शक्ति-साधन के रूप में उपयोग किया जाता था। कोयले का उत्पादन सीमित था और प्रधान कठिनाई यह थी कि परतों से पानी बाहर निकालने का उपाय न होने से गहरी खुदाई सम्भव नहीं थी। यह ठीक है कि सेवरे (Savery) के अग्नि-एन्जिन और न्यू-कोमन (Newcomen) के एन्जिन से पानी बाहर निकालने की समस्या का हल हो गया था फिर भी उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। सन् १७५० में कोयला का अनुमानित उत्पादन ५०,००,००० टन था। सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् कोयला उद्योग के विकास की परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल हुईं। ये इस प्रकार थीं :—

(१) सन् १७०९ में सर्वप्रथम अब्राहम डरबी ने कोयले का प्रयोग कोक के रूप में किया था।

(२) जेम्स वाट ने वाष्प-चालित इन्जिन का आविष्कार किया और उसकी सहायता से खान से कोयला निकालना सरल हो गया। जेम्स वाट द्वारा एक और नये प्रकार के इन्जिन का आविष्कार हुआ जिससे खानों से पानी निकालने में सुविधा हो गई।

(३) सन् १७६० के बाद नहरों का निर्माण होने से सस्ता और शीघ्र यातायात उपलब्ध हुआ।

(४) उद्योगों में वाष्प-चालित इन्जिन का प्रयोग होने से कोयले की माँग में वृद्धि हुई।

(५) सन् १८६० के पश्चात् विश्व के अन्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति होने से कोयले की माँग विदेशों में भी बढ़ी।

(६) हेम्फ्री डेविस नामक व्यक्ति ने सुरक्षात्मक लेम्प (Davy's Safety Lamp) का आविष्कार किया जिससे कोयले की खानों में आग लगने का भय जाता रहा।

(७) सन् १८३६ में समुद्री तार के आविष्कार के कारण कोयले को खान से बाहर खींच कर लाने में सुविधा हो गई।

(८) सन् १८३७ में रागजास्ट पंखे के आविष्कार के बाद खानों की गहरी खुदाई सरल हो गई।

(९) शेफ्टस् के बन जाने से रोशनी की समस्या हल हो गई।

(१०) पीलर और स्टाल पद्धति द्वारा खुदाई के समय खानों की छतें गिरने का भय दूर किया गया। कुछ समय पश्चात् लॉंगवाल पद्धति का भी प्रयोग किया गया।

(११) रेल्वे, कोयला काटने के यन्त्र, बिजली तथा लिफ्ट आदि के कारण कोयले के उद्योग में बहुत उन्नति हुई और पर्याप्त गहराई तक खानें खोदी जाने लगीं।

उपर्युक्त परिस्थितियों ने कोयले-उद्योग के विकास में बड़ा सहयोग दिया। इसके कारण कोयले के उत्पादन और निर्यात में इस प्रकार से वृद्धि हुई :—

उत्पादन (लाख टनों में)		निर्यात (लाख टनों में)		प्रतिशत उत्पादन
१८००	१००	१८६६-७० (औसत)	१००	....
१८६०	८००	१९००	५००	२४
१९००	२,२५०	१९१३	९८०	३३
१९१३	२,८७०			

रोजगार	
१८५०	२,००,००० श्रमिक
१९१३	११,२७,००० श्रमिक

१९ वीं शताब्दी में कोयला उद्योग की विशेष उन्नति हुई। इस शताब्दी में इंग्लैंड ने प्रचुर मात्रा में कोयले का निर्यात किया। कोयले के मूल्य के अतिरिक्त निर्यात से जहाजी-किराये के रूप में भी इंग्लैंड को लाभ हुआ। माँग में अधिक वृद्धि होने के कारण कोयले का उत्पादन भी बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। १८०० ई० में कोयले का उत्पादन १०० लाख टन था; यह बढ़कर १९१३ में २८७० लाख टन हो गया। माँग की वृद्धि के साथ-साथ उत्तम खदानों की खुदाई भी होने लगी। इससे कोयला-उत्पादन-व्यय में वृद्धि हुई। यह समस्या इस रूप में अधिक विषम तब हुई जबकि सन् १९०२ में **कोयला-खान अधिनियम के** अन्तर्गत कार्य के घण्टे निश्चित किये गये जिससे प्रति श्रमिक उत्पादन कम हो गया। अतः यद्यपि उद्योग उन्नति अवश्य करता गया परन्तु उपर्युक्त परिस्थितियों से प्रभावित होने के कारण उद्योग का भविष्य जितना उज्जवल होना चाहिए था वह नहीं था।

प्रथम महायुद्ध और कोयला उद्योग

प्रथम-महायुद्ध के समय यह उद्योग सरकारी-नियन्त्रण के अन्तर्गत चला गया। प्रथम महायुद्ध में कोयला उद्योग को श्रमिक-संकटों का सामना करना पड़ा। श्रमिकों के अभाव के कारण उत्पादन में कमी आ गई तथा गहरी खानों की खुदाई बिल्कुल बन्द हो गई। उत्पादन की कमी के कारण निर्यात में भी कमी हो गई। युद्धोपरान्त

काल (१९२३) में कोयले का उत्पादन २०६० लाख टन आँका गया किन्तु देश का निर्यात इस क्षेत्र में अमेरिका और जर्मनी से प्रभावित हुआ। १९२७ में संयुक्त राज्य अमेरिका में कोयला-खनिकों की हड़ताल हुई तथा इसी प्रकार १९२३ में फर-घाटी पर अधिकार हो जाने से इंग्लैंड संयुक्त राज्य-अमेरिका और जर्मनी को कोयले का निर्यात कर सका। सन् १९२६ की इङ्गलैण्ड की आम हड़ताल के समय उद्योग के एकीकरण का प्रश्न विचाराधीन था। १९२६ में नियुक्त **सेम्यूअल-आयोग** की राय थी कि यह उद्योग संयोगीकरण द्वारा पर्याप्त मितव्ययिता प्राप्त कर सकता है। १९२३-२४ से कोयला उद्योग की स्थिति बिगड़ती चली गई थी। इसके ये कारण थे :—

(१) कोयले के स्थान पर शक्ति का प्रयोग गर्मी प्राप्ति के लिये किया जाने लगा।

(२) इंग्लैंड का कोयला यूरोप तथा अमेरिका की अपेक्षा अधिक मँहगा पड़ता था, क्योंकि वहाँ के श्रमिक कम कुशल थे और उनकी मजदूरी भी अधिक थी तथा यह उद्योग अच्छी तरह संगठित भी नहीं था।

(३) यूरोप तथा अमेरिका में कोयला उद्योग के विकसित हो जाने से इंग्लैंड के कोयले की माँग कम हो गई।

(४) इटली, भारत और जर्मनी में जल-शक्ति के विकास होने से कोयले की माँग बहुत कम हो गई।

(५) शक्ति के अन्य साधनों का आविष्कार हो जाने से इंग्लैंड में कोयले की माँग कम होने लगी।

(६) बहुत से देशों ने कोयले पर बहुत अधिक आयात-कर लगा दिया था, जिससे इंग्लैंड के कोयले का विदेशी व्यापार घट गया।

(७) इङ्गलैंड के कोयला खानों के मालिकों ने खानों की उन्नति के लिए कोई ठोस कार्य नहीं किये; जिससे तकनीकी के दृष्टिकोण से भी इङ्गलैंड का यह उद्योग जर्मनी और फ्रांस की अपेक्षा कमजोर पड़ने लगा।

(८) इङ्गलैंड की सरकार ने भी कोयला उद्योग की उन्नति के लिए कोई खास प्रयत्न उस समय तक नहीं किया।

(९) इंग्लैंड में कोयले की खानों में नये-नये वैज्ञानिक उपायों और प्रणालियों का उपयोग बहुत धीरे-धीरे और बहुत बाद में हुआ।

इन उपर्युक्त कारणों की पृष्ठभूमि में **सेम्युअल आयोग** के सुझाव और सिफारिशें इस प्रकार हैं :—

(१) कोयला-उद्योग के उत्पादन को नियन्त्रित करने के लिए एक योजना-विभाग की स्थापना की जाय।

(२) प्रत्येक खान की उत्पादन-मात्रा निश्चित की जाय।

(३) कोयला-खानों की खुदाई में वैज्ञानिक तरीकों का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय।

(४) कोयला-खान-उद्योग को संयोगीकरण (Combination) की ओर प्रेरित किया जाय।

(५) उद्योग का संगठन वैज्ञानिक आधार पर किया जाय।

(६) सहायक और पूरक उद्योगों की स्थापना की ओर प्रयत्न किये जायें।
(७) कोयले का श्रेणीकरण और प्रमाणीकरण किया जाय।

आयोग की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए सरकार द्वारा १९२६ में **खनिज-उद्योग अधिनियम** स्वीकृत किया गया एवं संयोगीकरण और समष्टीकरण की प्रक्रिया की सफलता के लिये स्टाम्प-ड्यूटी की छूट दी गई परन्तु इस अधिनियम से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। तत्पश्चात् सन् १९३० में **कोयला-खान-अधिनियम** स्वीकृत किया गया। इसी प्रकार कोयला उद्योग के पुनर्गठन के लिये एक विशिष्ट-आयोग की स्थापना हुई जिसका कार्य छोटी-छोटी खानों को मिलाकर बड़े पैमाने पर उद्योग का संचालन करना था। आयोग की योजना के विरोध से सन् १९३५ में उसका कार्य स्थगित कर दिया गया। १९३४ में इंग्लैंड और पोलैंड के बीच निर्यात-बाजार और मूल्य के प्रश्न पर समझौता हुआ। उद्योगों में एकीकरण की भावना जोर पकड़ रही थी अतः सन् १९३७-३८ में द्वितीय **कोयला-खान-अधिनियम** स्वीकृत किया गया। इससे पूर्व अर्थात् सन् १९२७ में ७७% कोयला केवल १५९ कम्पनियों द्वारा निकाला जा रहा था जबकि कुल कम्पनियों की संख्या १,००० थी अतः इस नियम में अनिवार्य रूप से निम्न व्यवस्था थी :—

(१) कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया जाय।
(२) अनिवार्य रूप से खानों का एकीकरण हो।
(३) कोटा-प्रथा तथा बिक्री योजना का श्रीगणेश हो।
(४) कोयला उद्योग का वैज्ञानिक संगठन हो।

द्वितीय महायुद्ध तथा कोयला उद्योग—राष्ट्रीय कोयला प्रमण्डल

द्वितीय-महायुद्ध काल में इस उद्योग में विशेष प्रगति न हो सकी। युद्ध की समाप्ति के पश्चात्, इंगलैंड की संसद ने सन् १९४६ में पर्याप्त विरोध होने पर भी श्रमिक-सरकार के नेतृत्व में **कोयला उद्योग-राष्ट्रीयकरण** अधिनियम स्वीकार कर दिया। इस अधिनियम के अन्तर्गत कोयला-उद्योग की व्यवस्था सार्वजनिक निगम (Public Corporation) के द्वारा संचालित, नियमित और नियन्त्रित होती है। अधिनियम के अधीन **"राष्ट्रीय-कोयला-मण्डल"** (**National Coal Board**) की स्थापना की गई जिसने सम्पूर्ण देश को ९ कोयला क्षेत्रों में विभाजित कर दिया है तथा इन ९ क्षेत्रों को ५० उप-क्षेत्रों में विभाजित किया गया है जिससे कोयले की खुदाई, ढुलाई और उत्पादन की क्रिया अधिक प्रभावशाली बन सके। युद्ध-काल में कोयले का निर्यात अस्त-व्यस्त हो गया था। सन् १९५२ में पुनः निर्यात् ने जोर पकड़ा और उस वर्ष ११७ लाख टन कोयला निर्यात् किया गया। उस वर्ष कोयले का कुल उत्पादन २२७४ लाख टन था और उद्योग में नियोजित श्रमिकों की संख्या ७,१६,६०० थी। सन् १९५० में राष्ट्रीय-कोयला-मंडल ने अपनी दीर्घकालीन योजना प्रस्तुत की। इस योजना के अनुसार ६३५० लाख पौंड पूँजी की उपलब्धि उन दस वर्षों (१९५०-६०) में होनी थी जिससे कोयले का उत्पादन १९६५ तक २४०० लाख टन तक पहुँच जाय। यह एक लचीली योजना थी जिसे १९५६ में पुनः संशोधित किया गया।

राष्ट्रीयकरण से इस उद्योग में निम्नलिखित सुधार किए गए हैं :—

(१) उद्योग की पूँजी बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है।

(२) उद्योग में विवेकीकरण (Rationalisation) अपनाया गया है।

(३) श्रमिक वर्ग के साथ उत्तम सम्बन्ध स्थापित किये गये। इसके लिये राष्ट्रीय कोयला बोर्ड ने निम्नलिखित उपाय किये हैं :—

(अ) पारिश्रमिक या मजदूरी में वृद्धि।

(आ) सप्ताह में ५ दिन काम करने का नियम और

(इ) पेन्शन की योजना का समारम्भ।

इसी प्रकार राष्ट्रीय कोयला बोर्ड (National Coal Board) के निम्नलिखित कार्य मुख्य हैं :—

(१) कोयले की उपलब्धि के लिये प्रयत्न करना।

(२) कोयला उद्योग का उत्तम विकास करना।

(३) जनता के हित को ध्यान में रखते हुए उचित मूल्य, उचित मात्रा, उचित और विविध प्रकार के उपयोगों में आने वाला कोयला उपलब्ध करवाना। बोर्ड को यह भी कार्य सौंपा गया है कि वह श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा का पूरा ध्यान रखे।

सन् १९४६ के अधिनियम के अन्तर्गत दो कोयला उपभोक्ता परिषदें स्थापित की गई हैं :—

प्रथम औद्योगिक कोयला उपभोक्ता परिषद्।

द्वितीय घरेलू कोयला उपभोक्ता परिषद्।

इन परिषदों का यह कर्तव्य है कि सम्बन्धित मंत्री को कोयले की बिक्री और पूर्ति की स्थिति की जानकारी समय-समय पर देती रहें।

बोर्ड के कार्यक्रम के प्रारम्भिक वर्ष सन् १९४७ में २३३ लाख पौंड का घाटा था तब से लगातार घाटे और बचत की अर्थ-व्यवस्था चल रही है। सन् १९६१ में कुल घाटा ९३० लाख पौंड का था।

उत्पादन और जन-शक्ति

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि जिस गति से कोयला उपयोग में आ रहा है उससे ४००-५०० वर्ष तक कोयले के भण्डार उपलब्ध होते रहेंगे किन्तु सम्भव है कुछ उत्तम कोयला उससे पूर्व ही समाप्त हो जाय।

इंगलैंड के प्रभावशाली कोयला क्षेत्र ये हैं :—

(१) यॉर्कशायर, डर्बीशायर, नोटिंघमशायर जो कि कुल उत्पादन का ४५ प्रतिशत भाग उत्पन्न करते हैं।

(२) डरहम, नोर्थम्बरलैण्ड।

(३) साउथ-वेल्स क्षेत्र।

(४) स्कॉटिश-क्षेत्र। इनके अतिरिक्त लंकाशायर और वैस्ट मिडलैण्ड (स्टैफर्डशायर तथा वारविकशायर) का नाम भी प्रसिद्ध कोयला क्षेत्रों में लिया जा सकता है।

राष्ट्रीयकरण के प्रारम्भिक वर्षों में कोयले का उत्पादन सन् १९४० में १८७० लाख टन से बढ़कर सन् १९५४ में २१४० लाख टन हो गया। तत्पश्चात् कोयला उत्पादन में जिस प्रकार वृद्धि हुई वह निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

इङ्गलैण्ड में कोयला उत्पादन सन् १९४७–६१

	इकाई	१९४७	१९५५	१९६०	१९६१
कुल उत्पादन, जिनमें से	मिलियन टनों में	१९६·६	२२१·६	१९३·७	१९०·५
ओपन-कास्ट	,,	१०·०	११·४	७·६	८·५
निर्यात	,,	५·३	१३·९	५·६	५·७
प्रति पारी उत्पादन					
कोयला-परत	टनों में	२·८६	३·२८	३·९८ (a)	४·१८
सम्पूर्ण	,,	१·०७	१·२३	१·४० (a)	१·४५
कुल श्रमिकों की संख्या कोयला परत (औसत)		२८७,९००	२८८,९००	२३२,३००	२१६,६००
कुल श्रमिक संख्या (औसत जो पुस्तकों में लिखी है)		७०१,५००	७०४,१००	६०७,१००	५७५,२००
मशीनी ढग से उत्पादन	प्रतिशत				
कटाई	,,	७४·९	८६·१	९१·६ (b)	,,
लदाई	,,	२·४	९·८	३८·२ (b)	४८·४
ढुलाई	,,	७५·३	९१·५	९५·८ (b)	,,
सफाई	,,	४८·२	५७·३	६२·१ (b)	६२·२

विगत कुछ वर्षों में कोयले का उपभोग इस प्रकार रहा है :—

आन्तरिक कोयला उपभोग; ब्रिटेन १९५७-६०[1]

(मिलियन टनों में)

कोयले का उपयोग	१९५७	१९५८	१९५९ (अनुमानित)	१९६०
गैस	२६·४	२४·८	२२·५	२२·३
बिजली	४६·५	४६·१	४६·०	५१·१
रेलें	११·४	११·३	१०·२	९·५
कोक भट्टियाँ	३०·७	२७·८	२५·७	२८·५
लौह-इस्पात	५·६	४·२	३·७	३·८
इन्जीनियरिंग तथा अन्य उद्योग	३१·९	२९·५	२७·१	२७·३
घरेलू तथा विविध कार्यों में	६०·७	५८·७	५३·५	५४·४
कुल योग	२१३·२	२०२·४	१८९·५	१९६·९

(a) Output per man shift for 1960 onwards for N. C. B. deep mines revenue working only. Previous years rates are for all deep mines.

(b) Figures for 1960. Onwards relate to N. C. B. Mines only; those for previous years included all deep mines.

—Source : *Britain 1963*, Page 278.

1 *Britain : An Offical Handbook 1962, Page 278.*

पिछले कुछ वर्षों में कोयले का निर्यात घटा है इसका कारण यह है कि देश में कोयले का आन्तरिक उपभोग बढ़ा है तथा विदेशी प्रतिस्पर्द्धा ने बाजार सीमित कर दिया है। सन् १९६० में कुल निर्यात ७० लाख टन था जिसका मूल्य ३० लाख पौण्ड था। निर्यात मुख्यतः डैनमार्क, आयरिश गणतन्त्र, फ्रांस, नार्वे आदि देशों को किया जाता है।

विकास और गवेषणा

सन् १९१३ के सर्वोच्च उत्पादन के पश्चात् सन् १९५० तक कोयला उत्पादन की कमी ने सरकार का ध्यान आकर्षित किया। कोयला प्रमण्डल ने १९५० में एक पन्द्रह वर्षीय योजना स्वीकार की जिसे सन् १९५६ में संशोधित किया गया तथा तीन वर्ष पश्चात् अक्टूबर सन् १९५९ में पुनः संशोधित किया गया। इस अन्तिम संशोधित योजना अनुमान में सन् १९६०-६५ के काल में ५११० लाख पौण्ड का विकास व्यय अनुमान किया गया है। जिसमें ८० प्रतिशत कोयला उत्पादन नवीन कोयला क्षेत्रों से उपलब्ध होगा। सन् १९४७ से १९५५ तक कोयला-उद्योग में ४६२० लाख पौंड पूँजीगत व्यय हुआ और सन् १९५६ से १९६० तक ५००० लाख पौंड पूँजीगत व्यय हुआ। सन् १९६० से व्यय सम्बन्धी योजना में आवश्यक परिवर्तन किया गया है। सन् १९६०-६१ में बजाय ९२०० लाख पौंड व्यय होने के केवल ९२० लाख पौंड ही व्यय हुआ और इसी प्रकार १९६१-६२ का अनुमानित व्यय ९९० लाख पौंड है। इस उद्योग में कुछ काम को छोड़कर सारा काम मशीनों से ही सम्पादित होता है।

सन् १९४८ में राष्ट्रीय कोयला बोर्ड द्वारा एक केन्द्रीय गवेषणा संस्था स्थापित की गई है जिसका मुख्य कार्यालय **स्टोक-ऑर-चार्ड** में है। इसके अलावा कई कोयला गवेषणा संस्थाओं को राष्ट्रीय कोयला बोर्ड द्वारा सहायता दी जाती है। सन् १९५९ में राष्ट्रीय कोयला बोर्ड की घोषणा के अनुसार एक नया विभाग स्थापित किया गया जिसका प्राथमिक उद्देश्य नवीन पद्धति से धुँआ रहित ब्रिकेटस (Briquettes) तैयार करना है। कोयले को गैस, रसायनों, तेल इत्यादि में परिवर्तित करने की दशा का भी अध्ययन किया जा रहा है।

कोयला प्रमण्डल कई अन्य स्वायत्त गवेषणा संस्थाओं की सहायता भी देता है। इसके अतिरिक्त कई समितियों के कार्य—खदान गवेषणा प्रतिष्ठान; शक्ति मंत्रालय—भी प्रमण्डल की समस्याओं के अन्तर्गत हैं। सन् १९४७ में प्रमण्डल ने कोयला उद्योग के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ कोयला सर्वेक्षण; कोयला सर्वेक्षण की राष्ट्रीय संस्था तथा ७० प्रयोगशालाएँ भी अधिकार में लीं जिनका अब तक पर्याप्त विस्तार और अभिनवीकरण किया जा चुका है।

उद्योग की समस्याएँ

कोयला उद्योग की दो प्रमुख समस्याएँ हैं—प्रथम उत्पादन की एवं द्वितीय श्रमिक-वर्ग की पूर्ति की। उत्पादन के क्षेत्र में कोयले के क्षेत्रों की गहराई को ध्यान में रखते हुए अधिक से अधिक वैज्ञानिक साधनों का सस्ते रूप में प्रयोग किया जा रहा है। उद्योग की दस-वर्षीय योजना इस बात की परिचायक है। श्रमिक-वर्ग की समस्या के बारे में यह कहा जा सकता है कि कारखाना-अधिनियमों का पालन इन विगत १०-१२ वर्षों में प्रभावशाली ढङ्ग से किया जा रहा है। इसके लिए काम के घण्टे, हवा, रोशनी और पानी का प्रबन्ध, चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ, सामाजिक

बीमा का प्रचलन, पेन्शन का चलन, मुआवजा-प्रणाली का चलन सक्रिय कदम उठाये गये हैं।

उपसंहार

कोयला उद्योग के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् कोयला उद्योग निरन्तर प्रगति कर रहा है। सन् १९४६ ई० के राष्ट्रीयकरण अधिनियम में परिस्थितियों के अनुसार १९४९ ई० में और भी संशोधन किये गये हैं। पहले ९ व्यक्ति पूर्ण-समय काम करने वाले सदस्य रूप में थे, अब संशोधित अधिनियम के अनुसार अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति अस्थायी रूप से की जा सकेगी। एक समिति कार्य को गति देने के लिये नियुक्त की गई जिसकी सिफारिशों के आधार पर बोर्ड या मण्डल के सदस्यों की संख्या १२ होनी चाहिए। सरकार ने १९५५ में समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और तदनुसार चेयरमैन, उपचेयरमैन, ६ सदस्य और ४ अस्थायी-सदस्य नियुक्त किये गये। ६ पूरे समय के सदस्य उत्पादन, निर्माण, विज्ञान, कर्मचारी-मंडल, औद्योगिक-सम्बन्ध और वित्त का नियन्त्रण और ध्यान रखेंगे। अतः जिस रूप में राष्ट्रीयकरण के पश्चात् उद्योग का पुनर्गठन हुआ, उससे यह आशा की जा सकती है कि कोयला उद्योग पुनः प्रगति करेगा और खोई हुई प्रतिष्ठा और निर्यात बाजार की प्राप्ति कर सकेगा। यह इंग्लैंड का प्रथम श्रेणी का उद्योग है।

लौह-इस्पात उद्योग

(Iron & Steel Industry)

अध्याय ११

ब्रिटेन कोयले से लोहा गलाने की क्रिया में अग्रणी रहा है तथा सत्रहवीं शताब्दी से ही वह निरन्तर इस बात का प्रयत्न करता रहा है कि इस्पात उत्पादन का विस्तार शीघ्रता से हो सके। आज लोहा-इस्पात उत्पादक देशों में इंग्लैंड का पंचम स्थान है और वह अपने विशिष्ट इस्पात के लिये विख्यात है। क्रूड स्टील का उत्पादन जो सन् १९४६ में केवल १२७ लाख टन था वह सन् १९५७ में २१७ लाख टन तथा १९५८ में १९३ लाख टन हो गया।

सन् १९५९ में उत्पादन और बढ़ा और वह २०२ लाख टन तक पहुँचा। सन् १९६० में २४३ लाख टन के रेकार्ड-स्तर तक उत्पादन पहुँच गया था। सन् १९६१ में उत्पादन २२१ लाख टन ही रहा। इसी प्रकार कच्चा लोहा (Pig Iron) सन् १९४६ में ७८ लाख टन उत्पादित होता था किन्तु १९६० में यह बढ़कर १५८ लाख टन हो गया। सन् १९६१ में कच्चे लोहे का उत्पादन १४७ लाख टन रहा लौह-इस्पात का निर्यात ४१ लाख टन था जिसका मूल्य २२२० लाख पौंड था। सन् १९६१ में तैयार इस्पात की मात्रा १६८ लाख टन थी। ३०.४० लाख टन लोहे और इस्पात की वस्तुओं का निर्यात भी किया गया जिसका मूल्य २,११७ लाख पौंड था। जिन देशों को लोहे और इस्पात की वस्तुओं का निर्यात किया गया उनमें भारत (१२५ लाख पौंड) न्यूजीलैंड (१२० लाख पौंड) स्वीडेन और संयुक्त राज्य अमेरिका प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष निर्यात ४३ लाख टन का था। मशीन उद्योग तथा जहाजरानी उद्योग द्वारा निर्यात की गई वस्तुओं का मूल्य १००० लाख पौंड (सन् १९५२) था।

दक्षिण-वेल्स उत्तरी-पूर्वी तट का भाग लौह-इस्पात का प्रसिद्ध क्षेत्र है। इन दोनों भागों द्वारा १.५ मिलियन टन क्रूड स्टील उत्पादित या निकाला जाता है जोकि कुल उत्पादन का ४० प्रतिशत है। इसके अलावा उत्तरी लिंकनशायर (Lincoln Shire) तथा लङ्काशायर भी प्रसिद्ध भाग हैं जहाँ लोहे का उत्पादन होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साऊथ-वेल्स, उत्तरी-पूर्वी तटवर्ती भाग, स्कॉटलेण्ड, शेफील्ड, लिन्कनशायर, लङ्काशायर इत्यादि प्रसिद्ध लौह-उत्पादक केन्द्र हैं।

कोयला उद्योग की तरह लौह एवं इस्पात उद्योग भी औद्योगिक-क्रांति का जनक रहा है। इस रूप में इस उद्योग की स्थिति इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था में हमेशा महत्वपूर्ण रही है। इंग्लैंड इस रूप में भाग्यशाली रहा कि उसके पास लौह और कोयले के अक्षय भण्डार थे। लौह-इस्पात उद्योग के विकसित होने से ही मशीनों का

उपयोग हो सका और यन्त्रों द्वारा चलाये जाने वाले बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हो सके। औद्योगिक क्रांति से पूर्व लोहे को लकड़ी के कोयले से गलाया जाता था। १७वीं शताब्दी के बाद से लोगों का ध्यान कोयले के उपयोग की ओर गया। सन् १७०५-१७०९ के समय में अब्राहम डर्बी तथा उसके पुत्र ने कोक की सहायता से लोहा गलाना आरम्भ कर दिया और इस तरह एक नये उद्योग का विकास हुआ। लौह-उद्योग पहले लकड़ी के जंगलों के पास स्थित था, परन्तु अब वह कोयला के स्थानों पर केन्द्रित होने लग गया।

एतिहासिक सिंहावलोकन

लौह-इस्पात उद्योग के विकास-क्रम को हम मोटे तौर से चार भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) **आविष्कारों और नवीन पद्धतियों का काल** (१८२५-१८७५)—लौह-इस्पात की प्रगति की कहानी इंग्लैंड के औद्योगिक निर्माण की कहानी है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में लकड़ी का अकाल सा था और लकड़ी का कोयला प्राप्त नहीं हो रहा था। अतः लौह-उत्पादन में कमी अनुभव की गई और इंग्लैंड को स्वीडेन, नार्वे, स्पेन और रूस से लोहा आयात करना पड़ा।

प्रारम्भिक आविष्कारक

डड डडले (Dud Dudley)—लोहे के उत्पादन और प्राप्ति की कठिनाइयों का हल करने की ओर आविष्कारकों का ध्यान गया। यह कहा जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में (सन् १६१६) **डड डडले** (Dud Dudley) नामक व्यक्ति ने लोहा गलाने के लिए कोयले का सबसे पहले प्रयोग किया लेकिन लकड़ी के कोयला जलाने वालों ने इसका विरोध किया था और उसके पास वित्तीय साधनों की कमी थी। फिर भी उसे इस कार्य में सफलता मिली।

बक तथा डेगने (Buck & Dagney)—डडले के प्रयोगों ने **बक और डगने** नामक व्यक्तियों का ध्यान भी आकर्षित किया तथा उन्होंने कोयले के प्रयोग से मिश्रित लोहे से लोहा निकालने का असफल प्रयोग किया।

डडले की मृत्यु के पश्चात् एक जर्मन **बॉरस्टेन** (Bauerstein) ने वेडनेसबरी में १६७७ में भट्टी स्थापित की लेकिन यह प्रयोग भी असफल सिद्ध हुआ।

कोलब्रुकडेल का अब्राहम डर्बी (The Darbys of Coalbrookdale)—अन्ततः उपर्युक्त समस्या का हल कोलब्रुकडेल के डर्बी परिवार को सौंपा गया जो कि लोहे का व्यवसाय करते थे। सन् १७०९ में अब्राहम डर्बी हालैंड से लोहे को ढालने की कला लाया। उसने कोयले की सहायता से लोहे को गलाने का कार्य सफलतापूर्वक किया। लेकिन वह अपेक्षित दृढ़ता या अभिधमन का लोहा प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि कोक से आवश्यक गर्मी नहीं प्राप्त हो सकती थी। सन् १७३० से १७४० के मध्य दूसरे डर्बी ने कोक की प्रणाली में सुधार, लोहे की मजबूती के लिए धमनियाँ और न्यूकोमन एन्जिन का उपयोग और लोहे की घिसावट और निकृष्टता को बचाने के लिए चूने का प्रयोग आदि कार्य सफलतापूर्वक किए। कूटने का यन्त्र जोन सीमेटन (John Smeaton of Carron) ने सन् १७६० में तैयार किया। डर्बी के आविष्कार से साँचे का लोहा प्रचुर मात्रा में उत्पन्न किया जाने लगा जिससे रसोई के बर्तन, स्टोव, बॉयलर इत्यादि बनाने में सहायता मिलने लगी। सन् १७७० तक

साँचे का लोहा नल, रेल्वे इत्यादि के निर्माण के लिए भी उपलब्ध होने लगा। अमरीकी-स्वातन्त्र्य युद्ध के समय साँचे के लोहे से तोपें बनाई गईं और सन् १७७९ में पहला साँचे के लोहे का पुल कोल-बुकडेल कं० द्वारा सेवर्न पर बनाया गया।

हेनरी कोर्ट (Henry Cort)—साँचे के लोहे से व्यंगाटित लोहा (Wrought iron) या कुटट्य लोहा (Malleable iron) तैयार करना लौह उद्योग का दूसरा सोपान था। इस कार्य को सफलतापूर्वक संचालित और सम्पादित करने का श्रेय हेनरी कोर्ट को है। हेनरी कोर्ट ने प्रधूनन (Puddling) तथा लोडन (Rolling) क्रियाओं का विकास सन् १७८४ में किया। कोर्ट प्रधूनन और बेलनो का काम में लाने वाला प्रथम व्यक्ति नहीं था। उससे पूर्व इन दोनों क्रियाओं के असफल प्रयोग रोबक (Roebuck) क्रेनजेज (Cranages); पीटर ओनियन्स (Peter Onions) ने भी किये थे। उसने इन प्रयोगकर्त्ताओं के विचारों में केवल सुधार भर किये।

हेनरी बेसेमर—सन् १८५५-५६ में हेनरी बेसेमर (Henry Bessemer) ने प्रधूनन क्रिया का प्रयोग किए बिना कुटट्य लोहा व इस्पात बनाने की क्रिया निकाली। इस प्रकार से तैयार किये इस्पात में कार्बन का अनुपात ज्ञात होता था और जिस उद्देश्य के लिये इस धातु की आवश्यकता होती थी उसी प्रकार इसमें परिवर्तन किया जा सकता था। बेसेमर का इस्पात कुटट्य लोहे से बहुत ही उत्तम था। कालान्तर में इसने रेलों की पटरियाँ, गडरें, चद्दरें और दूसरी वस्तुएं बनाने में कुटट्य लोहे का स्थान ले लिया। इस प्राविधिक विकास का महत्वपूर्ण परिणाम इंग्लैंड में यह हुआ कि लोहे के कारखानों को इस्पात के कारखानों में बदलने के लिये लाखों की पूंजी बरबाद करनी पड़ी।

गिलक्राइस्ट—इसके पश्चात् फास्फोरस-युक्त लोहा इस्पात बनाने के काम आ सके इसके प्रयत्न किये गये। **स्नेलस** (Snelus) ने मूल-भूत पदार्थों (Basic Materials) का पुट लगा हुआ 'कन्वर्टर' काम में लाने के प्रयत्न किए परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। **सिडनी गिल-क्राईस्ट थामस** (Sidney Gilchrist Thomas) ने अपने चचेरे भाई पर्सी गिलक्राईस्ट (Percy Gilchrist) के सहयोग से यह समस्या हल करदी। उन्होंने कन्वर्टर में एक अन्य मूलभूत पदार्थ, (डोलोमाइट और चिकनी मिट्टी) कापुट लगाया और १८७८ तक वे इस कार्य में सफल होगये।

सीमेन्स—इस्पात-उत्पादन की दूसरी विधि को **सर विलियम सीमेन्स** (Sir William Siemens) ने १८७६ में पूर्ण किया। **पीरे मारटिन** ने इस दिशा में फ्रांस में प्रयोग किये। गिल-क्राईस्ट और थामस के आविष्कारों को सीमेन्स-मारटिन विधि और बेसेमर विधि में लगाया गया। खुली भट्टी (Open Hearth) में मूलभूत पदार्थों का पुट दिया गया और इस्पात बनाया गया। खुली-भट्टी पद्धति बेसेमर विधि का स्थान लेती जारही है।

सर विलियम सीमेन्स ने १८७८ में लोहा गलाने के लिए बिजली की भट्टी निकाली थी तब से इस्पात के उत्पादन में इसका उपयोग किया जा रहा है।

उद्योग ने उन्नीसवीं शताब्दी में आशातीत प्रगति की। सन् १८२१ में रेलवे और सन् १८५० के पश्चात् लौह-जहाजों के निर्माण से लोहे की माँग बढ़ गई। इसका प्रभाव यह हुआ कि उद्योग तीव्र गति से विकास कर सका। सन् १८७० तक इंग्लैंड विश्व का प्रथम लौह-उत्पादक बन गया जबकि जर्मनी, फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका का उत्पादन बहुत ही कम था। नीचे की तालिका इस तथ्य को स्पष्ट करती है।

वर्ष	पिग-आयरन (ढले लोहे का उत्पादन) टनों में
१७२०	१७,०००
१७८८	६८,०००
१८३६	१३,४७,०००
१८५६	३८,००,०००
१८७१	६५,००,०००

(२) **द्वितीय विकास-काल (१८७६-१९१३ ई० तक)**—१९ वीं शताब्दी में लौह-उद्योग में इंगलैण्ड विश्व का शिरोमणि राष्ट्र था। इंगलैंड से लोहा और इस्पात, फ्रांस, अमेरिका और जर्मनी को निर्यात किया जाता था। सन् १९०० के पश्चात् यूरोप के अन्य देशों में भी इस उद्योग का विकास हुआ और फ्रांस ने उत्पादन में प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया। ढले लोहे के उत्पादन मे संयुक्त-राज्य अमेरिका ने जर्मनी के बाद इंगलैण्ड का स्थान प्राप्त कर लिया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही उद्योग की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् लौह-इस्पात उद्योग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इन कठिनाइयों के कारण निम्नलिखित थे :—

(१) इंगलैण्ड के इस्पात उद्योग के निकट वे सभी सुविधायें प्राप्त नहीं थीं जिनका होना उद्योग विकास के लिए आवश्यक होता है।

(२) कोयले का मूल्य अधिक होने से इंगलैंड का इस्पात भी अमेरिका और जर्मनी की तुलना में मँहगा पड़ता था।

(३) इंगलैण्ड को अमेरिका और जर्मनी की अपेक्षा प्राकृतिक सुविधाएँ भी कम प्राप्त थीं।

(४) इस्पात बनाने के लिए जो आधुनिक यन्त्र चाहिए उनसे इंगलैण्ड का यह उद्योग भली-भाँति सज्जित नहीं था।

(५) इंगलैण्ड में लोहा अधिकांश फासफोरस वाला होता था। अतः उससे आसानी से इस्पात नहीं बनाया जा सकता था। उसके विपरीत जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका में बिना फासफोरस वाला लोहा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था।

(६) कारखाने अधिनियम के अन्तर्गत काम करने के घंटे कम कर दिये गये थे परन्तु मजदूरी में कटौती नहीं हुई थी। इंगलैण्ड के श्रमिकों की मजदूरी अन्य देशों की तुलना में अधिक थी अतः उत्पादन-व्यय भी बढ़ा हुआ था।

(७) इंगलैण्ड के कारखानों में इतने बड़े पैमाने पर उत्पादन-कार्य नहीं होता था जितना कि अमेरिका और जर्मनी में। इस कारण बड़े पैमाने के लाभों से इंगलैण्ड वंचित रहा।

(८) इंगलैंड ने प्रारम्भ में तो वैज्ञानिक आविष्कारों के क्षेत्र में पहल की परन्तु बाद में विकास की गति मन्द पड़ गई और जर्मनी तथा अमेरिका ने उससे भी उत्तम यन्त्रों का आविष्कार किया।

(९) उद्योगपति और सरकार उद्योग के विकास की ओर उदासीन से थे वहाँ दूसरे देशों में राज्य की ओर से सहायता प्राप्त हो रही थी।

(३) **तृतीय-विकास-काल (१९१४ से १९४५ तक)**—प्रथम विश्व-युद्ध के समय यह उद्योग अपनी स्थिति आंशिक रूप से सम्हाल सका क्योंकि युद्ध के फलस्वरूप लोहे की माँग में वृद्धि हुई। परन्तु यह अस्थायी वृद्धि का काल था। युद्धोपरांत इंगलैंड को पुनः बाजार के संकट का अनुभव हुआ। अन्य देशों में भी यह उद्योग विकसित होता जा रहा था। सन् १९२७ में फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम और लुक्सेमवर्ग ने मिलकर एक **अन्तर्राष्ट्रीय-स्टील-कार्टेल (International Steel Cartel)** का निर्माण किया। इस कार्टेल का मुख्य उद्देश्य उत्पादकों की प्रतियोगिता से रक्षा करना था, इंगलैंड को कार्टेल से भारी क्षति उठानी पड़ी और विवश होकर उसे मुक्त-व्यापार नीति को त्यागना पड़ा और सन १९३२ ई० में लोहे पर आयात सरक्षण-कर (Protective-duty) लगाना पड़ा।

इस समय इस उद्योग में कोयला उद्योग की तरह एकीकरण और संयुक्तीकरण की योजनाएँ प्रभावशाली ढंग से अपनाई जाने लगीं। एकीकरण-प्रणाली के अन्तर्गत छोटी-छोटी कम्पनियों को मिलाकर लगभग १२ बड़े निगम स्थापित किये गये। इन निगमों की स्थापना के साथ उद्योग के आधुनिकीकरण और विवेकीकरण की ओर भी ध्यान दिया गया। सन् १९३४ ई० में **ब्रिटिश-आयरन तथा स्टील फेडरेशन (The British Iron & Steel Federation)** नामक एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना की गई जिसका मुख्य उद्देश्य लौह-उद्योग की रक्षा, उसका पुनर्गठन तथा लोहे के मूल्य को निश्चित करना था। इतना सब कुछ होने पर भी लौह-उद्योग प्रगति नहीं कर सका और सन् १९३५ ई० में इंगलैण्ड को यूरोपीयन स्टील कार्टेल से समझौता करना पड़ा जिससे आपसी प्रतिस्पर्द्धा को आंशिक रूप से सुनियोजित और नियन्त्रित किया जा सके। इस प्रकार द्वितीय-महायुद्ध से पहले उद्योग ने स्थायित्व प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने से लौह-उद्योग की स्थिति में सुधार हुआ, किन्तु माँग में वृद्धि अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों की अपेक्षा स्थानीय अधिक थी। अतः इसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटता गया। १९४५ में लोहे का उत्पादन ११८ लाख टन था।

(४) **चतुर्थ विकास-काल (१९४५ से १९६२ तक)**—युद्धोपरांत काल में उद्योग को पुनः संकट का सामना करना पड़ा। अतः ब्रिटिश आयरन एण्ड स्टील फेडरेशन ने उद्योग की उन्नति और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए एक पंचवर्षीय योजना बनाई। योजना के अन्तर्गत सन् १९५० ई० तक ३०० लाख पौंड की पूँजी इस उद्योग को उन्नत करने और नये कारखाने स्थापित करने में लगायी गई। योजना का लक्ष्य १६० लाख टन लौह-उत्पादन का था, सन् १९५२-५३ ई० में लोहे का उत्पादन लक्ष्य से भी अधिक १६४ लाख टन हो गया। सन् १९५२-५३ में द्वितीय पंचवर्षीय योजना बनाई गई जिसमें उत्पादन लक्ष्य २० लाख टन रखा गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद उद्योग की स्थिति को ध्यान में रखते हुए सन् १९४६ से १९४९ तक इसका कार्य संचालन **आयरन एण्ड स्टील-मन्डल (Iron & Steel-Board)** की देख-रेख में चलता रहा। सन् १९४९ में आयरन एण्ड स्टील अधिनियम के अन्तर्गत उद्योग के अधिकांश भाग का सन् १९५१ से राष्ट्रीयकरण कर लिया गया जिसमें अधिकाधिक छोटे उद्योगों को सार्वजनिक स्वामित्व के अन्तर्गत लाया गया। सन् १९५२ में स्वायत-शासन-निगम की स्थापना की गई और इस प्रकार

व्यक्तिगत अंशधारियों से उद्योग छीन लिया गया। इस प्रकार बड़े उद्योगों की संख्या ८० और छोटे सहायक उद्योगों की संख्या १६२ रही, यद्यपि इसमें कम्पनियों और उद्योगों के अस्तित्व और व्यवस्था को अलग ही रखा गया।

सन् १९५३ में अनुदार दलीय (Conservative Party) सरकार ने पदारूढ़ होने के साथ ही लौह-इस्पात उद्योग के अराष्ट्रीयकरण (Denationalisation) के प्रयत्न प्रारम्भ हुए क्योंकि उनका विश्वास व्यक्तिगत स्वामित्व में अधिक था। एतदर्थ उन्होंने उद्योग का नया बोर्ड स्थापित किया। इस बोर्ड द्वारा अधिकतम मूल्य निर्धारण, पूँजी-नियोजन की स्वीकृति या अस्वीकृति, कच्चे माल की उपलब्धि इत्यादि कार्य हाथ में लिए गये किन्तु ऐसे समय में ही श्रमिक दल ने यह घोषणा की कि ज्यों ही वह सत्तारूढ़ होगा उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर लिया जायेगा।

लोहे और इस्पात के उत्पादन सम्बन्धी आँकड़े इस प्रकार हैं :—

क्रूड-स्टील का उत्पादन (मिलियन टन)

वर्ष	उत्पादन	वर्ष	उत्पादन
१९३५	९·९	१९५२	१६·१
१९४०	१३·०	१९५७	२१·७
१९४६	१२·९	१९५८	१९·३
१९४९	१५·५	१९५९	२०·२
१९५०	१६·३	१९६०	२४·३
१९५१	१५·६	१९६१	२२·१

निर्यात इस्पात (मिलियन टन)

वर्ष	निर्यात	वर्ष	निर्यात
१९३९	१·४४	१९५१	२·६७
१९४९	२·४१	१९५२	२·६१
१९५०	३·२५	१९५९	३·७
		१९६१	३·४

दिसम्बर १९६१ में नियोजित श्रमिकों की संख्या ४,४५,००० थी।

सन् १९५३ में राष्ट्रीयकरण की नीति के विरुद्ध जो अधिनियम पारित हुआ उसके अन्तर्गत **आयरन एण्ड स्टील होल्डिंग एण्ड रियलाइजेशन एजेन्सी** स्थापित की गई जिसे यह कार्य सौंपा गया कि इस उद्योग को पुनः व्यक्तिगत व्यवसायियों को सौंपा जाय। सन् १९६० तक इस एजेन्सी के अन्तर्गत केवल ८ कम्पनियाँ रहीं, बाकी को पुनः व्यक्तिगत स्वामियों को सौंप दिया गया। सन् १९५३ के अधिनियम के अन्तर्गत एक लौह-इस्पात-मण्डल (Iron & Steel Board) भी स्थापित किया गया जो कि इस उद्योग का साधारण देख-भाल करता है। व्यापारिक कार्य की संचालिका प्रतिनिधि संस्था ब्रिटिश आयरन एण्ड स्टील फेडरेशन है।

सन् १९४५ से उद्योग के आधुनिकीकरण और विकास के प्रयत्न चालू हैं। सन् १९५३-६० के काल में ९८०० लाख पौंड विकास और आधुनिकीकरण की योजना

पर व्यय किये गये। अभी हाल में ही जो कार्यक्रम घोषित किया गया है उसके अन्तर्गत सन् १९६१-६५ के काल में ६००० लाख पौंड व्यय किये जायेंगे और इस्पात की उत्पादन-क्षमता सन् १९६५ में ३४० लाख टन हो जायगी।

उद्योग की प्रमुख समस्याएँ

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि उद्योग निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है, इस उद्योग की प्रमुख समस्याएँ इस प्रकार हैं:—

(१) **कच्चे माल की कमी**—इंग्लैंड में जितने कच्चे लोहे का उत्पादन होता है वह उसकी उत्पादन-क्षमता और आवश्यकताओं के अनुसार कम है।

(२) **श्रमिकों की कमी**—ज्यों-ज्यों तकनीकी शिक्षा का प्रसार होता रहा है तथा जो व्यक्ति कुशल श्रमिक बन गये हैं वे ऐसा कार्य जिसमें कुशलता की आवश्यकता करना पसन्द नहीं करते। अतः साधारण अकुशल मजदूरों की कमी है।

वर्तमान स्थिति यह है कि इंग्लैंड का विश्व के लौह-इस्पात उत्पादक देशों में पाँचवाँ स्थान है। उसका यह व्यवसाय पर्याप्त रूप में संगठित और सुव्यवस्थित है फिर भी निकट भविष्य में लौह-इस्पात उद्योग का भविष्य अधिक उज्ज्वल प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जब तक उपर्युक्त समस्याएँ हल नहीं करली जातीं तब तक उद्योग को कुछ कठिनाइयाँ रहेंगी। दूसरे पूर्वीय देश में निम्न मजदूरी और अधिक निश्चित लौह-भन्डारों की उपलब्धि तथा राष्ट्र मंडलीय देशों में इस उद्योग के विकसित होने से इंग्लैंड के उद्योग को कड़ी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ेगा। अतः उच्चतम निपुणता और पर्याप्त क्षमता ब्रिटिश लौह-इस्पात उद्योग के अस्तित्व के लिये अनिवार्य शर्तें हैं।

अध्याय १२

व्यापारिक क्रान्ति
(Commercial Revolution)

मध्य-कालीन युग में पश्चिमी यूरोप में वाणिज्य या व्यापार का आर्थिक संस्था के रूप में आज के समान महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय उत्पादन द्वारा पूरी कर ली जाती थी। इसके अतिरिक्त व्यापारिक सम्बन्ध प्राच्य देशों से ही थे और उस समय भूमध्य सागर और उसके पास स्थानीय मार्ग यूरोपीय व्यापार के केन्द्र थे। एशियाई देशों और विशेषतौर से भारत से व्यापार स्थलीय मार्ग से होता था जिसका केन्द्रीय स्थल कुस्तुन्तुनिया था। किन्तु सन् १४५३ में तुर्क लोगों ने कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया उसके फलस्वरूप पूर्वीय देशों के साथ व्यापार में एक अवरोध उपस्थित हो गया। परिणामस्वरूप यूरोप के राष्ट्रों ने पूर्वीय देशों से व्यापार करने के लिये सामुद्रिक मार्ग खोजने का प्रयत्न किया। स्पेन और पुर्तगाल ने इन मार्गों की खोज में अगवानी की। सन् १४९२ में **क्रिस्टोफर कोलम्बस** ने भारत की खोज करने की अपेक्षा नई-दुनिया की खोज की। सन् १४९७ में **केबटस (Cabots)** उत्तरी-अमरीका की मुख्य भूमि पर उतरा और सन् १४९८ में **वास्को-डी-गामा** उत्तम आशा अन्तरीप का चक्कर लगाता हुआ भारतवर्ष पहुँचा। इन सामुद्रिक मार्गों की खोजों ने यूरोप के आर्थिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही व्यापार में निम्नलिखित महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए :—

(१) नई विशाल व्यापारिक कम्पनियों का अभ्युदय जो कि इन देशों से बड़े पैमाने पर व्यापार चला सके।

(२) नवीन-व्यापारिक-क्षेत्रों का आविर्भाव जो कि सामुद्रिक मार्गों की खोज का सम्भावित परिणाम था।

(३) स्थानीय व्यापारिक नीति के स्थान पर राष्ट्रीय व्यापार नीति का विकास।

(४) करेन्सी, बैंकिंग और साख का विकास।

(१) इन व्यापारिक परिवर्तनों में इंग्लैंड का स्थान सर्वोपरि था। इङ्गलैंड ने नवीन सामुद्रिक मार्गों की खोज नहीं की किन्तु स्पेन और पुर्तगाल के इन साहसिक कार्यों को देखकर इङ्गलैंड के निवासियों को भी प्रेरणा मिली और सन् १५३० के आस-पास इङ्गलैंड के नाविक मत्स्य-केन्द्र खोजने गये तो **विलिनम हॉकिन्स** ब्राजील पहुँचा। रानी एलिजाबेथ के शासन-काल में—जिसे इङ्गलैंड के

इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है सर ह्यू ज विलगबॉथ और रिचर्ड चान्सलर उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र से भारत का मार्ग खोजने निकले। भारत का मार्ग खोजने के बजाय चान्सलर आर्केन्जिल (रूस) पहुँचा और उसने मास्को के साथ व्यापारिक सन्धि की। इसके पश्चात् फ्रोबिसर तथा डेबिस नवीन मार्ग खोजने में सफल हुए। किन्तु इन नवीन सामुद्रिक खोजों में इङ्गलैंड को स्पेन और पुर्तगाल से संघर्ष लेना पड़ा और इस रूप में सामुद्रिक जहाजों की लूट का काम आरम्भ हुआ। स्पेनिश और पुर्तगाली अँग्रेजों की इन हरकतों से चिढ़कर उन्हें समुद्री कुत्ते के नाम से पुकारने लगे। इस प्रकार के संघर्ष में धार्मिक भावनाओं का अन्तर भी क्रियाशील था। स्पेन और पुर्तगाल जहाँ रोमन-कैथौलिक मतानुयायी थे वहाँ इङ्गलैंड प्रोटेस्टेन्ट मतानुयायी था। सन् १५८८ में स्पेन के अजय-आर्मेडा की पराजय के बाद इङ्गलैंड का प्रभाव अधिकाधिक बढ़ने लगा। अतः इंगलैंड अन्य देशों के साथ व्यापार करने में स्वतन्त्र हो गया।

कुतुबनुमा इत्यादि सामुद्रिक यात्रा-यन्त्रों का आविष्कार होने से सामुद्रिक यात्राएँ पहले से अधिक सुरक्षित होने लगीं। १५ वीं और बाद की शताब्दियों में जल-यातायात की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करली गई। पूर्वीय देशों से होने वाले व्यापार में मसाले, रेशम, बहुमूल्य हीरे, पन्ने और सुगन्धित पदार्थ सम्मिलित होते थे किन्तु इस नवीन व्यापारिक क्षेत्रों की खोज ने, चाय-कहवा, नारियल, नीबू, नारंगी, नाशपाति, रंग, दरियाँ, लकड़ी के सामान को जन-साधारण के लिए उपलब्ध कर दिया जिससे उनके आर्थिक जीवन-स्तर और आदतों में परिवर्तन हो गया।

(२) इन नवीन व्यापारिक-क्षेत्रों को हथिया लेने के लिए बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ स्थापित करने का प्रयत्न किया गया क्योंकि उनकी स्थापना में निम्नलिखित लाभ थे :—

(१) इतनी दूर की सामुद्रिक यात्रा में हानि और अरक्षा की सहन-शक्ति व्यक्ति से अधिक कम्पनी में थी।

(२) व्यक्ति की अपेक्षा कम्पनी विभिन्न देशों के शासकों से व्यापार के लिये सुविधाएँ और संरक्षण प्राप्त कर सकती थी।

(३) व्यक्ति लालच के कारण बेईमान हो सकता है किन्तु कम्पनी में इस प्रकार की प्रवृत्ति अपनाने में समय लगता है।

(४) सरकार ने कम्पनियों के निर्माण को प्रोत्साहन दिया क्योंकि व्यक्ति की अपेक्षा कम्पनी से कर-वसूल करना आसान था।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अस्तित्व में आईं। इस समय दो प्रकार की कम्पनियाँ बनाई गईं—प्रथम नियन्त्रित कम्पनियाँ—ये वे कम्पनियाँ थीं जो कि संसद के चार्टर (घोषणा-पत्र) द्वारा बनाई जाती थीं जिसमें अलग-अलग व्यापारी अलग से व्यापार करते और अपने लाभों का उपयोग करते। द्वितीय—ये वे कम्पनियाँ थीं जो संयुक्त या मिश्रित पूँजी से निर्माण की जाती थीं, इनमें व्यक्तिगत रूप से व्यापारी पूँजी लगाकर कम्पनी का निर्माण करते थे, व्यापार कम्पनी के नाम से किया जाता था लाभ-हानि पूँजी के अनुदान के अनुपात में वितरित किया जाता था। नियन्त्रित और संयुक्त पूँजी-कम्पनियों ने धीरे-धीरे कुल क्षेत्रों में एकाधिकार प्राप्त कर लिया। नियंत्रित कम्पनियों में नवीन व्यक्तियों के

निषेध ने उसे आलोचना का पात्र बनाया। अतः धीरे-धीरे इन कम्पनियों के अधिकारों पर नियन्त्रण होता गया और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ये समाप्त भी कर दी गईं।

नियन्त्रित कम्पनियों के अन्तर्गत 'मर्चेन्ट एडवेन्चरर' का नाम बहुत प्रसिद्ध रहा है। पर्याप्त समय के अस्तित्व के पश्चात् सन् १५६४ में शाही फरमान द्वारा इसकी स्थापना को मान्यता दी गई। यह राइन और एल्ब क्षेत्रों में व्यापार करती थीं। इसने गृह-युद्ध के समय भी बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया जिसमें कि चार्ल्स प्रथम की पराजय हुई। इसी प्रकार **मसकोवे कम्पनी** (Muscovy Co.) की स्थापना सन् १५५५ में हुई। इसका व्यापार रूस, फारस, आर्मिनिया और केस्पियन सागर से होता था। सत्तरहवीं शताब्दी में डच प्रतिस्पर्द्धा और जार की नाराजगी से व्यापार को आघात पहुँचा। भूमध्य सागर के पास मुस्लिम देशों से व्यापार **बारबरे और लेवान कम्पनियाँ** करती थी। इस समय की सबसे प्रसिद्ध कम्पनी **ईस्ट-इण्डिया कम्पनी** थी जिसकी स्थापना १६०० ई० में शाही-फरमान द्वारा हुई थी। पहले यह नियन्त्रित कम्पनी के रूप में स्थापित हुई परन्तु बाद में संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के रूप में इसका विकास किया गया। इसका कम्पनी एशिया, अफ्रीका और अमरीकी बन्दरगाहों के व्यापार पर एकाधिकार था। इस प्रकार प्रशान्त महासागर से हिन्द महासागर तक का सारा व्यापार इसके नियन्त्रण में ही था। यह कपड़े, लोहे के सामान और काँच में व्यापार करती थी। भारत में व्यापारिक उद्देश्य को तिलांजलि दे इसने साम्राज्य स्थापना के स्वप्न देखने आरम्भ किए और यह साम्राज्य स्थापना में सफल भी हुई। बाद में इसकी राजनीतिक गतिविधियों को सरकार ने संसद द्वारा सन् १७७३ और १७७४ में नियन्त्रित किया। सन् १८५८ में कम्पनी समाप्त कर दी गई जबकि सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से भारत पर अधिकार कर लिया। अतः यह कहा जा सकता है विभिन्न व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना ने विश्व के बाजारों से इङ्गलैंड का सम्बन्ध स्थापित कर दिया था।

(३) **व्यापारिक क्रांति का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय-व्यापार नीति का सृजन था।** इससे पूर्व स्थानीय व्यापार की दशा में स्थानीय हितों का महत्वपूर्ण स्थान था, परन्तु जब व्यापारिक-क्षेत्र का विस्तार हुआ तो यह मानना पड़ा कि राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से व्यापार नीति का निर्धारण किया जाना चाहिए। इस प्रकार के राष्ट्रीय-व्यापारवादी नीति के दृष्टिकोण को **व्यापारवाद (Mercantilism)** की संज्ञा दी गई।

(४) **व्यापारिक-क्रांति का चतुर्थ महत्वपूर्ण भाग मुद्रा बैंकिंग और साख की वृद्धि था।** जब तक व्यापार क्षेत्र और स्वभावानुसार सीमित था, तब इस प्रकार का अनुभव नहीं हो पाता था किन्तु जब तक १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में व्यापार के क्षेत्र और स्वभाव में वृद्धि हुई और वह राष्ट्रीय सीमा लाँघकर दूर देशों से होने लगा, यह आवश्यक था कि व्यापारियों की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकता भी बढ़ती। इस समय तक यूरोपीय देशों में स्वर्ण और रजत सिक्के ही प्रचलन में थे। अतः सिक्कों की संख्या में वृद्धि तभी सम्भव थी जबकि उस धातु विशेष के उत्पादन में वृद्धि हो। यह ठीक था कि धातु के उत्पादन के वृद्धि के प्रयत्न किये गये किन्तु अमरीका की खोज और उन धातुओं की खदानों की खोज के बाद ही इस आवश्यकता की पूर्ति हो सकी। निम्न तालिका इस बात को स्पष्ट करती है :—

सोने और चाँदी का विश्व उत्पादन[1] (१० लाख डालरों में)

सन्	सोना	चाँदी
१४९३–१५२०	१०८	५५०
१५२१–१५६०	२०५	२९७
१५६१–१६००	१८९	५९७
१६०१–१६४०	२२४	६७९
१६४१–१६८०	२४०	५८५
१६८१–१७२०	३१३	५८०
१७२१–१७६०	५८१	८०२
कुल योग	१,८६०	३,५९५

स्वर्ण और रजत का निरन्तर प्रवाह तथा अन्य कारणों ने यूरोपीय देशों की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित किया और। पूँजी का संचय और विनियोजन से मुद्रा की चलन मात्रा में अभिवृद्धि हुई। बैंकिंग का विकास इङ्गलैंड में यूरोप के अन्य देशों से बाद में हुआ। अतः इंग्लैंड को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अन्य देशों से करनी पड़ती थी।

जब सन् १६८८ की गौरवमय-क्रांति (Glorious Revolution) के पश्चात् विलियम तृतीय इंगलैंड का सम्राट बना और उसे धन की आवश्यकता हुई तो सन् १६९४ में **बैंक आफ इंग्लैंड** की प्रथम बार स्थापना हुई और इस प्रकार आधुनिक ढंग की बैंकिंग-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। इन दो शताब्दियों में इंग्लैंड ने बैंकिंग का इस सीमा तक विकास किया है कि अब वह व्यवस्था सर्वोच्च स्थिति पर पहुँच गई है।

इसी प्रकार संयुक्त-पूँजी कम्पनियों का आविर्भाव भी अन्य महत्वपूर्ण चरण है। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इंग्लैंड और स्काटलैंड में कुल मिलाकर १४० संयुक्त-पूँजी-कम्पनियाँ थीं जिनकी कुल पूँजी ४२,५०,००० पौंड थी। इन कम्पनियों के शेयरों की कीमतों में उतार-चढ़ाव और सट्टे की प्रवृत्ति बहुत तीव्र थी। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के शेयरों की कीमतों में १६९२ से १६९७ तक २०० पौंड से ३७ पौंड का उतार रहा। सट्टे की यह प्रवृत्ति कितनी बढ़ी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण **साउथ सी बबल कम्पनी** का समाप्त होना है।

उपर्युक्त परिवर्तनों का प्रभाव विदेशी व्यापार की वृद्धि पर पड़ा। सन् १७०० में कुल निर्यात-विदेशी-व्यापार ३,१७,००० टन था जो १७५० में ६,६१,००० टन और १८०१ में १९,५८,००० टन तक पहुँच गया। इसी प्रकार आयात और निर्यात का औसत मूल्य १६९८ में ५५,००,००० और १७०१ में ६४,००,००० पौंड था।

[1] Knight, Barnes & Flugel; "*Economic History of Europe*" p. 310.

औद्योगिक क्रांति के पश्चात् बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए जहाँ एक ओर यातायात के साधनों पर निर्भर रहना आवश्यक था वहाँ दूसरी ओर व्यापार की प्रवृत्तियों और साधनों में परिवर्तन पर भी निर्भर रहना पड़ा। सड़कों और कृत्रिम जल-मार्गों का निर्माण और रेलवे और वाष्प चालित जहाजों का प्रादुर्भाव व्यापारिक क्षेत्र में सुधार की आवश्यकता का एक निमन्त्रण था। इस परिवर्तन के तीन मुख्य तत्व थे—विस्तार, विशिष्टीकरण और एकीकरण।

प्रथम रेलवे, वाष्प-जहाजों, टेलीफोन, तार और बेतार के तार के साधनों ने यातायात और परिवहन की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन कर दिया था। व्यापारी विश्व के विभिन्न भागों से सम्पर्क में आये और इसी समय वस्तुओं में प्रमाणीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिससे वस्तु का विक्रय वर्णन से ही सम्भव हो सका। कुछ व्यापारिक नियमों और आचार संहिताओं का निर्माण भी किया गया जिसे व्यापारी स्वेच्छा से पालन कर सकें। इन कार्यों ने विक्रय की व्यवस्था में भी परिवर्तन कर दिये। नमूने दिखावे के आधार पर वर्तमान और भविष्य के सौदे होने लगे और **उपज-विनिमय संस्थानों (Produce Exchanges)** का विकास हुआ। इन उपज विनिमय संस्थानों के सम्पर्क से वस्तुओं का मूल्य वास्तविकता और समानता की ओर उन्मुख रहता है। कुछ वस्तुओं के स्थानीय बाजार अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में परिणित हो गये।

द्वितीय महत्वपूर्ण तत्व विशिष्टीकरण का था। प्रथम परिवर्तन जो विशिष्टीकरण के रूप में दृष्टिगोचर हुआ वह था व्यापार और उद्योग का अलग-अलग होना। व्यापारिक संस्थान भी कई भागों, उपभागों में विभाजित हुआ—थोक, खुदरा इत्यादि। इस प्रकार विनिमय-संस्थानों में भी विशिष्टीकरण की प्रक्रिया अधिकाधिक प्रबल होती गई। गेहूँ, कपास, रबड़ इत्यादि में अलग-अलग उपज विनिमय संस्थान स्थापित होते गये। व्यापार के इस विशिष्टीकरण के ढंग से मध्यम-वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ और इसे व्यापारिक-एजेण्ट की संज्ञा दी गई।

अन्तिम महत्वपूर्ण तत्व जो परिवर्तन का द्योतक रहा है वह है एकीकरण की आधुनिक प्रवृत्ति। औद्योगीकरण के विकास और प्रसारण, यातायात के साधनों की उन्नति और उत्पादकों में प्रतिस्पर्द्धा की उपस्थिति ने एक ही प्रकार के कार्यों वाले व्यवसायों को एकीकरण की ओर प्रवृत किया। विभागीय स्टोर, चेन स्टोर इस बात के उदाहरण हैं जो अमेरिका और यूरोप महाद्वीप में फैले हैं। इनके विकास से थोक और खुदरा व्यापारियों का अस्तित्व समाप्त सा हो गया और उपभोक्ताओं से ये प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने लगे।

इंग्लैंड का विदेशी व्यापार जो सत्रहवीं और अठाहरवीं शताब्दी में वृद्धि पर था वह उन्नीसवीं शताब्दी में आते-आते औद्योगिक क्रान्ति और यातायात के साधनों की उन्नति से और भी अधिक बढ़ गया। व्यापारिक-नीति में परिवर्तनों से जिन साम्राज्यों का निर्माण इंग्लैंड ने किया वे भी इसमें सहायक सिद्ध हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विदेशी व्यापार की जो वृद्धि हुई वह इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है :—

वर्ष	औसत आयात दस लाख पौंड	औसत निर्यात दस लाख पौण्ड	औसत पुनः निर्यात (दस लाख पौंड में)
१८५५–५९	१४६	११६	२३
१८६०–६४	१९३	१३८	४२
१८६५–६९	२३७	१८१	४९
१८७०–७४	२९१	२३५	५५
१८७५–७९	३२०	२०२	५५
१८८०–८४	३४४	२३४	६४
१८८५–८९	३१८	२६६	६१
१८९०–९४	३५७	२३४	६२
१८९५–९९	३९३	२३८	६०
१९००–००	४६०	२८३	६३

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड के विदेशी व्यापार में जो परिवर्तन हुए वे इस प्रकार हैं :—

(१) **विदेशी व्यापार के स्वभाव में परिवर्तन**—कल-कारखानों के स्थापित होने से उत्पादित और पक्के माल का निर्यात ही अधिकाधिक होने लगा। निर्यात की मुख्य वस्तुएँ-टेक्सटाइल मशीनरी, कोयला, रसायन और मिट्टी के बर्तन इत्यादि थीं। इसी प्रकार आयात में प्राच्य देशों की विलासितापूर्ण वस्तुओं की अपेक्षा कच्चा माल और खाद्यान्न मुख्य था। इस प्रकार का व्यापारिक परिवर्तन औद्योगिक क्रान्ति की देन थी।

(२) **विदेशी-व्यापार के मूल्य और परिमाण में वृद्धि**—सन् १८०१ में निर्यात और आयात क्रमशः ४१० लाख पौंड और ३१० लाख पौंड के थे वे सन् १९०० में २८३० और ४६०० लाख पौंड के हो गये। इस वृद्धि का श्रेय भी औद्योगिक-क्रांति को ही दिया जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार की प्रवृत्ति सामान्य नहीं रही किन्तु उसमें उतार-चढ़ाव होते रहे क्योंकि आर्थिक मन्दी ने इनको प्रभावित किया था। सन् १८७५, ७९, ८५ और ८९ के वर्ष इस प्रकार के वर्ष थे जिनमें आयात-निर्यात अत्यधिक प्रभावित हुए।

(३) **आयातों में निर्यातों की अपेक्षा तीव्र वृद्धि**—आयातों में आशातीत वृद्धि होने का कारण घरेलू बाजार की आवश्यकता पूर्ति करना था क्योंकि कच्चा माल देश की आवश्यकता पूर्ति के लिये अनिवार्य था।

बीसवीं शताब्दी से प्रथम महायुद्ध के काल तक व्यापार में आशातीत वृद्धि हुई, यद्यपि इस समय अन्य औद्योगिक देश भी प्रतिद्वन्द्वी थे। इंग्लैंड के विदेशी व्यापार का शीर्ष बिन्दु १९१३ का वर्ष कहा जा सकता है जबकि आयात और निर्यात क्रमशः ७८९० और ५२५० लाख पौंड का था। बाद के वर्षों में यह गिरते गये। इस प्रकार की वृद्धि का श्रेय बीमा, बैंकिंग और जहाजरानी के विकास को दिया जा सकता है। इंग्लैंड की बैंकिंग-व्यवस्था बैंक ऑफ इंग्लैंड की स्थापना के बाद ही पनपी क्योंकि सन् १८२५ ई० से पूर्व का बैंकिंग विकास अस्त-व्यस्त सा था। १८२६ और १८३३ के अधिनियमों के अन्तर्गत संयुक्त-पूँजी-बैंकों की स्थापना हुई

और इस प्रकार बैंकिंग व्यवस्था में सुधार हुआ। सीमित उत्तरदायित्व और संरक्षित दायित्व के सिद्धान्तों के प्रचलन ने विकास की गति और भी तीव्र करदी। इस प्रकार के अधिनियम सन् १८५८, १८६२ और १८७८ में स्वीकृत हुए। इन अधिनियमों ने सुदृढ़ बैंकिंग और साख संस्थाओं की नींव डाली जो देश की बचत का राष्ट्रीय उद्योगों में उपयोग करा सकी।

विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति

सन् १९१४ के बाद से विश्व व्यापार में ब्रिटेन का भाग घटता-बढ़ता रहा है। १९१४ में विश्व के पक्के माल के निर्यात व्यापार में ब्रिटेन का भाग ३०% था, १९२९ में यह २४% और १९३७ में केवल २२% ही रह गया। किन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरांत के वर्षों में यह भाग फिर से बढ़ा है—१९५० में यह १५% था किन्तु १९६१ में फिर गिर कर केवल १६% ही रह गया।

सन १९३८ में कुल आयात व्यापार ९१·९० करोड़ पौंड का था, यह सन् १९४८ में २००·०० करोड़ पौंड का, तथा १९५१ में ३८९·२० करोड़ पौंड और सन् १९६१ में ४३९·८० करोड़ पौंड का हो गया। इसी प्रकार आयात व्यापार का मूल्य सन् १९३८ में ४७·१० करोड़ पौंड से बढ़ कर सन् १९५० में २१७·४० करोड़ और सन् १९५६ में ३१४·३० करोड़ तथा १९६१ में ३६८·२० करोड़ पौंड का हो गया। जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा :—

आयात-निर्यात व्यापार (करोड़ पौंडों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	पुनः व्यापार
१९३८	९१·९	४७·१	६·१
१९४८	२०७·७	१५७·९	६·१
१९५१	३८९·२	२५६·६	१२·५
१९५४	३३५·९	२६५·०	९·८
१९५९	३९८·३	३३३·०	१३·१
१९६०	४५४·१	३५५·०	१४·१
१९६१	४३९·८	३६८·२	१५·८

पिछली एक शताब्दी से ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्व अधिक रहा है। यह अपने यहाँ से विश्व के अन्य देशों को अपने कारखानों में निर्मित माल (कुल व्यापार का ८५%)—मुख्यतः इंजीनियरिंग सामान, मोटर गाड़ियाँ, जहाज, धातुयें, वस्त्र, रासायनिक पदार्थ, कोयला, पैट्रोलियम, विद्युत् मशीनें आदि वस्तुयें—निर्यात करता है। यह निर्यात मुख्यतः बेल्जियम, फ्रांस, इटली, लक्सम्बर्ग, नीदरलैंडस और जर्मन प्रजातन्त्र (कुल व्यापार का १७%); संयुक्त राज्य (८%); मध्य पूर्व के देशों (६%). लैटिन अमरीकी देशों (४½%) तथा राष्ट्रमंडलीय देशों (६६%) को होता है।

आयात व्यापार में मुख्यतः खाद्यान्न खाद्य पदार्थ, मक्खन, पनीर, चाय, तम्बाकू कपास, ऊन, धातुयें आदि वस्तुयें होती हैं। कुल आयात व्यापार का ३४% खाद्य-पदार्थों का होता है।

नीचे की तालिका में निर्यात व्यापार को बताया गया है :—

	१९३५–३८ का औसत %	१९५४ %	१९६१ %
इंजीनियरिंग वस्तुयें	२०·१	३७·९	४५·५
जहाज	१·०	१·९	२·४
मोटरें और पुर्जे आदि	४·०	१०·४	१०·३
हवाई जहाज आदि	०·८	१·८	३·९
धातुयें	१३·४	१२·८	१२·९
वस्त्र	२४·०	१३·५	७·९
रासायनिक पदार्थ	६·३	७·७	८·८
अन्य तैयार माल	११·९	१०·९	१०·७
कोक, कोयला	८·०	२·५	०·८
पैट्रोलियम	१·०	३·२	२·६
खाद्य, पेय और तम्बाकू	७·४	५·८	५·६
अन्य उपजें	७·९	५·७	५·३
योग	१००·०	१००·०	१००·०

ब्रिटेन से पुनर्निर्यात भी अधिक होता है। यह व्यापार मुख्यतः ऊन, चाय, रबड़, फल, अलौह धातुयें, हवाई जहाज के पुर्जे, तम्बाकू आदि में होता है।

अध्याय १३

वाणिज्यवाद या व्यापारवाद
(Mercantilism)

'वाणिज्यवाद या व्यापारवाद' शब्द उन सामूहिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रयत्नों का नाम है जो कि इङ्गलैंड की सरकार ने १४ वीं से १६ वीं शताब्दी तक अपनाये। कुछ अर्थ-शास्त्रियों के मतानुसार इन उपायों का उद्देश्य राष्ट्रीय आर्थिक-आत्म-निर्भरता और अन्ततः राष्ट्रीय सम्पदा और शक्ति का विकास करना था। इस व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण का ध्यान रखते हुए व्यावहारिक नीतियों में परिस्थिति के अनुसार सामयिक परिवर्तन भी किए गये।

एक दूसरी विचारधारा के अर्थशास्त्रियों के अनुसार समय-समय पर अपनाये गये उपाय किसी निश्चित नीति के परिणाम नहीं थे वरन् विशिष्ट समस्याओं के हल के लिये ही यथोचित उपायों को अपनाया गया था। व्यापारवाद की विचारधारा राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ पनप रही थी। मध्य युग में राष्ट्रीयता का विचार अधिक प्रबल हो गया था। सौ वर्षों के युद्ध का एक परिणाम अँग्रेजों में इस भावना को बढ़ाता हुआ होगा और **जॉन ऑफ आर्क** के पराक्रमों के पश्चात् फ्रांसीसियों में भी यह भावना बढ़ी होगी। पन्द्रहवीं शताब्दी में पूर्ण-जागरण, इंगलैंड में सामन्ती शक्ति का ह्रास और भौगोलिक अन्वेषणों की घटनाएँ घटित हुईं। इसी समय धर्म सुधार आन्दोलन की प्रवृत्ति भी जाग्रत हुई। इस प्रकार सम्पूर्ण यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ और यह राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक सत्ता के रूप में राष्ट्रों का उदय, मध्य युग को वर्तमान युग से अलग करता है। राष्ट्र के हित में राजनीतिक और आर्थिक कार्यों का सचालन करने के लिये शक्तिशाली शासक की आवश्यकता थी। सौभाग्य से इस प्रकार का शक्तिशाली शासक-वर्ग इंगलैंड और यूरोप में उस समय पनप चुका था।

व्यापारवाद के अन्तर्गत राष्ट्र की आर्थिक शक्तियों का विकास राष्ट्रीय दृष्टिकोण से किया जाता है। इसके अन्तर्गत अपनाये गये उपायों को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) कृषि सम्बन्धी उपाय, (२) उद्योगों के विकास सम्बन्धी उपाय, (३) जहाजी या नौकावहन विकास सम्बन्धी उपाय, और (४) सम्पत्ति संग्रह सम्बन्धी उपाय।

विकासवाद का आरम्भ

व्यापारवाद का उद्भव **रिचार्ड द्वितीय (Richard II)** के समय से होता है, जबकि प्रथम बार १३७६ में एडवर्ड तृतीय की नीति की आलोचना की गई और

राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि करने के दृष्टिकोण से अधिनियम स्वीकृत किए गए। किन्तु व्यावहारिक रूप से व्यापारवाद का प्रचलन ट्यूडर राजाओं के काल से ही हुआ है जैसा कि **लार्ड बेकन** ने कहा है—"हेनरी सप्तम ने पुरानी राजनीति को छोड़कर नई शक्ति की नीति का अनुसरण किया।" यह समय राष्ट्रीयता की भावना का सर्वोपरि काल था। व्यापारवाद की नीति के तत्व हमको पन्द्रहवीं शताब्दी की उन पुस्तकों में भी मिलते हैं जो नवीन नीति की परिचायक थीं—**घोषकों का विवाद : चार्ल्स, ड्यूक आफ ओरलियन्स, इङ्गलैंड की वस्तुएँ : सरजोन फोर्टेस्क्यू**। उस समय जो नीति अपनाई गई वह नकारात्मक थी। केवल ट्यूडर काल में रचनात्मक ढंग से व्यापारवाद का विकास हुआ। इस समय के विभिन्न परिवर्तनों ने इस नीति को सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करने में योग दिया।

१६वीं और १७वीं शताब्दी में धन प्राप्ति का मुख्य साधन विदेशी-व्यापार था जो कि भारत, अफ्रीका और अमेरिका के साथ होता था। अतः व्यापार और विशेषतः विदेशी व्यापार ही व्यापारवाद में मुख्य स्थान पा सका। यही कारण था कि विदेशी व्यापार को उन्नत करने के लिये कृषि, उद्योग और जहाजरानी सम्बन्धी अधिनियम स्वीकृत किये जाते थे। देश के आयात और निर्यात इस प्रकार नियन्त्रित किए जाते थे कि जिससे 'अनुकूल व्यापार-सन्तुलन' प्राप्त हो सके तथा देश में स्वर्ण भारी मात्रा में आ सके। स्वर्ण उस समय सम्पत्ति का चिन्ह था। वह राजनीतिक शक्ति का भी आधार था। देश स्वर्ण के आधार पर सेनाएँ रख सकता था, शस्त्र क्रय कर सकता था और अन्य देशों के राजनीतिज्ञों को राष्ट्रीय लाभ के लिये रिश्वत दे सकता था। अतः उस समय प्रत्येक देश का यह प्रयत्न था कि उसके पास अधिकाधिक स्वर्ण का संग्रह हो। कुछ देशों (जैसे पुर्तगाल) के पास सोने या चाँदी की खानें थीं। किन्तु इंगलैंड के पास स्वर्ण की खानें नहीं थीं। अतः इंगलैंड इन देशों को अधिक वस्तुएँ बेचकर स्वर्ण प्राप्त कर सकता था।

व्यापारवाद के मुख्य तत्व

व्यापारवादी नीति के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाया गया था :—

(१) राष्ट्रीय साधनों का इस ढंग से विकास किया जाय कि जिससे देश का निर्यात व्यापार बढ़ सके। इसी दृष्टिकोण से उद्योग और जहाजरानी का विकास किया गया। राष्ट्रीय धन तथा शक्ति में वृद्धि करना उत्तम समझा जाता था। अतः आर्थिक साधनों का नियमन और नियन्त्रण अनिवार्य और अपरिहार्य था।

(२) व्यापारवादी उपनिवेशों का उपयोग भी मातृ-देशों के हितों के पक्ष में करना चाहते थे। वे उपनिवेशों को केवल कच्चे माल का भन्डार बनाना चाहते थे जो मातृ-देश को कच्चा माल देता रहे और मातृ-देश से पक्का माल बराबर लेता रहे। उन्हीं उद्योगों को उपनिवेशों में स्थापित और विकसित होने का अवसर दिया जाता था जो उद्योग मातृ-देश में या तो नहीं थे या उन्हें लाभदायक आधार पर मातृ देश में नहीं खोला जा सकता था। वस्तुतः उपनिवेशों के साधनों का आर्थिक शोषण व्यापारवादी नीति का एक मुख्य तत्व था।

(३) व्यापारवादी अन्ततः राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता में विश्वास करने वाले थे। अतः निर्यात व्यापार को अधिक बढ़ावा और आयात व्यापार को हतोत्साहित किया जाता था। संरक्षणात्मक या तटकर लगाकर आयात को रोकना और राष्ट्रीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना आत्म-निर्भरता की अवस्था प्राप्त करने का एक प्रमुख तत्व था।

(४) बुलियन-बोर्ड (Bullion Board) की स्थापना—इस बोर्ड की स्थापना से स्वर्ण के निर्यात को समाप्त किया गया और आयात को प्रोत्साहित किया गया क्योंकि व्यापारवादियों का विश्वास था कि वही देश धनी है जिसके पास सोना और चाँदी अधिक है।

(५) अनुकूल व्यापार-सन्तुलन की स्थापना—इस प्रकार की विधि से स्वर्ण का बहाव इंग्लैंड की ओर हो सके। पहले तो प्रत्येक देश से अनुकुल व्यापार सन्तुलन रखने का प्रयत्न किया गया, किन्तु जब यह स्थिति असम्भव सी दृष्टिगोचर हुई तो साधारण व्यापारिक सन्तुलन का प्रयत्न किया गया।

कृषि के क्षेत्र में व्यापारवादी नीति

व्यापारवादियों ने यह अनुभव किया कि कृषक राष्ट्रीय रीढ़ है अतः कृषि की उन्नति का प्रयत्न किया जाना चाहिये। साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि जो देश खाद्यान्न का आयात करता है, वह युद्ध के समय सुरक्षित नहीं है। विदेशी अन्न का आयात बन्द होने पर देश भूखों मर सकता है।

कृषि को उन्नत करने के लिये विभिन्न **'अन्न अधिनियम'** (Corn Laws) स्वीकृत किये गये। एडवर्ड और रिचर्ड द्वितीय के समय में भी अन्न-अधिनियम स्वीकृत किये गये। पन्द्रहवीं शताब्दी में दो महत्वपूर्ण अन्न-अधिनियम स्वीकृत हुए—(१) १४३६ का अन्न-अधिनियम। इसके अन्तर्गत अन्न का निर्यात उस समय किया जाय जब उसका मूल्य ६ शि० ८ पैं० प्रति क्वार्टर से नीचे गिरे। (२) सन् १४६३ के अन्न-अधिनियम के अन्तर्गत अन्न का आयात उस समय रोक दिया जाय जब मूल्य ६ शि० ८ पैं० प्रति क्वार्टर से नीचे गिर जाय। सरकार इस प्रकार मूल्य का निर्धारण करती थी जिससे कृषक को पर्याप्त लाभ हो सके। सन् १५३४ में इस प्रकार का अधिनियम स्वीकृत हुआ कि सम्राट की बिना आज्ञा के अन्न का आयात न किया जाय। सत्रहवीं शताब्दी में आयात-निर्यात के मूल्य स्तरों में परिवर्तन किये गये। सन् १६६३ में **'अन्न उपहार अधिनियम'** (Corn Bounty Act) स्वीकृत हुआ जिसके आधीन कृषक को संरक्षण प्रदान किया गया। आयातित गेहूँ पर ५ शि० ४ पैं० प्रति क्वार्टर कर लगाया जाय जबकि कीमतें ४८ शि० प्रति क्वार्टर से नीचे हों। सन् १६७३ में किसानों को आर्थिक सहायता दी गई। कुछ वर्षों के पश्चात् अधिनियम समाप्त हो गया। सन् १६८९ में पुनः 'अन्न-उपहार-अधिनियम' स्वीकृत हुआ जिसके अन्तर्गत ५ शि० प्रति क्वार्टर आर्थिक सहायता उस निर्यातित गेहूँ पर दी जाती जबकि मूल्य देश में ४८ शि० प्रति क्वार्टर से नीचे हो।

यह अधिनियम अनाज की उत्पत्ति को प्रोत्साहित करने और इसके मूल्य में उचित अंशों तक स्थायित्व लाने में सफल हुआ। इस प्रकार की सफलता की तुलना हम फ्रांस द्वारा इसी प्रकार की नीति अपनाने की असफलता से कर सकते हैं जहाँ कि विपरीत परिस्थितियों में इंग्लैंड के समान नीति अनुसरण करने का प्रयत्न किया गया। फ्रांस में चौदहवें लुई के शासनकाल में एक वित्त-व्यवसायी और अर्थशास्त्री **श्री कोल्बर्ट** ने निर्यात निषिद्ध करने की राजाज्ञा जारी करवाई जिसका उद्देश्य फ्रांस में अनाज की प्रचुर उपलब्धि करवाना था लेकिन इस प्रकार के निषेधात्मक प्रतिबन्ध के परिणामस्वरूप प्रचुरता के वर्ष में फ्रांसीसी किसान के अनाज का ग्राहक नहीं मिलता था और भूमि पर खेती बन्द कर दी जाती थी। इंग्लैंड में **अन्न उपहार अधिनियम** ने लगभग १०० वर्षों तक कृषि-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में

सहायता की लेकिन जनसंख्या की वृद्धि ने समस्या का अभावात्मक-स्वरूप प्रस्तुत किया जिसके कारण कीमतें बढ़ती जा रही थीं। सरकार ने मूल्य के उचित नियन्त्रण के लिये सन् १७७३ में **अन्न अधिनियम** पारित किया जिसका उद्देश्य मूल्य ४८ शि० प्रति क्वार्टर से बढ़ने पर नाम मात्र का कर देने पर आयात की अनुमति देना था ताकि मूल्य इस दर के आस-पास स्थिर हो जाये। सन् १७७३ के अधिनियम को जितनी सफलता मिलनी चाहिये थी उतनी सफलता नहीं मिली। मूल्यों में वृद्धि होने से सदा भारी मात्रा में आयात नहीं होता था क्योंकि विदेशी उत्पादक एक अनिश्चित मन्डी के लिये उत्पत्ति करने को तैयार नहीं थे। सन् १७९१ में एक और **अन्न अधिनियम** १७७३ के अधिनियम में संशोधन करते हुए पारित किया गया। जब देश में गेहूँ का मूल्य ४४ शि० प्रति क्वार्टर से नीचे होता था तो निर्यात पर सहायता दी जाती थी और जब देश में गेहूँ का मूल्य ५० शि० प्रति क्वार्टर से नीचे होता था तो आयात पर भारी कर लगाया जाता था तथा जब देश में मूल्य ५४ शि० प्रति क्वार्टर से ऊपर चला जाता था तो कर केवल नाम मात्र का रह जाता था। इस प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत यह आशा की गई कि निर्यात पर सहायता और आयात पर भारी कर लगाने से देश में अन्नोत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा जबकि यह आशा की जाती थी कि मूल्य ऊँचा होने पर कर में कमी से आवश्यकता के समय आयात को प्रोत्साहन मिलेगा और इसलिये रोटी के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि नहीं होगी। यद्यपि देश में उत्पत्ति बढ़ी, समावरण आन्दोलन जारी रहा और नई भूमि पर खेती की गई परन्तु युद्ध के दिनों में आयात अनिश्चित हो गया जिससे युद्ध काल में मूल्य में बराबर वृद्धि होती रही।

वैसे युद्ध काल में कृषि लाभदायक व्यवसाय था लेकिन उसमें अनिश्चितता का तत्व अवश्य विद्यमान था क्योंकि लाभ युद्धकाल में आयातित अन्न के बहिष्कार पर निर्भर था। अतः सन् १८१५ का **अन्न अधिनियम** आवश्यक माना गया। इस **अन्न अधिनियम** का मुख्य उद्देश्य यह था कि इंग्लैंड खाद्य के सम्बन्ध में विदेशों पर निर्भर न रहे और इसके लिए यह आवश्यक माना गया कि कृषि को प्रोत्साहित करने के लिये इस प्रकार के प्रतिबन्ध तब तक लगे रहना चाहिये जब तक कि एक चौथाई टन (प्रति क्वार्टर) गेहूँ का मूल्य ८ शि० न हो जाये। कृत्रिम ढंग से अन्न का मूल्य इतना बढ़ा दिया गया कि निर्वाह कठिन हो गया तथा सामान्य जनता का जीवन-स्तर भी गिर गया। यह अधिनियम अपना उद्देश्य भी प्राप्त नहीं कर सका। किसानों को भी अधिक ऋण देना पड़ा यदि भूमि का मूल्य उनके कार्य-कलापों से वृद्धि पा जाये तब भी उन्हें दंडित किया जाता था जबकि उनकी पट्टा अवधि समाप्त हो जाती। जमींदारों का पर्याप्त पुरस्कार मिला लेकिन यह वे इसलिये प्राप्त कर सके क्योंकि उत्पादन को उचित प्रोत्साहन नहीं मिल सका। अतः यह विवादास्पद है कि क्या वास्तव में 'अन्न अधिनियम' किसानों के लिये लाभदायक था? किसानों को अधिक उत्पादन के लिये प्रोत्साहित करने का अभिप्राय यह था कि उस भूमि पर भी अन्न उत्पादन किया जाये जो उसके लिये कम उपयुक्त थी और इस प्रकार अधिनियम मूल्यों में उतार-चढ़ाव को बढ़ाया। एक और दुःखद तथ्य यह था कि इस अधिनियम ने किसानों में कृषि प्रणाली के सुधार के सम्बन्ध में रुचि उत्पन्न नहीं की।

श्रमिकों ने अधिक मजदूरी की माँग की और परिस्थितियाँ इतनी विपरीत हो गई थीं कि अन्न अधिनियम समाज पर भार हो गया और सभी वर्गों के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ। परन्तु प्रतिबन्धात्मक व्यवस्था विशेषतः उपभोक्ताओं तथा व्यापारियों के लिए असुविधाजनक थी। किसानों के अनिश्चित स्वार्थों के लिये साधारण

जनता के कल्याण की बलि चढ़ा दी गई। अतः श्रमिकों और औद्योगिक-पूँजीपतियों ने इन अधिनियमों के विरुद्ध हड़ताल और असन्तोष व्यक्त किया। अन्न अधिनियम के प्रश्न को लेकर स्वतन्त्र व्यापारवादियों और संरक्षणवादियों में लगभग ३० वर्षों तक विवाद चलता रहा। शहरी उपभोक्ताओं और औद्योगिक-पूँजीपतियों के असन्तोष के परिणामस्वरूप १८२६, १८२८ और १८४२ ई० में 'अन्न अधिनियम' में फिर संशोधन और सुधार किये गये। इन संशोधनों के फलस्वरूप चुंगी की दर अन्न के मूल्य के अनुकूल ही निर्धारित की गई। यदि अन्न का मूल्य ७० शि० से अधिक हो जाता तो निःशुल्क आयात की अनुमति दे दी जाती और जब मूल्य इस बिन्दु से नीचे गिरता तब आयात पर चुंगी लगा दी जाती और ज्यों-ज्यों मूल्य गिरते त्यों-त्यों चुङ्गी दर भी बढ़ा दी जाती। इसके पश्चात् **हस्किशन** ने पारस्परिक समझौता द्वारा नौ-वहन अधिनियमों में संशोधन किया जिसके अनुसार औपनिवेशिक व्यापार के प्रति ब्रिटेन ने चुङ्गी दर कम कर दी तथा विदेशी आयात के समस्त प्रतिबन्ध भी एक सामान्य कर में परिवर्तित कर दिये गये। ये कर आयात-मूल्यों के ३० प्रतिशत अनुपात से अधिक नहीं हो सकते थे। चुङ्गी की दर में इन सुधारों के उपरांत भी स्थिति में कोई अन्तर नहीं हुआ।

अन्न-अधिनियम विरोधी लीग (Anti-Corn-Law League)—असन्तुष्ट उद्योगपतियों, पूँजीपतियों तथा उपभोक्ताओं ने कृषि संरक्षण का सक्रिय विरोध करने के लिये **अन्न अधिनियम विरोधी लीग (Anti Corn-Law-League)** की स्थापना की जिसके प्रमुख नेता रिचर्ड कॉबड्न (Richard Cobden) और जॉन ब्राइट (John Bright) थे।

रिचर्ड काब्डन (सन् १८०४-६५) मिडहर्स्ट नामक स्थान में पैदा हुआ था। यह अन्न अधिनियम विरोधी अभियान का मुख्य प्रणेता था। सन् १८३५ में इसने स्वतन्त्र व्यापार और सरकारी हस्तक्षेप पर पैम्फलेट प्रकाशित किये और इस प्रकार यह क्रांतिकारी दार्शनिकों की श्रेणी में सम्मिलित हो गया। सन् १८३८ में, जब वह मेनचेस्टर में एक उत्पादक था, रिचर्ड कॉब्डन ने ७ व्यापारियों के सहयोग से एक संस्था बनाई। सन् १८४१ में इसने पार्लियामेन्ट में अपना प्रथम भाषण दिया और चार वर्ष पश्चात् इसने अपनी भाषण कला से **रॉबर्ट पील** (प्रधान-मन्त्री, इंग्लैंड) को प्रभावित किया और जिसके कारण अन्न अधिनियम समाप्त कर दिये गये। इसका सारा श्रेय स्वयं श्री पील ने कॉब्डन को दिया है। श्री कॉब्डन का कार्य न केवल अन्न अधिनियम तक ही सीमित था वरन् वह सन् १८५६ में व्यक्तिगत रूप में फ्रांस गया और सम्राट नेपोलियन तृतीय से एक संधि की जिसके आधार पर स्वतन्त्र-व्यापार को दोनों देशों में प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार श्री कॉब्डन उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति था जो स्वतन्त्र व्यापार का प्रबल समर्थक था।

श्री रिचर्ड काब्डन के समान ही दूसरा व्यक्ति **जान ब्राइट** था, जिसने अन्न अधिनियम विरोधी अभियान को संचालित किया। श्री जॉन ब्राइट (John Bright) (१८११-८६) कॉब्डन का विश्वासपात्र साथी था। वह रॉकडेल नामक स्थान में पैदा हुआ और एक मिल-मालिक का पुत्र था। उसकी शिक्षा-दीक्षा ने भाषा पर उसे अद्वितीय अधिकार प्रदान किया। वह कॉब्डन से सन् १८३७ में और 'अन्न-अधिनियम विरोधी लीग' का सदस्य बन गया। सन् १८४३ में संसद सदस्य बना और एक प्रसिद्ध आन्दोलनकारी की ख्याति प्राप्त की। उसने कॉब्डन के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य किया और इसीलिये ये दोनों एक रूप हो गये।

'अन्न अधिनियम विरोधी अभियान' वस्तुतः मध्यम-वर्ग का आन्दोलन था, जिस प्रकार **चार्टिस्ट-आन्दोलन** को श्रमिक-वर्ग का आन्दोलन कहा जा सकता है। यह आन्दोलन औद्योगिक-पूँजीपतियों की वित्तीय सहायता से संचालित था और जिसे अद्वितीय संगठन-योग्यता और प्रचार शक्ति वाले व्यक्ति नेतृत्व सम्हाले हुये थे। सार्वजनिक सभाओं के आयोजन और राजनीतिक पेम्पलेटबाजी पर पर्याप्त धन राशि खर्च की गई। यद्यपि **'अन्न अधिनियम विरोधी अभियान'** मध्यम वर्ग का आन्दोलन था लेकिन उसने श्रमिक वर्ग को भी अपने झंडे के नीचे लाने का हर सम्भव प्रयत्न किया। अन्न अधिनियमों की समाप्ति का प्रयत्न औद्योगिक और श्रमिकों के हित की दृष्टि से किया गया। सन् १६४० तक ग्रामीण और शहरी श्रमिकों में कोई विशेष स्वार्थों का संघर्ष नहीं था। ग्रामीण कृषि मजदूर को भी 'अन्न अधिनियम' से वही शिकायतें थीं जो औद्योगिक मजदूर को थीं। चार्टिस्ट आन्दोलन से 'अन्न-अधिनियम विरोधी अभियान' को आघात पहुँचा क्योंकि दोनों आन्दोलन में प्रतिद्वन्दिता सी थी। यद्यपि चार्टिस्ट आन्दोलन अपने आरम्भिक विकास काल में अन्न-अधिनियम विरोधी अभियान के विरुद्ध नहीं था। बाद में जनमत और वयस्क मताधिकार इत्यादि प्रश्नों पर मतभेद होने से दोनों अलग से नेतृत्व बनाये रखने का प्रयत्न करने लगे। इस संघर्ष और कलह से चार्टिस्ट आन्दोलन को अधिक आघात पहुँचा अपेक्षाकृत 'अन्न अधिनियम' विरोधी लीग के। लीग को महती सफलता प्राप्त हुई और चार्टिस्ट आंदोलन असफल हो गया।

यदि 'अन्न अधिनियम विरोधी लीग' ने नियमों की समाप्ति के लिये भूमिका तैयार की किन्तु अन्न अधिनियम समाप्ति का वास्तविक दायित्व और श्रेय **श्री पील** को है। जब सन् १८४४ में परिस्थिति अनिश्चित और नाजुक थी तब पील के बजट ने स्थिति को सुधारा और सम्हाला। शीत ऋतु ने अग्रिम फसल की खराबी का संकेत दिया और जिसमें सबसे अधिक प्रभावित होने वाले पदार्थ अन्न और आलू थे। 'अन्न अधिनियम' के अन्तर्गत अन्न को कीमत का आंग्ल परिवार के लिये विशेष महत्व था। आयरलैंड पूर्णतया आलू पर निर्भर था। ऐसी स्थिति में १८४५ में आयरलैंड में **आलू का अकाल (Potato Blight)** पड़ा किन्तु प्रयास शीघ्रगामी नहीं थे क्योंकि गोदामों में खाद्यान्न था, पील ने देखा और अनुभव किया कि अकाल सन् १६४६ में गिरेगा। श्री रिचर्ड काब्डन के १६४५ के भाषण ने पील को प्रभावित किया। पील से कर्मठ व्यक्ति ने तत्काल कार्यवाही का निश्चय किया और इस प्रकार सन् १८४५ की वर्षा में 'अन्न अधिनियम' बह गये।

पील को अपने इस कार्य की सफलता में पहले असफलता का सामना करना पड़ा क्योंकि मंत्रिमंडल द्वारा उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया और **लार्ड जान रसल** (उसके प्रतिद्वन्दो) ने अपने एडिनवर्ग पत्र में स्वतन्त्र व्यापार की नीति की ओर झुकाव दिखाया यद्यपि उसकी पूर्व नीति निश्चित शुल्क लगाने की थी। **पील** 'अन्न अधिनियम समाप्ति' विधेयक को स्वीकार कराना चाहता था किन्तु लार्ड स्टेनले के विरोध स्वरूप वह अधिनियम स्वीकार नहीं किया जा सका। अतः पील को त्याग-पत्र देना पड़ा। लॉर्ड जोन रसल कुछ राजनीतिक कारणों से मंत्रि-मण्डल का निर्माण नहीं कर सके और अन्ततः श्री पील को पुनः मंत्रि-मण्डल बनाने के लिये आमंत्रित किया गया जो एक प्रकार से उसकी पूर्व निर्धारित 'अन्न अधिनियम समाप्ति' नीति की विजय थी। जनवरी सन् १८४६ में पील ने तत्काल और स्थायी रूप में 'अन्न अधिनियम समाप्ति' प्रस्ताव रखे और स्वीकार करवाये। अकाल के परिणामस्वरूप इस प्रकार का निर्णय किया गया और इसी कारण ह्विग पार्टी ने इसका समर्थन किया और पील का भी समर्थन किया। इसी समय ही डिसराइली का राजनीति में

प्रवेश हुआ। जिसने संरक्षणवादी नीति के आधार पर पील का विरोध किया परन्तु पील दोनों ही सदनों में जून १८४६ में अपनी अन्न नीति मनवाने में सफल हो गया।

उद्योगों के सम्बन्ध में व्यापारवादी नीति

कृषि के समान ही उद्योगों के विकास के लिये व्यापारवादी नीति के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किए गए। जिनमें कुछ अधिनियम विदेशी-व्यापार के नियमन से सम्बन्धित थे और कुछ प्रवास निषेध से इसी प्रकार व्यय-सम्बन्धी अधिनियम (Sumptury Laws), प्रमाणीकरण अधिनियम, श्रम-अधिनियम उल्लेखनीय हैं।

व्यापारवादियों ने निर्मित माल के आयात का विरोध किया और कच्चे माल के आयात का समर्थन किया। सन् १४५५ में रेशम का आयात बन्द कर दिया गया और १४६३ में विभिन्न प्रकार के निर्मित-माल का आयात बन्द कर दिया गया। निर्मित माल के निर्यात को प्रोत्साहित किया गया तथा कच्चे माल के निर्यात को हतोत्साहित किया। अठारहवीं शताब्दी में रेशमी-माल के निर्यात को आर्थिक सहायता दी गई। सम्राज्ञी एलिजाबेथ ने भेड़ और मेमनों का निर्यात निषेध कर दिया जिससे देश में उन उद्योगों का विकास हो सके। व्यापारवादी उन विदेशियों की आर्थिक क्रियाओं का ध्यान रखते थे जो कि नवीन कला, शिल्प को, प्रारम्भ करते थे। इस प्रकार के कारीगरों को संरक्षण दिया जाता था। ऐसे व्यक्तियों का प्रवेश निषिद्ध था जो खुदरा-व्यापार में लगे थे और देश का धन बाहर ले जाते थे।

विदेशी माल का उपभोग निषिद्ध किया गया किन्तु स्वदेशी माल के उपभोग का प्रचार किया जाता था। इस प्रकार के प्रयत्नों के ज्वलन्त उदाहरण सम्राज्ञी एलिजाबेथ की वे आज्ञाएँ हैं जिनमें अंग्रेजी टोपी पहिनना अनिवार्य किया गया; चार्ल्स द्वितीय का अध्यादेश जिसमें अँग्रेज मुर्दे इङ्गलिश ऊनी-कफन में दफनाये जायँ, हैं। अठारहवीं शताब्दी में भारी दन्ड और जुर्माने चीनी-रेशम, भारतीय मलमल और फ्रांसीसी केम्बिरक के उपभोग पर लिए लगाए गए। सन् १७०० में विदेशी रेशम पर प्रतिबन्ध लगाया गया तथा सन् १७२१ में भारतीय केलिको पर प्रतिबन्ध लगा और सन् १७४५ में फ्रांसीसी केम्बिरिक पर।

इसी प्रकार व्यापारवादी नीति के अन्तर्गत सरकार ने प्रमाणीकरण के लिए प्रयत्न किए। परन्तु ऊनी वस्त्रों के क्षेत्र में जब प्रमाणीकरण के रूप में उलझन उत्पन्न हुई तो अधिनियम ढीले कर दिए गए। उद्योगों का नियन्त्रण व्यक्तियों या सामूहिक रूप से काम करने वाली कम्पनियों के अधीन था। यद्यपि व्यक्तियों के अधीन नियन्त्रण देने का आशय कुछ विशिष्ट उत्पादनों में देश का विकास करना था। परन्तु यह एकाधिकार बाद में इतना अप्रिय हो गया कि एलिजाबेथ के समय एक सदस्य ने संसद में प्रश्न किया—'क्या रोटी भी एकाधिकार की सूची में है ?'

व्यापारवादियों ने श्रम की नियन्त्रण-व्यवस्था भी अपनाई थी। एलिजाबेथ के समय में श्रम-अधिनियम स्वीकृत हुआ था। सन् १५६३ के अधिनियमों के अन्तर्गत न्यायाधीशों को यह अधिकार दिया गया कि वे श्रम की न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर सकेंगे। कारीगर-संघों के पतन को रोकने के लिए अधिनियम ने उन्हें यह अधिकार भी दिया था कि उपाध्याय शिशिक्षुओं का कार्यकाल सात वर्ष तक बढ़ा सकता है और उन पर उत्तम कार्य के लिये दबाव डाला जा सकता है।

जहाजरानी का विकास तथा व्यापारवादी नीति

व्यापारवादियों के युग में एक विस्तृत **नौ-वहन-अधिनियम** स्वीकृत हुआ जिसमें विदेशी प्रतिस्पर्द्धा पर प्रतिबन्ध लगाया जाकर देश के नौ-वहन विकास को पर्याप्त

प्रोत्साहन दिया गया। यह अधिनियम उस उपनिवेशवादी नीति (Colonial Policy) का परिणाम था जिसमें उपनिवेशों की आर्थिक-क्रियाओं को मातृदेश के हित में नियमित और नियन्त्रित किया जाता था। प्रथम-नौ-वहन-विधान (Navigation Act) १३८१ में स्वीकृत हुआ जिसके आधीन देशवासियों द्वारा विदेशी जहाजों का उपभोग निषिद्ध कर दिया गया किन्तु यह अधिनियम अँग्रेजी जहाज की अपर्याप्तता के कारण व्यावहारिक रूप प्राप्त न कर सका अतः १४६३ में उसमें संशोधित किया गया। हेनरी सप्तम के शासन काल में जो अंग्रेज गेसकोनी से शराब लाते थे उन्हें अँग्रेजी जहाजों में ही शराब लाने के लिए विवश किया गया। इसी प्रकार का प्रतिबिम्ब रानी एलिजाबेथ के शासन-काल में लगाया गया था। सर ओलीवर क्रोमवेल के राज्य-काल में महत्वपूर्ण नौकावहन विधान स्वीकृत किया गया। अतः १६५१ में यह विद्वान स्वीकृत हुआ कि जो माल यूरोप से आयात किया जाय वह या तो अँग्रेजी जहाजों में या उस देश के जहाजों में ही आयात किया जाय जो कि सामान भेज रहा है। एशिया, अफ्रीका और अमरिका से सामान अँग्रेजी जहाजों में लाया-ले जाया जाय। इसी प्रकार आंग्ल जहाज ही ह्वेल मछली का तेल तथा कॉड मछली का आयात करे। इस अधिनियम १६६० में यह संशोधन किया गया कि जहाज के मालिक और तीन-चौथाई मल्लाह अँग्रेज होने चाहिये। इसी प्रकार वस्तुओं का भी विभाजन नामांकित और अनामांकित रूप में किया गया जिनका आंग्ल जहाजों द्वारा भेजना अनिवार्य कर दिया गया।

इस समय तक यह विधान प्रभावोत्पादक होगया था और उपनिवेशों के व्यापार के लिये उसे विस्तृत रूप दिया गया। आंग्ल उपनिवेश प्रत्येक सामान आंग्ल जहाजों द्वारा ही प्राप्त करे, इस प्रकार की व्यवस्था १६६४ में की गई। इस प्रकार के प्रतिबन्धात्मक नौ-वहन विधान की प्रायः आलोचना की जाती रही है, परन्तु यह सत्य है कि उसने आंग्ल जहाजरानी उद्योग को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। हेनरी सप्तम, अष्टम और एलिजाबेथ के काल में इन कार्यों की ओर अधिक ध्यान दिया गया।

बुलियन का संग्रह

उपर्युक्त व्यापारवादी नीति और अधिनियमों द्वारा यह स्पष्ट है कि इंग्लैंड अत्यधिक स्वर्ण का संग्रह कर सका। यह संग्रह इसलिए संभव हो सका कि व्यापारवादी सिद्धान्ततः देश के स्वर्ण संग्रह में विश्वास करते थे और उसके द्वारा देश की सैनिक-शक्ति की सुदृढ़ता में विश्वास करते थे। **लिपसन नामक** अर्थशास्त्री ने ठीक ही कहा है कि कृषि, उद्योग, जहाज रानी सम्बन्धी अधिनियमों में कोष अधिनियम सबसे महत्वपूर्ण था। व्यापारवादी युग में सर्वप्रथम सरकार ने रिचर्ड द्वितीय के शासन-काल में स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया। पन्द्रहवीं शताब्दी में सिक्कों का निर्यात भी अपराध घोषित किया गया और विदेशियों को इस बात की जामिन देनी होती थीं कि वे बुलियन इंग्लैंड से बाहर नहीं भेजेंगे। **ईस्ट-इण्डिया कम्पनी** की आलोचना भी इसीलिए की गई कि वह देश से स्वर्ण बाहर भेजती थी। बुलियन के संग्रह के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएं दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम विचारधारा बुलियन के प्रवाह पर नियन्त्रण चाहती थी तथा दूसरी विचारधारा व्यापार के नियमन में विश्वासी थी। विदेशी मुद्रा और बुलियन का निर्यात १६६३ में वैधानिक मान लिया गया। व्यापार सन्तुलन को व्यापारवादी राष्ट्रीय प्रगति का सूचनांक मानते थे।

व्यापारवाद का आलोचनात्मक अध्ययन

राष्ट्रीयता की भावना के विकास के साथ-साथ व्यापारवादी रीति-नीति राष्ट्र के हित में रही थी। उससे राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता और शक्ति सम्पन्नता की भावनाओं

को बल मिला। किन्तु व्यापारवाद अपने आप में एक समुचित और सुव्यवस्थित कार्य-क्रम नहीं था। उसके द्वारा अपनाई गई नीतियाँ विरोधी-सी प्रतीत होती थीं। इन नीतियों ने उद्योग और कृषि के हितों का सामंजस्य स्थापित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की थी परन्तु राष्ट्र के सर्वाङ्गीण आर्थिक विकास का कार्यक्रम उसके पास नहीं था। समय-समय पर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के एकांगी पक्ष का अध्ययन राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की सम्पूर्णता से उन्हें अपरिचित रखे रही। प्रायः यह कहा जाता है कि व्यापारवाद के रूप में इंग्लैंड प्रथम बार योजनाबद्ध कार्यक्रम प्रस्तुत कर सका परन्तु वास्तविकता इससे दूर है। नौ-वहन-विधान और अनुकूल-व्यापार के सिद्धान्त अपने आप में पूर्ण नहीं थे। यही कारण था कि उससे देश के व्यापार को लाभ के साथ-साथ हानि भी उठानी पड़ी। राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्वार्थों और एकाधिकारों का प्रादुर्भाव और नियन्त्रण व्यापारवादी नीति की असफलता के परिचायक तत्व हैं।

व्यापारवादियों की नीतियाँ दोषपूर्ण थीं। उनके मतानुसार मुद्रा पूँजी का सर्वोत्तम रूप था। लेकिन यह सर्व-विदित तथ्य है जिससे शायद वे अपरिचित थे कि वस्तुओं के निर्यात से ही बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त होती हैं। उनके सिद्धान्तानुसार निर्यात व्यापार का सर्वोत्तम ढंग था अतः आयात पूर्ण रूप से उपेक्षा की गई। परन्तु सभी निर्यातक देश बन जाये तो फिर आयातक देश कौन बनेगा? यह भ्रान्त और एकांगी सिद्धान्त व्यापारवाद की आलोचना का कारण बना। इसी प्रकार व्यापारवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय मनोमालिन्य और विद्वेष की भावना को उकसाया। अनुकूल व्यापार-संतुलन वाले देश अपने को मित्र समझते थे और प्रतिकूल-व्यापार-सन्तुलन वाले देशों को शत्रु राष्ट्र समझा जाता था। इस प्रकार की नीति का प्रभाव अठारहवीं शताब्दी में क्षीण होना प्रारम्भ हो गया था और १९वीं शताब्दी तक यह नीति बिलकुल क्षीण हो गई थी। फ्रांस के अर्थशास्त्री और इंग्लैंड के अर्थशास्त्री, जिनमें प्रकृतिवादियों (Physiocrats) और आदम-स्मिथ का नाम लिया जा सकता है, वे इस प्रकार की नीति का विरोध किया क्योंकि ये अर्थशास्त्री पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धा और निर्बाध-व्यापार के पक्ष में थे।

व्यापारवादी व्यवस्था के दोषों की तुलना नाजी-व्यवस्था के आधार-भूत दोषों से की जा सकती है। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जो अन्य राष्ट्रों की हानि पर आधारित थी। अन्य राष्ट्रों की गरीबी इंग्लैंड की सम्पन्नता की अन्तिम कसौटी नहीं हो सकती थी। इस नीति के अपनाने से उपनिवेशों और इंग्लैंड के मध्य कटुता का श्रीगणेश हुआ। अमेरिकी-स्वतन्त्रता-युद्ध इस नीति की असफलता का ज्वलन्त उदाहरण कहा जा सकता है। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप जो आर्थिक और व्यापारिक परिवर्तन उपस्थित हुए उनके द्वारा व्यापारवाद की कमर टूट गई। कुछ विचारकों के अनुसार जितना शीघ्र व्यापारवाद का पतन सम्भव नहीं माना गया उतना शीघ्र पतन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों के दबाव से हुआ। जिस व्यापारवाद ने एकछत्र रूप से मध्यकालीन इंग्लैंड की आर्थिक व्यवस्था को शासित और नियमित किया वह औद्योगिक क्रांति के थपेड़े से ध्वस्त हो गया। इस शताब्दी में दो महान विश्व-युद्धों के पुनः व्यापारवाद की विचारधारा राष्ट्रों को पुनः प्रभावित कर रही हैं विशेषतः इंग्लैंड को जिसे कभी-कभी नव-व्यापारवाद (Neo-Mercantilism) के नाम से स्मरण किया जाता है।

स्वतंत्र व्यापार नीति एवं उसकी प्रतिक्रिया

(संरक्षणवादी नीति)

[Free Trade Policy and its Reaction]

(Protection)

अध्याय १४

व्यापारवाद के पश्चात् इंग्लैंड के आर्थिक इतिहास में उसकी एक तीव्र प्रतिक्रिया स्वतन्त्र-व्यापार नीति के रूप में परिलक्षित होती हैं। इस नीति ने डेढ़ शताब्दी तक इंग्लैंड के आर्थिक, औद्योगिक और व्यापारिक इतिहास को प्रभावित किया और २०वीं शताब्दी की तृतीय दशाब्दी तक किसी न किसी रूप में इंग्लैंड स्वतन्त्र व्यापार नीति का पक्षपाती रहा। सन् १६३१ में जब इंग्लैंड को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अस्थिरता और मन्दी के कारण स्वर्णमान को त्यागना पड़ा, तभी स्वतन्त्र व्यापार नीति की पूर्णाहुति हुई। इस प्रकार यह विचारधारा इंग्लैंड के इतिहास की राष्ट्रीय और सरकारी दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण विचारधारा रही है जिसे प्रसारित और प्रचारित कर इङ्गलैंड विश्व का नेतृत्व कर सका।

यदि हम उन्नीसवीं शताब्दी के आर्थिक विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि दो बातों में महत्वपूर्ण ढंग से इस विकास को प्रभावित किया है। इस शताब्दी में पूंजी में अत्यधिक वृद्धि हुई। आरम्भ में साझेदारी ने विशाल संयुक्त-स्कंध वाली कम्पनियों का रूप ग्रहण किया। इनके द्वारा पूंजी का विनियोजन और फल की प्रतीक्षा लम्बे समय तक की जा सकती थी और ज्यों ही यान्त्रिक प्रगति और यातायात में क्रांति हुई और उसके फलस्वरूप विश्व-व्यापार क्षेत्र बना और विभिन्न देशों से व्यापार होने लगा पूंजी का प्रभाव बढ़ता दृष्टिगोचर हुआ। श्रमिक संघ आन्दोलन भी तेजी से बढ़ा और वह इस रूप में सफल हो सका कि उसने न्यूनतम मजदूरी, काम के कम घण्टे, स्वास्थ्य सम्बन्धी लाभ प्राप्त किये। इसी प्रकार उपभोक्ता-सहकारी आन्दोलन भी रोकडेल पद्धति पर आगे बढ़ सका। इसी प्रकार स्थानीय स्वशासन और म्यूनिसिपल-कार्य तथा सामाजिक बीमा सुरक्षा की भावना प्रबल होती गई।

द्वितीय महत्वपूर्ण विचार था स्वतन्त्र-व्यापार नीति। इस महत्वपूर्ण नीति के अपनाये जाने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) **स्वतन्त्र व्यापार नीति का दार्शनिक आधार**—यह मान्यता विकसित हो रही थी कि स्वतन्त्र-बन्धनहीन प्रतियोगिता के प्रयोग से व्यक्ति को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकता था, अतः यदि उन्हें अपने व्यवहार में नियन्त्रण एवं बन्धन से मुक्त कर दिया जाय तो वे ऐसी कार्य-विधि अपनायेंगे जो उनके सर्वाधिक हित में होगी।

(२) **पुरातन अर्थशास्त्रियों की विचारधारा का प्रभाव**—स्वतन्त्र व्यापार नीति की विचारधारा को प्रभावित करने में प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्रियों की विचार-धारा का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। इस प्रकार के अर्थशास्त्रियों में आदम-स्मिथ, रिकार्डो, जे० एस० मिल इत्यादि प्रमुख हैं जिन्होंने अपनी पुस्तकों और निबन्धों द्वारा इस विचार को प्रसारित करने का कार्य किया।

(३) **औद्योगिक क्रांति के सूत्रपात** से भी इंगलैंड में १८वीं शताब्दी में इस नीति को अपनाया गया। आवश्यकता से अधिक उत्पादन मुक्त व्यापार की छत्र-छाया में ही सम्भव था। अतः औद्योगिक क्रांति कुछ अंशों में देश को इस ओर प्रभावित कर सकी।

(४) **फ्रांस की राज्य क्रांति (१७८९ ई०)**—नैपोलियन के युद्धों (१७९३-१८१५ तक) की समाप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ आधार पर संगठित करने के लिये इङ्गलैंड ने स्वर्णमान अपनाया था। नैपोलियन ने यह अनुभव किया कि उसका आंग्ल प्रतिरोध नौ-सैनिक शक्ति पर आधारित है तथा ग्रेट ब्रिटेन अपनी नौ-सेना का पोषण व्यापारिक लाभ से करता है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि आंग्ल व्यापार नष्ट कर दिया जाय तो ग्रेट-ब्रिटेन को अपनी नौ-सेना में कमी करनी पड़ेगी। उसका विचार था यदि आंग्ल निर्यात छिन्न-भिन्न कर दिया जाय और आयात होता ही रहे तो व्यापार-सन्तुलन ग्रेट ब्रिटेन के विपरीत होगा एवं उसकी स्थिति ऐसी आर्थिक संकटापन्न हो जायगी कि वह प्रसन्नतापूर्वक शांति के हेतु सन्धि करेगा। किन्तु नैपोलियन अपने प्रयत्न में असफल रहा और इङ्गलैंड की विजय का कारण स्वतन्त्र-व्यापार और स्वर्णमान ही सिद्ध हुए।

(५) **सन् १७७६ के अमरीकी-स्वतन्त्रता-युद्ध ने आर्थिक** प्रतिबन्धों की निरर्थकता सिद्ध कर दी थी। न अमरीकी व्यापार पर कर लगाए जाते और न अमरीका स्वतन्त्रता का युद्ध करता। इस महान उपनिवेश के हाथ से चले जाने पर आर्थिक-व्यापार में स्वतन्त्रता को बढ़ावा मिला। इङ्गलैंड यह चाहता था कि किसी भी उपनिवेश के आर्थिक जीवन को स्पर्श न किया जाय। उसके लिए स्वतन्त्र व्यापार ही उपयुक्त उपाय था।

(६) **पुर्तगाली व्यापार की समाप्ति होने** पर भी इङ्गलैंड को यह नीति अपनानी पड़ी।

(७) **स्वर्णमान अपनाना**—नैपोलियन की पराजय के पश्चात् इङ्गलैंड ने स्वर्णमान की नीति अपनाई जिसका मुख्य आधार आयात और निर्यात पर से सभी प्रतिबन्धों की समाप्ति था। अतः यदि स्वर्णमान को चालू रखना था तो व्यापारिक प्रतिबन्धों और रुकावटों का दूर करना आवश्यक था।

(८) **विदेशी-व्यापार**—औद्योगिक क्रांति के कारण उत्पादन में अप्रत्याशित रूप में वृद्धि हुई थी तथा उस उत्पादन को खपाने के लिये देशी और विदेशी-व्यापार की वृद्धि आवश्यक थी। इङ्गलैंड को औद्योगिक उत्पादन के लिये जिस कच्चे माल की आवश्यकता थी वह तभी प्राप्त हो सकता था जबकि वह उदार नीति अपनाई। अतः स्वतन्त्र-व्यापार नीति का अपनाया जाना आवश्यक था।

स्वतन्त्र-व्यापार नीति के आर्थिक कालों का वर्णन निम्न प्रकार है :—

(१) **सन् १७९३-१८१५ तक का काल**—सन् १७९३ से १८१५ के मध्य का काल ग्रेट-ब्रिटेन से फ्रांस का युद्ध काल था। परन्तु इस समय भी आन्तरिक रूप से

कई परिवर्तन हो रहे थे। **विलियम पिट दी यंगर (William Pitt the Younger)** ही प्रथम व्यक्ति था जिसने सबसे पहले संरक्षण पर आपत्ति की और स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन किया। पिट स्वतन्त्र व्यापार-नीति को पूर्ण रूप से आगे नहीं बढ़ा सका क्योंकि उद्योगपतियों ने उसका साथ नहीं दिया। विलियम पिट ने केवल सरकारी आय-प्राप्ति के लिये आयात और निर्यात कर लगाया था आन्तरिक उद्योगों के संरक्षण के लिए नहीं। उसने तस्कर व्यापार को रोकने के लिए उत्पादन-कर और निराक्राम्य कर को आपस में मिलाने का प्रयत्न किया और इन दोनों करों को जमा करने का दायित्व उत्पादन-कर अधिकारियों का रखा। सन् १७८७ में टैरिफ शिड्यूल परिवर्तन किया गया। रक्षण आयात-कर हट जाने से सरकारी आमदनी को बहुत आघात पहुँचा। पिट ने उसे पूरा करने के लिए अन्य रूप से प्रयत्न किया परन्तु वह इसमें असफल रहा क्योंकि सन् १७८९ और उसके पश्चात् इङ्गलैंड फ्रांस से युद्धरत था अतः युद्ध काल में नवीन करों का भार व्यापार पर डाला गया।

(२) **सन् १८१६ से १८३० का काल**—यह काल स्वतन्त्र व्यापार के क्षेत्र में आर्थिक असन्तुलन और मंदी का काल था। युद्ध जनित विभीषिकाओं ने आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया था। कर ने व्यापार की कमर तोड़ दी थी क्योंकि युद्ध का ऋण चुकाना आवश्यक था :—

	ऋण १८१६ (पौंडों में)	
	ब्रिटिश	आयरिश
फन्डेड	७७२,७६४,९३७	२३,४३५,२५४
अनफन्डेड	४४,४५३,३००	५,३०४,९९२
एन्यूटी और ब्याज	३०,७३१,५५५	१,३२३,७९५
	८४७,७५९,७९२	३०,०६४,०४१

(पब्लिक इनकम एण्ड एक्सपेन्डीचर, १८६९ xxxv p. ३०६)

सन् १८१६ में कुल ऋण ८४०,७५९,७९२ पौंड का था और चूंकि आयरिश भाग अपने ऋण को चुकाने में समर्थ था अतः १८१७ में उसके कोष और भाग को भी सम्मिलित किया गया। यह समय आर्थिक मंदी का भी था अतः बेकारी और मजदूरी में कमी इसके स्पष्ट परिणाम थे :—

अवधि	मजदूरी
१७९७–१८०४	२६ शि० ८ पैन्स
१८०४–१८१८	१४ ,, ७ ,,
१८१८–१८२५	८ ,, ९ ,,
१८२५–१८३२	६ ,, ४ ,,
१८३२–१८५४	५ ,, ५ ,,

(सिलेक्ट कमेटी ओन हेन्डलूम वीविंग)

(३) **सन् १८३० से १८५० तक का सुधारों का काल**—इस अवधि में व्यापार नीति को चलाने के लिए **हसकिसन और रोबर्ट पील** ने (टेरिफ) अर्थ-नीति में बहुत

सुधार किया। टैरिफ शिड्यूल में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। कई देशों से स्वतन्त्र व्यापारिक-सन्धियाँ की गईं जिसके कारण स्वतन्त्र व्यापार को अधिकाधिक महत्व मिलने लगा। जिन देशों से व्यापारिक सन्धियाँ की गईं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—फ्रांस, रूस, प्रशा, स्वीडेन। रोबर्ट पील के प्रधानमंत्रित्व काल में इस प्रकार के सुधार किए गए जिनमें कई वस्तुओं पर से आयात और निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा लिए गए। लोर्ड हसकिंस द्वारा स्वतन्त्र व्यापार नीति के पक्ष में निम्न कार्यवाही की गई :—(१) अन्न कानून से आम जनता और मजदूरों को अधिक कठिनाई होने के कारण उसको कम से कम प्रयोग किया गया। (२) नौ-वहन-विधान (Navigation Acts) में सुधार किया गया। सन् १८२५ के संशोधित-नौ-वहन-विधान के अन्तर्गत यूरोप के व्यापार-क्षेत्र में केवल कुछ ही वस्तुओं पर ही प्रतिबन्ध रहा। (३) साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) की नीति को भी हसकिंस ने आगे बढ़ाया। सन् १८२५ के बाद विदेशों के लिए उपनिवेशों के बन्दरगाहों को खोल दिया गया। (४) वस्त्र-उद्योग और धातु-शोधन उद्योग के बहुत से कच्चे मालों पर से आयात कर हटा दिया गया। रोबर्ट पील ने भी स्वतन्त्र-व्यापार नीति के अन्तर्गत निम्न-लिखित कार्य किये :—

(अ) सन् १८४६ में अन्न-कानून (Corn Law) को रद्द कर दिया। अन्न-कानून के विरुद्ध एक **अन्न-कानून-निषेधक-लीग** (Anti-Corn-Law-League) स्थापित हो चुकी थी। इस लीग की स्थापना **जोन-ब्राइट और रिचर्ड काब्डन** के प्रयत्नों से की गई थी। अन्न कानून हट जाने से खाद्य-पदार्थों के सस्ता होने की आशा की गयी थी।

(आ) सन् १८४६ के बाद नौ-वहन-विधान लगभग समाप्त से कर दिए गए।

(इ) सन् १८४३-४५ में कुछ वस्तुओं पर से और भी आयात-कर हटा लिए गए। उदाहरणार्थ ऊन और कपास की वस्तुएँ। सन् १८४३ में यन्त्रों का निर्यात स्वतन्त्र हो गया।

(ई) निराक्राम्य-कर के साथ-साथ बहुत उत्पादन-कर भी हटा दिए गये, जैसे छपी कैलिको; बत्ती, स्लेट, खपरैल, स्टार्च, पत्थर, मिट्टी-बर्तन इत्यादि। सन् १८४५ ई० में शीशे से भी उत्पादन-कर हटा लिया गया।

(४) **सन् १८५०-१८७३ तक का काल**—इस काल के अन्तर्गत भी सुधार किए गए। जिस बात को रोबर्ट पील सम्भवतः नहीं कर सका उसे **लार्ड जोन रसल ने** अपने सुधारात्मक उपायों द्वारा सम्भव कर दिया :—

(क) उसने सर्वप्रथम जहाजरानी अधिनियम सम्बन्धी सभी प्रतिबन्धों को समाप्त किया।

(ख) उसके मंत्रित्व काल में **ग्लैडस्टन** नामक अर्थ-मंत्री ने वस्तुओं पर से कर हटाने की माँग प्रस्तुत की। सर्वप्रथम १२३ वस्तुओं से, तत्पश्चात् १३३ वस्तुओं से और अन्तिम रूप में ३६० वस्तुओं से कर हटा लिए गए जिससे सभी वस्तुएँ स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र के अन्तर्गत आयात-निर्यात की जा सकीं।

(ग) सन् १८५६ में नैपोलियन तृतीय से फ्रांस में रिचर्ड ने काब्डन संधि की जिससे स्वतन्त्र-व्यापार को अधिक प्रोत्साहन मिला। रिचर्ड कॉब्डन, 'एन्टी-कॉर्न-लॉ-लीग' का प्रधान नेता था जिसने "अन्न अधिनियमों" को समाप्त कराने में महत्वपूर्ण कार्य किया। सरकारी आय की कमी को पूरा करने के लिए रोबर्ट पील ने नए सिरे

से आय कर लगाया था। ग्लेडस्ट ने इस कमी को पूरा करने के लिए परोक्ष कर भी लगा दिया। किन्तु कच्चे माल और खाद्य पदार्थों पर परोक्ष-कर नहीं लगाया गया। ग्लेडस्टन के समय में मूल्यानुसार कर के स्थान पर परिमाणानुसार कर लगाया गया। स्वतन्त्र-व्यापार नीति की पूर्ण सफलता का श्रेय ग्लेडस्टन को दिया जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी का तृतीय चरण जिस प्रकार आंग्ल कृषि के लिये स्वर्ण-काल माना जाता है, आंग्ल उद्योग और व्यापार के लिये भी वह स्वर्ण-काल था। कैलीफोर्निया एवं आस्ट्रेलिया में स्वर्ण की खोज से मूल्यों में सामान्य-स्तर में वृद्धि हुई जिससे व्यापार एवं व्यवसाय को प्रोत्साहन मिला। इस काल में जलीय और स्थलीय यांत्रिक परिवहन के विकास के कारण विनिमय में सुविधाएं उत्पन्न हो गईं। उद्योग के कुछ क्षेत्रों में इङ्गलैंड न केवल सर्वप्रमुख था अपितु उसने उत्पादन पर एकाधिकार कर लिया था। वह सन् १८५४ से १८५६ तक क्रीमियन युद्ध में लगा रहा किन्तु इसके अतिरिक्त उसका लघु उद्योगों से भी सम्बन्ध था, जबकि यूरोप के राष्ट्रों में से कुछ का ध्यान प्रधानतः युद्ध की ओर था। बिस्मार्क के युद्ध सन् १८६४ से १८७१ के मध्य हुए जिनका उद्देश्य जर्मन साम्राज्य की स्थापना करना था। नैपोलियन तृतीय के शासन-काल में फ्रांस बहुत से सैन्य-अभियानों में लीन था तथा इटली उस संघर्ष में रत था, जिसका अन्तिम परिणाम उसका पूर्णतः एकीकरण हुआ। मुक्ति-दाता जार एलेक्जेन्डर द्वितीय के शासन में रूस ने अपने भूसक्त दासों को मुक्ति प्रदान की। इस प्रक्रिया से उसकी कृषि-पद्धति में पुनर्सङ्गठन अनिवार्य हो गया। अब्राहम लिंकन के नेतृत्व में संयुक्त-राज्य ने अपने दासों की मुक्ति का संकल्प किया। यह एक ऐसा आन्दोलन था जो गृह-युद्ध के पश्चात् ही पूर्ण हो सका जिसमें यह निर्णय करना था कि संघ परस्पर संगठित रहेगा अथवा नहीं।

अपने व्यापार एवं व्यवसाय की अभिवृद्धि करने तथा विश्व के प्रत्येक भाग से व्यापारिक सम्पर्क स्थापित करने के हेतु इंगलैण्ड उन परिस्थितियों का लाभ उठाने की स्थिति में था जिसने उनके प्रतिद्वन्द्वियो का ध्यानान्तरण कर दिया था। इस काल में इंगलैंड की उन्नति पूर्व निश्चित और स्थापित दृष्टिकोण का समर्थन करती प्रतीत होती थी कि निरन्तर समृद्धि का रहस्य स्वतन्त्र-व्यापार नीति के सिद्धान्तों पर व्यवहार में निहित था।

सन् १८५० से १८७३ के तेईस वर्षों में इंगलैंड विश्व की धमन-भट्टी, परि-वहन यन्त्र, जहाज-निर्माता; बैंकर, शिल्पशाला, निकास-गृह और संग्रह केन्द्र बन गया। इस समय इंगलैण्ड के विदेशी-व्यापार की स्थिति इस प्रकार थी :—

वार्षिक औसत	आयात (लाख पौंड)	पुनः निर्यात लाख पौण्ड	निर्यात इंगलैण्ड के माल का (लाख पौंड)
१८५५—१८५९	१६६०	२३०	११६०
१८६०—१८६४	२३५०	४२०	१३३०
१८६५—१८६९	२८६०	४६०	१८१०
१८७०—१८७४	३४६०	५५०	२३५०

(फिसल ब्ल्यू-बुक १९०९, पृ० १८)

लौह-इस्पात, वस्त्र और कोयले के निर्यात में जो वृद्धि हुई उसका चित्र निम्नांकित है :—

	निर्यात लौह-इस्पात (लाख पौंड में)	मशीनरी + मिलवर्क (लाख पौंड में)
१८३०	१०७६	२०६
१८४०	२५२५	५६३
१८५०	५३५०	१०४२
१८६०	१२,१३८	३८३८
१८७०	२३,५३८	५२६३

(कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री, वोल्यूम २, पृ० १३७)

वस्त्रों का निर्यात

	सूती सामान और सूत (लाख पौंड में)	ऊनी सामान और सूत (लाख पौंड में)	रेशम (लाख पौंड में)	एपेरल (लाख पौंड में)
१८३०	१६,४२६	४,८५१	५२१	६८३
१८४०	२४,६६६	५,७८१	७६३	१२६०
१८५०	२८,२५७	१०,०४०	१२५६	२५३५
१८६०	५२,०१२	१६,०००	२४१३	२४७४
१८७०	७१,४१६	२६,६५८	२६०५	३८८१

(कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री, वोल्यूम २, पृ० १३३)

कोयला

निर्यात (लाख पौंड में)		उत्पादन (लाख पौंड में)	
१८३०	१८४	—	—
१८४०	५७७	—	—
१८५०	१२८४	१८५४	६४६६६
१८६०	३३१६	१८६०	८००४३
१८७०	५६३८	१८७०	११०४३१

(५) **सन् १८७३ से १८८६ तक आर्थिक मन्दी का काल**—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में समृद्धि के पश्चात् आर्थिक मन्दी आई थी। इस प्रकार का परि-

वर्तन आकस्मिक हुआ एवं मन्दी व्यापक हो गई। सन् १८७३ से १८८६ के बीच निकृष्टतम प्रभावो का अनुभव हुआ। सन् १८८६ के पश्चात् कुछ सुधारों के प्रयत्न किये गये लेकिन शताब्दी के अन्त तक कुछ ऐसा नहीं हुआ जिससे प्रतीत हो कि आर्थिक मन्दी समाप्त हो गई। इस आम आर्थिक मन्दी का प्रभाव मूल्यों पर सबसे अधिक पड़ा। करैन्सी में भी परिवर्तन आया।

कृषि, ज्हाजरानी, उद्योग, व्यापार और लौह-इस्पात निर्माण के क्षेत्रों में जो आर्थिक मन्दी परिलक्षित हुई उसके निम्न कारण हैं :—

(१) आर्थिक मन्दी के कारणों का अध्ययन करने के लिये जो आयोग १८८६ में नियुक्त किया गया था उसके अनुसार विदेशी प्रतिस्पर्द्धा ही आर्थिक मन्दी का कारण थी।

(२) गृह-युद्ध के बाद अमरीका में रेलों का निर्माण वृहत् पैमाने पर होने लगा। यूरोप के प्रायः सभी देशों में शान्ति थी और वे औद्योगिक-विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दे रहे थे। जर्मनी में भी उद्योग एवं व्यापार की उन्नति के लिये राज्य की ओर से सहायता दी जा रही थी। अतः ब्रिटिश माल की प्रतिस्पर्द्धा में अमरीका, आस्ट्रेलिया और अर्जेण्टाइना की बनी वस्तुएँ अधिक बिकने लगीं।

(३) ब्रिटेन में औद्योगिक उत्पादन बहुत तीव्र गति से नहीं बढ़ पा रहा था। वहाँ औद्योगिक-क्रांति सबसे पहले होने के कारण लोग कुछ सुस्त होने लग गये थे और वे नये युग की प्रतिस्पर्द्धा में थके से प्रतीत होते थे। सन् १८६७-६८ में राजकीय आयोग ने अपने प्रतिवेदन में बताया था कि ब्रिटेन के श्रमिक प्रावधिक शिक्षा की कमी के कारण पिछड़े हुए थे। यही कारण था कि १८७३ और १८८३ ई० के मध्य जब जर्मनी में कोयला का उत्पादन ५३% और अमरीका में ४१% प्रतिशत बढ़ा वहाँ ब्रिटेन में यह वृद्धि केवल २९% प्रतिशत की ही हुई।

(४) कर-वृद्धि के कारण उद्योगों पर व्यय का अधिक भार हो गया था। श्रमिक संघ-आन्दोलन तीव्र होता जा रहा था उसके फलस्वरूप आर्थिक-स्थिति सुधारने के लिये विभिन्न प्रकार के अधिनियम स्वीकृत किये जा रहे थे।

(५) ब्रिटेन अपनी स्वतन्त्र-व्यापार-नीति के फलस्वरूप वैदेशिक प्रतिस्पर्द्धा का सामना नहीं कर पा रहा था। अतः हस्तक्षेप न करने का सिद्धान्त भी अवनति का प्रमुख कारण रहा।

(६) नये-नये जहाजों के बनने तथा सन् १८८० ई० के बाद कई अन्य देशों में भी जहाज बनाने के कारखानों के खुल जाने के कारण ब्रिटेन के जहाज उद्योग को बड़ा आघात पहुँचा।

(७) कृषि के क्षेत्र में भी निकृष्ट मौसम, ऊँचा लगान, पूँजी की कमी और जमींदारों और किसानों में बिगड़े हुए सम्बन्धों के कारण उत्पादन बहुत कम हो गया था। सन् १८७३, १८७५, १८७६ और १८७९ के वर्षों में फसलें बहुत ही खराब हुई थीं। गेहूँ की कुल पूर्ति का ७० प्रतिशत विदेशों से मँगाना पड़ता था।

(८) अमरीका में माँस-उद्योग का विकास बहुत हुआ और वहाँ का माँस ब्रिटेन के माँस से सस्ता बिकने लगा। अतः ब्रिटेन के माँस उद्योग में भी मंदी आ गई।

(९) कैलिफोर्निया और आस्ट्रेलिया के सोने की खानों से सोने का निकालना पहले से बहुत कम हो गया था जबकि दूसरी ओर जनसंख्या और उत्पादन बढ़ने से

सोने की माँग बढ़ती जा रही थी। अतः आवश्यकता के अनुसार सोने के सिक्के नहीं बनाये जा सकते थे फलतः वस्तुओं के मूल्यों में गिरावट आ गई। चूँकि इङ्गलैंड औद्योगिक क्रांति की चरम सीमा पर था, अतः इस मंदी का असर उस पर बहुत अधिक और व्यापक रूप से हुआ।

(६) **सन् १८८६ से १९१४ तक तथा युद्धोपरांत काल**—यह काल आर्थिक मंदी के फलस्वरूप स्वतन्त्र-व्यापार-नीति के प्रति प्रतिक्रिया और परित्याग का काल था। स्वतन्त्र व्यापार नीति के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने के निम्न कारण थे :—

(अ) **औद्योगिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा**—जर्मनी और संयुक्त-राज्य अमरीका में अधिक औद्योगिक प्रगति होने के कारण इस दिशा में इङ्गलैंड का स्थान गिरने लगा। गिरती हुई स्थिति को ठीक करने के लिये स्वतन्त्र-व्यापार के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई।

(ब) आस्ट्रेलिया, इटली, फ्रांस, द्वारा इङ्गलैंड के साथ हुई व्यापारिक संधि का भंग किया जाना।

(स) आर्थिक मन्दी का आविर्भाव जिससे कृषि, उद्योग, व्यापार आदि प्रभावित हुए।

इस भयानक प्रतिक्रिया और प्रभावों को रोकने के लिये निम्न चरण उठाये गये :—

(१) **औपनिवेशिक सम्मेलनों का आन्दोलन**—सन् १८८६ के बाद इङ्गलैंड ने साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) नीति को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। सर्वप्रथम सम्मेलन सन् १८८७ में आयोजित किया गया जिस वर्ष महारानी विक्टोरिया के शासन की स्वर्ण-ज्योति (Golden Jubilee) मनाई जा रही थी। तत्पश्चात् सन् १८८७, १८६४, १८६७, १६०७, १६११, १६१७ और १६२० में क्रमशः औपनिवेशिक सम्मेलन आयोजित किये गये। सन् १६०७ ई० के औपनिवेशिक सम्मेलन में उपनिवेशों सेक्रेटियों और प्रधान-मंत्रियों के अतिरिक्त इङ्गलैंड के प्रधानमंत्री और लोकसभा के कुछ सदस्यों ने भाग लिया था। उसी समय औपनिवेशिक अधिमान का नाम बदलकर स्थायी रूप से उसका नाम **साम्राज्य-अधिमान** रखा गया। इस सम्मेलन में यह भी निश्चित किया गया कि प्रत्येक सदस्य देश को एक दूसरे सदस्य-देश के यहाँ के निर्मित माल को प्राथमिकता देना चाहिये। इन सम्मेलनों का यह प्रभाव हुआ कि इङ्गलैंड और उपनिवेशों के बीच आर्थिक सम्पर्क स्थापित हो गया।

(२) उपनिवेशों का विकास करने के लिये कई कम्पनियों का निर्माण किया गया। उदाहरण के लिये १८८१ ई० में **ब्रिटिश नोर्थ-बोर्नियो** कं०, १८८६ ई० में **रॉयल नाइजर कं०**, १८८८ ई० में **ब्रिटिश ईस्ट-अफ्रीका कं०** तथा १८८६ में **ब्रिटिश-साउथ-अफ्रीका कं०** की स्थापना की गई।

(३) जोसेफ चेम्बरलेन ने रचनात्मक साम्राज्यवादी (Constructive Imperialism) नीति द्वारा औपनिवेशिक व्यापार की उन्नति करने का प्रयास किया। सन् १८६६ में औपनिवेशिक ऋण-विधान स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार इङ्गलैंड के कोष को कुछ उपनिवेशों को ऋण देने का अधिकार प्राप्त हुआ। ऋण को ५० वर्षों में लौटाने की व्यवस्था की गई थी। उसी विधान के अन्तर्गत उपनिवेशों को लन्दन के खुले बाजार में भी ऋण प्राप्त करने की आज्ञा दे दी गई। उपनिवेशों में रेलों, सड़कों तथा बन्दरगाहों के विकास के प्रयास किये गये। विभिन्न प्रकार की बीमारियों

को रोकने के लिये, (जो उपनिवेशों में फैल रही थीं) लन्दन और लीवरपूल में चिकित्सालय खोले गये। गोल्ड कोस्ट में नारियल और अन्य प्रकार के खाद्य पदार्थों का उत्पादन होने लगा।

(४) जोसेफ चेम्बरलेन के सद्प्रयत्नों से संयुक्त राज्य की औद्योगिक उन्नति के लिए एक **टेरिफ लीग** की स्थापना की गई। पर यह संस्था बाद में असफल सिद्ध हुई।

(५) उपनिवेशों में व्यापार सम्बन्धी सूचनायें फैलाने के लिये बोर्ड ऑफ ट्रेड के प्रयत्नों से एक विशेष समिति की नियुक्ति की गई जिसकी सिफारिशों के आधार पर बोर्ड ऑफ ट्रेड की **व्यापार सूचना विभाग** नामक एक विशेष शाखा खोली गई। सन् १६०८ ई० में कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और दक्षिणी-अफ्रीका में इंग्लैंड के व्यापार आयुक्त नियुक्त किए गए। प्रथम महायुद्ध काल में वैस्ट इण्डीज, भारतवर्ष इत्यादि में भी व्यापार दूत नियुक्त किए गये।

(६) सन् १६१८ ई० में ब्रिटिश राज्य में खनिज पदार्थ सम्बन्धी सूचना देने के लिए **खनिज पदार्थ ब्यूरो** की स्थापना की गई। कृषि-कीड़ों को नष्ट करने के लिए एक विशेष संस्था की स्थापना की गई। वैस्ट-इन्डीज में सर्वप्रथम उष्ण प्रदेशीय कृषि विभाग स्थापित किया गया था।

(७) व्यापारिक शिक्षा के विकास के लिए व्यापार परिषद के अतिरिक्त व्यावसायिक समाचार विभाग की स्थापना हुई।

(८) कृषि विकास के लिए भी सरकार ने अनेक प्रयत्न किए। सन् १८७५ ई० में **कृषि जोत अधिनियम** (Agricultural Holding Act) स्वीकृति किया गया। सन् १८८६ ई० में कृषि मंत्रालय की स्थापना की गई। डेरी फार्मिङ्ग का भी विकास किया गया।

(६) प्राविधिक शिक्षा के विाकस के लिए प्रयत्न किया गया और सन् १८७० ई० से राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति अपनाई गई।

(१०) नगर-पालिकाओं के कार्यक्रम में सुधार किया तथा पानी और रोशनी की व्यवस्था करने और यातायात का आंशिक दायित्व इन स्थानीय संस्थाओं को सौंपा गया।

(११) श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में सुधार के प्रयत्न किए गए। उनके काम के घंटे, कारखानों की दशा आदि में सुधार के लिए अधिनियम स्वीकृत हुए। श्रमिक संस्थाओं के अधिकारों में भी वृद्धि हुई।

(१२) स्वतन्त्र व्यापार नीति के स्थान पर हस्तक्षेप की नीति ने सन् १६१५ ई० में चल-चित्रों, घड़ी, ताला, मोटर, गाड़ी तथा वाद्य-यंत्रों पर मकेना (Mckenna) कर लगाया। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद तो लगभग ६००० वस्तुओं पर यह कर लगा दिया गया। उसके पहले सन् १८८७ ई० में **मरकैन्डाइज-मार्क एक्ट** (Merchandise Mark Act) स्वीकृत हुआ। उसके अनुसार व्यापार की रक्षा की गई और ट्रेड-मार्क के अनुकरण करने की प्रणाली अवैधानिक घोषित कर दी गई।

(१३) यातायात के क्षेत्र में भी राज्य की हस्तक्षेप नीति परिलक्षित हुई। आर्थिक मंदी ने रेल-भाड़े के प्रश्न को उठाया और १८८८ से १८६४ ई० के मध्य

रेलों में एकीकरण की प्रवृत्ति ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि सरकार को रेल का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लेना चाहिए।

सन् १९१९ में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर इंग्लैंड ने अपनी प्राचीन व्यापार व्यवस्था को प्राप्त करने के प्रयत्न आरम्भ किये। स्वर्णमान को किसी भी प्रकार जीवित रखने के प्रयत्न हुए। सन् १९२३ और १९२५ में इस प्रकार के सुधार किये जाकर स्वर्ण बुलियन-मान और स्वर्ण-विनिमय-मान अपनाये गये परन्तु सन् १९२९ की आर्थिक मंदी ने इंग्लेंड की अर्थ-व्यवस्था की कमर तोड़ दी तथा विवश होकर इंग्लैंड को सन् १९३१ में स्वर्णमान का सभी रूपों में परित्याग करना पड़ा और तभी से इंग्लैंड भी विश्व का प्रसिद्ध रक्षणवादी देश बन गया। संरक्षण नीति ने देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने में महत्वपूर्ण योग दिया। इस प्रकार की संरक्षणवादी नीति अपनाने के कई कारण थे—

(१) भारत, चीन, और पूर्वी देशों में निर्मित माल का उत्पादन तीव्रगति से बढ़ने लगा था इसलिए उन देशों में इंग्लेंड का निर्यात घट गया था।

(२) प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात् अन्य देशों में जहाजी उन्नति होने लगी थी, इसके फलस्वरूप इंग्लैंड के जहाजी व्यापार तथा उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा।

(३) कोयला उद्योग भी संकट का सामना कर रहा था क्योंकि उसके स्थान पर विद्युत और अन्य शक्तियों का प्रयोग होने लग गया था।

(४) भारत में इसी समय सूती-वस्त्रोद्योग ने महत्वपूर्ण प्रगति की। अत: इंग्लैंड का सूती माल बहुत कम आयात किया जाने लगा। भारत के बाजार में जापानी प्रतिस्पर्द्धा भी इंग्लैंड के लिए एक सर-दर्द थी।

(५) सन् १९२९-१९३३ के विश्व-व्यापी-आर्थिक-मंदी के कारण कच्चा माल तथा खाद्य पदार्थ उत्पादक देशों की क्रय-शक्ति बहुत घट गई थी। परिणामस्वरूप इंग्लैंड का निर्यात व्यापार अत्यधिक प्रभावित हुआ।

इस प्रकार इंग्लैंड को विवशतापूर्वक ही सही रक्षणवादी नीति अपनानी पड़ी। सन् १९३१ में, इंग्लैंड ने स्वर्ण-मान का परित्याग किया ताकि स्वर्ण का निर्यात बन्द हो। सन् १९३१ में नवीन सरकार ने बहुत-सी अनावश्यक वस्तुओं पर ५०—१०० प्रतिशत की दर से आयात-कर लगाया। सन् १९३१ की फरवरी में सरकार ने १० प्रतिशत की दर से सभी वस्तुओं पर आयात कर लगाया। १९३२ ई० में ओटावा में राष्ट्रमण्डलीय देशों का सम्मेलन हुआ और **ओटावा-समझौता (Ottawa Pact)** के अनुसार सभी अधिराज्यों के लिये आपसी रियायत करना अनिवार्य हो गया। उस समझौते के अनुसार भारतवर्ष, कनाडा, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में इंग्लैंड की वस्तुओं पर अधिक आयात-कर लगाया गया। १९३२ के आयात-कर-विधान के अन्तर्गत एक सलाहकार-समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने २० प्रतिशत की दर से अतिरिक्त आयात-कर लगाने की सिफारिश की। उस समिति ने कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं पर ३३⅓% की दर से आयात-कर लगाने की भी सिफारिश की।

इस प्रकार इन रक्षरणवादी उपायों से इङ्गलैंड के विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई और एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि अधिकतर विदेशी व्यापार ब्रिटिश-राष्ट्र-मंडल के सदस्य देशों के साथ होने लगा। किन्तु इस व्यापार से इङ्गलैंड को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हुई। अतः स्वतन्त्र-व्यापार नीति के समर्थकों ने औटावा-समझौते की आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९३७ के बाद से ब्रिटिश-राष्ट्र-मंडल के बाहर वाले देशों से भी व्यापार किया जाने लगा। सन् १९३८ में संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ इसी प्रकार का एक व्यापारिक समझौता किया गया।

स्वतन्त्र-व्यापार नीति (जिसने इङ्गलैण्ड के आर्थिक जीवन को लगभग डेढ़ शताब्दी तक प्रभावित किया) को सन् १९३१ में पूर्णरूपेण परित्याग करना पड़ा और इसके स्थान पर संरक्षणवादी नीति को अपनाना ही इङ्गलैंड ने श्रेयस्कर समझा। राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई भावना, औद्योगिक क्रान्ति का अन्य देशों में श्रीगणेश, स्वर्णमान को तिलांजलि, दो विश्व-युद्धों और आर्थिक मन्दियों का आविर्भाव ऐसे कारण रहे हैं जिससे इङ्गलैंड को अपनी व्यापारी नीति में उचित हस्तक्षेप की नीति अपनानी पड़ी। आज भी इङ्गलैंड इसी नीति पर चल रहा है।

अध्याय १५

श्रमिक संघ आन्दोलन

(Trade Union Movement)

वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था ने समाज में आर्थिक विषमताओं को जन्म दिया है उसी के परिणामस्वरूप श्रमिक-संघ आन्दोलन अस्तित्व में आया है। वस्तुतः श्रमिक-संघ आन्दोलन औद्योगिक-क्रांति की ही देन है। जब औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप श्रमिक ग्रामों से शहरों की ओर उन्मुख हुए उस समय उन्हें अपनी कार्य-दक्षता का विक्रय करना पड़ा। कृषि-क्रांति ने उन्हें जीविका-विहीन कर दिया था। उन्हें एक भिन्न प्रकार के नियोजकों का सामना करना था। श्रमिक की श्रम के नष्ट होने की कमजोरी ने नियोजकों की प्रतिद्वन्द्विता में असमानता उत्पन्न कर दी। अतः श्रमिकों ने यह अनुभव किया कि उनकी क्रय-शक्ति की न्यूनता के अभाव को संगठित होकर हल किया जा सकता है। अतः आवश्यकता ने ही श्रमिक-संघ आन्दोलन को जन्म दिया।

श्रमिक-संघ आन्दोलन का ऐतिहासिक अध्ययन

औद्योगिक-क्रांति से पूर्व श्रमिकों में इस प्रकार का श्रम-संघ आन्दोलन विद्यमान नहीं था। उस समय गृह-उद्योगों की स्थिति में शिल्पकार-संघ (Craft-guild) विद्यमान थे जिनमें स्वामी, श्रमिक और नव-सिखुआ संगठित थे। इन संघों का नियन्त्रण और नियमन स्वामियों के हाथ में था। स्वामी, श्रमिक और नव-सिखुओं के बीच के सम्बन्ध बहुत ही मधुर थे। नव-सिखुओं के लिये स्वामी बनने के अवसर उपलब्ध थे। उद्योगों की स्थिति भी इस प्रकार की नहीं थी कि श्रमिक स्वामी के विरुद्ध संघर्षरत हों।

सोलहवीं शताब्दी में शिल्पकार-संघों के पतन के बाद श्रमिकों और नियोजकों में विरोध उत्पन्न होने लगा। श्रमिकों के संगठन के रूप में टोप बनाने वाले दर्जियों, और जूता बनाने वालों के संगठन दृष्टिगोचर हुए। राज्य का दृष्टिकोण इस रूप में अधिक सहानुभूतिपूर्ण नहीं था। राज्य ने इस प्रकार के अधिनियम स्वीकृत किए जिसमें उनकी अधिकतम मजदूरी की व्यवस्था की गई थी और संगठन को अवैध घोषित किया गया था। सन् १५६३ के अधिनियमों के अन्तर्गत शान्ति के न्यायाधीशों (Justices of Peace) को अधिकार दिये गये कि यह अधिकतम मजदूरी अधिनियमों को लागू करे। सन् १७२० और १७२५ के अधिनियमों के अन्तर्गत दर्जियों, जुलाहों, बुनकरों इत्यादि के संघ अवैध घोषित किए गए। श्रमिकों की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में यह और भी दुखद घटना थी कि सन् १७०० के पश्चात् राजकीय नियमों के

अन्तर्गत विदेशी मशीनरी और श्रमिकों का आयात निषिद्ध कर दिया गया। यही कारण था कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री **आदम स्मिथ** को कहना पड़ा—"जब कभी श्रमिकों और स्वामियों के विभेद को दूर करने का प्रयत्न किया गया, कार्य के सलाहकार स्वामी ही होते थे।' क्योंकि एक नियमित और संगठित मजदूर वर्ग का अभाव था।

औद्योगिक-क्रांति ने एक नये श्रमिक वर्ग को जन्म दिया। क्रांति के फलस्वरूप श्रमिकों का आपसी सम्पर्क अधिक बढ़ा। गृह-उत्पादन विधि के अन्तर्गत श्रमिकों को आपस में मिलने का अवसर नहीं मिलता था पर औद्योगिक क्रांति के समय बहुत से श्रमिकों को एक कारखाने में आपस में मिलने का अवसर प्राप्त होता था। श्रमिक-संघ-आन्दोलन को अपने प्रारम्भिक विकास के चरण में निम्न कठिनाइयों का अनुभव हुआ :—

(१) सन् १७९९ और १८०० ई० में **संयोग-प्रतिबन्धक अधिनियम (Combination Laws)** स्वीकृत हुए, जिनके अन्तर्गत उन संस्थाओं को अवैधानिक घोषित किया गया जो साधारण व्यापार के सुचारु रूप से चलाने में बाधक थीं। इसके अतिरिक्त इंगलैंड का **कामन लॉ** भी श्रमिक-आन्दोलन के विरुद्ध था।

(२) श्रमिक निर्धन होने के कारण श्रमिक-संघ कोष में साल में एक दिन का पारिश्रमिक भी चन्दे के रूप में नहीं दे सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रमिक-संघ-कोष में बहुत कम रकम रहती थी जिससे संगठित रूप में कोई कार्य नहीं किया जा सकता था।

(३) आवागमन के साधनों के पर्याप्त विकास के अभाव में श्रमिक आपस में मिल नहीं पाते थे।

(४) जाति, धर्म और भाषा सम्बन्धी विभिन्नताओं ने भी प्रारम्भिक काल में श्रमिकों के संगठित होने में रुकावट उत्पन्न की।

(५) राज्य और मिल-मालिकों की निरंकुश और दमनपूर्ण नीति ने श्रमिक-संघ-आन्दोलन को जाग्रत और सशक्त होने में रुकावटें उत्पन्न कीं। श्रमिक नेताओं को आजन्म कारावास की सजाएँ योग्य कार्य-कर्त्ताओं का अभाव उत्पन्न करता था। सन् १७९३ ई० में **म्योर** और **पामा** तथा बाद के वर्षों में **हार्डी, हार्नटक** और **जॉन थुलवेल** नामक श्रमिक-नेताओं को आजन्म कारावास की सजाएँ देना श्रमिक-संघ आन्दोलन के पैरों पर कुठाराघात था।

(६) सन् १८१९ ई० में ६ अधिनियम स्वीकृत हुए, जिनका श्रमिकों की सभा और प्रकाशन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

(७) श्रमिकों में सच्चे नेताओं का अभाव था।

इतना सब कुछ होने पर जो श्रमिक-आन्दोलन औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न हो गया था, वह धीरे-धीरे अपनी जड़ें मजबूत करता गया। श्रमिक-आन्दोलन के इतिहास में उतार-चढ़ाव का क्रम रहा है। **श्रमिक आन्दोलन को निम्नलिखित कारणों में और घटनाओं में प्रोत्साहन मिला :—**

(१) प्रारम्भिक काल में श्रमिकों की काम करने की दशाएँ अत्यन्त शोचनीय थीं। बालकों और महिला श्रमिकों का बहुत ही बुरा हाल था। कारखानों का अस्वास्थ्यपूर्ण वातावरण भी इस बात के लिये उत्तरदायी था।

(२) जिस समय इंगलैंड ने औद्योगिक-क्रांति का सृजन किया, फ्रांस ने सन् १७८९ में राज्य-क्रांति का सूत्रपात किया। राजतन्त्र के स्थान पर प्रजातन्त्र स्थापित हुआ और क्रांति के आकर्षक नारे—समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व—श्रमिकों में संगठित होने की चेतना भरने लगे।

(३) फ्रांसीसी क्रांति ने इंगलैंड की सरकार की दमन नीति को प्रोत्साहन दिया। सरकार ने सन् १७९७, १८०० में दमनकारी अधिनियम स्वीकृत किये जिसमें श्रमिकों के सभी प्रकार के सगठन अवैध घोषित किये गये। सरकार ज्यों-ज्यों दमन-नीति का सहारा लेती गई त्यों-त्यों श्रमिक आन्दोलन अधिक सुदृढ़ होता गया।

(४) उद्योगपतियों का संगठन सुदृढ़ था जिसका अप्रत्यक्ष फल यह हुआ कि श्रमिकों को भी अपना संगटन अधिक दृढ़ बनाना पड़ा।

(५) श्रमिकों की बढ़ती हुई संख्या ने यह भावना उत्पन्न करने में सहायता दी कि वे यदि संगठित हुए तो देश की राजनीति में हस्तक्षेप कर सकते हैं तथा अपने हित में श्रम-अधिनियमों का निर्माण कर सकते हैं।

औद्योगिक-क्रांति ने जहाँ एक ओर पूँजी के केन्द्रीयकरण और उद्योगों के स्थानीयकरण में योग दिया वहाँ दूसरी ओर उसने श्रमिक-वर्ग में संगठित होने की भावनाओं को भी प्रोत्साहन दिया। वैसे तो मध्यकालीन उद्योगों की स्थिति में भी श्रमिक-वर्ग किसी न किसी रूप में सगठित था और इस प्रकार के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रमिकों की एक शाखा जिसे Journey Men नाम से पुकारा जाता है, औद्योगिक-क्रांति से पूर्व भी मजदूरी की वृद्धि के लिये और अन्य व्यावसायिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिये संगठित हुआ करते थे। सन् १६९९ की Journey Men Felt Makers of London की Charterd Company के विरुद्ध हड़ताल, सन् १७२१ में Journey Men Tailors of London की मास्टर क्राफ्टमेन के विरुद्ध हड़ताल तथा Wool Combers Union की मिल-मालिकों के विरुद्ध हड़ताल इस बात की प्रतीक है कि श्रम संस्थाएँ आंशिक रूप में ही सही अधिकारों के प्रति जागरूक अवश्य थीं। इसके अतिरिक्त १७७० के मध्य में देश के विभिन्न उद्योगों में देशव्यापी श्रमिक हड़तालें भी इस बात का प्रमाण हैं।

फ्रांसीसी राज्य-क्रांति और अमरीकी स्वातन्त्र्य युद्ध इंग्लैंड के श्रमिकों के लिये संगठित होने के लिये महान् प्रेरणा स्रोत थे। कुछ श्रमिक संस्थाओं की भी स्थापना हुई थी। सन् १७९३ में फ्रांस के साथ इंग्लैंड का युद्ध आरम्भ हो गया। इस आपत्ति-काल में सरकार सतर्क हो गई कि कहीं फ्रांसीसी क्रांति के विचार यहाँ के श्रमिक-वर्ग में नवीन चेतना न भर दें। नेपोलियन के आक्रमणों से प्रभावित सरकार ने श्रमिक अधिनियमों और संगठन अधिनियमों को स्वीकार किया। सन् १७९४ में बन्दी-प्रत्यक्षीकरण अधिनियम (Habeas Corpus Act) स्थगित कर दिया गया तथा सन् १७९६ में गुप्त-मंत्रणा और सभाओं के अधिनियम के विरुद्ध अधिनियम स्वीकृत किया गया। सन् १७९७ और १८०० में संयोग-प्रतिबन्धक अधिनियम स्वीकृत किये गए जिनके अन्तर्गत श्रमिक संगठनों पर रोक लगा दी गई। इसी प्रकार के अधिनियम नियोजकों के लिये भी स्वीकृत किये गए।

यह ठीक है कि जिस समय इस प्रकार के अधिनियम स्वीकृत किए गए उस समय श्रमिक संगठन अवैधानिक करार दे दिए गए थे परन्तु मूल रूप में वे समाप्त

नहीं हुए थे। कुछ श्रमिकों ने मैत्री-संघों (Friends Societies) के रूप में अपने को संगठित किया जिसको सन् १७९३ में वैधानिक रूप प्राप्त हो चुका था। उसी समय एक गुप्त संस्था लुड्डाइट के नाम से चल पड़ी। यह आन्दोलन मुख्यतः मशीन विरोधी था। इसका सूत्रपात नोटिंघम, लिसैस्टरशायर और डर्बीशायर से हुआ था। वहाँ से यह आन्दोलन शीघ्र देश के अन्य भागों में फैल गया। सन् १८०२ से १८०९ तक विल्टशायर और इंग्लैंड के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में ऊनी-वस्त्रों के कारखानों में कारीगरों ने जिगमिल (Gig-Mill) नामक पत्र के उपयोग को रोकने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु उनका प्रयास असफल रहा। उत्तरी भाग और मिडलैण्ड्स में लुड्डाइट्स ने १८११ ई० फैक्टरियों को जलाकर मशीनों को तोड़-फोड़ दिया। उसी तरह लंकाशायर के बुनकरों ने १८१२ ई० के अप्रैल महीने में वैस्टहौटन नामक स्थान पर स्थित वाष्प चालित कारखाने को जला दिया। इस कार्य में चार लुड्डाइटों को फाँसी की सजा दी गई तथा १७ को ७ वर्ष को लिए जेल भेज दिया गया। यार्कशायर में लुड्डाइटों ने ऊन उद्योगों की मशीनों को तोड़ डाला। यहाँ १४ व्यक्तियों को फाँसी दी गई।

इंग्लैंड की सरकार ने बहुत कड़ाई से लुड्डाइट आन्दोलन को दबा दिया। अपनी दमन की नीति में सरकार ने गुप्तचर, पुलिस, घुड़सवार तथा सिपाहियों का उपयोग किया। सन् १८१२ में मशीन तोड़ने के अपराध के लिये फाँसी की सजा निश्चित की गई। इतना सब कुछ होने पर भी साधारण श्रमिक-वर्ग अचेतन तथा अशिक्षित ही था।

सन् १८१५ में नैपोलियन युद्धों से इंग्लैंड ने मुक्ति की साँस ली। उस समय श्रमिक आन्दोलन ने नई करवट ली क्योंकि नैपोलियन युद्धों के बाद आर्थिक मंदी के काल में श्रमिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। बेकारी की समस्या और मजदूरी की गिरावट ने मजदूरों को संगठन की नवीन प्रेरणा दी। श्रमिक संस्थाएँ जो अब तक वैधानिक थीं पुनः अस्तित्व में आने लगीं। फ्रांसिस प्लेस (Francis Place) (जो कि मास्टर-टेलर था चेरिंग क्रॉस का रहने वाला था) ने श्रमिक आन्दोलन के कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। श्रमिक संगठन की वैधता के प्रदान में उसे संसद सदस्य श्री जोसेफ ह्यूम की अत्यधिक सहायता मिली। पर्याप्त विरोधों और प्रदर्शन के बाद संसद ने श्री ह्यूम की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जो संयोगों या संगठनों के औचित्य का अध्ययन करें। श्री ह्यूम समिति के माध्यम से इस बात में सफल हुए कि संयोग-प्रतिबन्ध हटा दिये जाने चाहिए। ह्यूम-समिति की सिफारिश पर संसद ने सन् १८२४ में एक अधिनियम स्वीकार किया जिसके अन्तर्गत श्रमिकों का संगठित होना और हड़ताल करना वैध मान लिया गया। पर्याप्त संघर्ष के बाद श्रमिकों ने जब संगठन और हड़ताल का अधिकार प्राप्त किया तो उसी वर्ष देश में हड़तालों का ताँता लग गया, फलस्वरूप सरकार ने एक दूसरी समिति नियुक्त की जिसने श्रमिकों के इस अधिकार को नियन्त्रित (Restricted) रूप में मानने के लिए सिफारिश की। अतः सन् १८२५ में पुराना अधिनियम पुनः लागू किया और एक नवीन अधिनियम स्वीकृत किया जिसके अन्तर्गत नियंत्रित रूप में श्रमिकों को हड़ताल और संगठन का अधिकार दिया गया। इस अधिनियम की धाराएँ इस प्रकार की थीं कि एक सुदृढ़ श्रमिक-आन्दोलन पनप नहीं सकता था। इंग्लैंड के 'कॉमन लॉ' के अन्तर्गत इस प्रकार की धाराएँ थीं जो नियोजकों के पक्ष में थीं। अतः श्रमिकों को लगभग आधी शताब्दी तक इस बात का प्रयत्न करना पड़ा कि उनका आन्दोलन

वैध और सुदृढ़ हो सके। सन् १८२५ के अधिनियम के बाद श्रमिकों का जिस प्रकार शोषण किया गया उससे यह स्पष्ट होगया कि इस अधिनियम में परिवर्तन और संशोधन वांछनीय है। सन् १८३२ में लंकाशायर को खनिजों और १८३४ में मिट्टी के बर्तनों के कारीगर दमन के शिकार हुए। इस समय के दमन का एक ज्वलन्त उदाहरण ६ कृषक-श्रमिकों का है जिन्हें शपथ लेने के कारण सात साल के लिए निर्वासित कर दिया गया यह दंड उनको उस पुराने नियम के अन्तर्गत दिया गया जो फ्रांन्सीसी-युद्ध के समय प्रचलित रहा।

इन बाधाओं के होते हुए भी सन् १८२५ के बाद श्रमिक-आन्दोलन का प्रभाव बढ़ता गया। सन् १८२६ में इस बात का प्रयत्न किया गया कि राष्ट्रीय श्रमिक संगठन बनाए जाँय। इस काल में जिन श्रमिक संगठनों की स्थापना हुई उनमें **ग्रान्ड-जनरल-यूनियन ऑफ यू० के० 'दी नेशनल एसोशिएन फोर प्रोटेक्शन ऑफ लेबर तथा ग्रान्ड-नेशनल कन्सोलिडेटेड ट्रेड यूनियन** के नाम उल्लेखनीय हैं। यह अन्तिम श्रमिक-संस्था प्रसिद्ध समाजवादी विचारक और उद्योगपति **श्री रोबर्ट ओवन** (Robert Owen) द्वारा स्थापित की गई। यह समय श्रमिक आन्दोलन के लिये क्रान्तिकारी समय था। किन्तु ये श्रमिक संस्थाएँ व्यवस्था, संगठन, अनुभव और धनाभाव के कारण असफल हो गई। परिणाम यह हुआ कि श्रमिक पुनः राजनीतिक कार्यों की ओर उन्मुख हुए। सन् १८३७ में प्रचलित चार्टिस्ट आन्दोलन की ओर श्रमिकों का ध्यान आकर्षित हुआ। इस आन्दोलन का प्रारम्भ लन्दन से हुआ। बहुत सीमा तक यह राजनीतिक आन्दोलन था जो आर्थिक माँगों पर आधारित था। सन् १८३६ में लन्दन के श्रमिकों ने **श्रमिक संघ** (London Working Man's Association) की स्थापना की और चार्टिस्ट आन्दोलन का यहीं से श्रीगणेश हुआ। इस सस्था के मन्त्री श्री **विलियम लोवेट** (Lowett) थे जो १६ वीं शताब्दी के सबसे प्रसिद्ध श्रमिक नेता माने जाते थे। इस संस्था का उद्देश्य राजनीतिक समानता एवं सामाजिक न्यायपरता था और तत्कालीन उद्देश्य स्वशिक्षा, सस्ता-प्रेस और शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली था।

धीरे-धीरे चार्टिस्ट आन्दोलन इंगलैंड के उत्तरी भागों में भी फैला। सन् १८३६ में लन्दन श्रमिक-संघ की एक सभा बुलाई गई जिसमें एक अधिकार-पत्र तैयार किया गया था। इस पत्र में ६ मुख्य बातें थीं जिसे वे अधिनियम का स्वरूप देना चाहते थे। वे बातें इस प्रकार थीं :—

(१) समान चुनाव-क्षेत्र।

(२) संसद की सदस्यता के लिए सम्पत्ति अधिकार की समाप्ति।

(३) सर्वभौम वयस्क मताधिकार।

(४) वार्षिक पार्लियामेंट।

(५) पर्चे द्वारा मतदान।

(६) संसद के सदस्यों का वेतन।

उपर्युक्त माँगों को सभी श्रमिकों का समर्थन प्राप्त हुआ। किन्तु प्रारम्भ से ही चार्टिस्ट लोग कई दलों में विभाजित हो गये थे। विलिमय लोवेट के अतिरिक्त दो दल और हो गये। प्रमुख दल उत्तर वालों का था जिसमें अधिकतर जुलाहे और कारखानों में काम करने वाले श्रमिक थे। इस दल के प्रमुख नेताओं में **ओसलरा, स्टीफेन्स और अवकोलोर** के नाम उल्लेखनीय हैं। दूसरे दल में मध्यम वर्ग के लोग थे जो सिक्कों में सुधार लाना चाहते थे। इसका प्रधान नेता **अत्वुड** था। चार्टिस्ट

आन्दोलन को ट्रेड यूनियनों और ओवेनाइट दल से प्रोत्साहन नहीं मिला। आपसी मतभेद के कारण आवेदन-पत्र प्रस्तुत करने में देरी हो गई। इस देरी के कारण सरकार को सम्भलने का समय मिल गया। अन्त में १२ जुलाई १८३९ ई० को अन्तवुड ने संसद में राष्ट्रीय आवेदन-पत्र प्रस्तुत किया। २३५ मतों द्वारा वह आवेदन-पत्र अस्वीकार कर दिया गया फलतः १५ जुलाई को द्वितीय बुलरिंग का दंगा हुआ।

सन् १८३९-४२ तक का काल चार्टिस्ट आन्दोलन का द्वितीय-काल माना जाता है। इस काल में भी एकता की कमी के कारण कोई भी नीति सफल नहीं हो सकी। सन् १८४० में राष्ट्रीय अधिकार-पत्र-समिति की स्थापना हुई। सन् १८४१ में आम चुनावों के समय चार्टिस्ट प्रतिनिधियों की संख्या बहुत कम थी। अतः ह्विग्स अथवा टोरी की सहायता देने के प्रश्न पर उनमें मतभेद हो गया। सन् १८४२ में चार्टिस्ट दल दो भागों में बँट गया। ३ मई सन् १८४२ ई० में उन्कोब ने पार्लियामेन्ट में आवेदन-पत्र प्रस्तुत किया। २८७ मतों से आवेदन-पत्र अस्वीकार कर दिया गया। फलस्वरूप १८४२ में चैस्टर, लङ्काशायर और यार्कशायर आदि स्थानों में श्रमिकों की हड़तालें हुईं। उसमें लगभग १५०० चार्टिस्ट गिरफ्तार किए गए किन्तु हड़ताल में सफलता नहीं मिल सकी।

सन् १८४२ के बाद चार्टिस्ट आन्दोलन का तृतीय विकास काल आरम्भ हुआ। अप्रैल सन् १८४५ में चार्टिस्ट भूमि सहयोग-समिति की स्थापना हुई जो आगे चलकर राष्ट्रीय-भूमि कम्पनी में परिणित कर दी गई। सन् १७४८ ई० तक चार्टिस्टों ने पाँच बड़ी रियासतें स्थापित करलीं। परन्तु श्रमिकों का प्रभुत्व स्थापित करने की यह योजना भी सफल नहीं हो सकी। इसके बाद संसद में तृतीय आवेदन-पत्र प्रस्तुत किया गया। इस बार वह २२२ मतों द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। इस प्रकार चार्टिस्ट आन्दोलन समाप्त-सा होने लगा। सन् १८५३ ई० में ओकोन्नोर को पागलखाने भेज दिया गया जहाँ वह दो वर्ष बाद मर गया। इस प्रकार चार्टिस्टों की रही-सही शक्ति भी समाप्त हो गई और उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहा। इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि **चार्टिस्ट आन्दोलन असफल रहा। उसकी असफलता के कारण निम्नलिखित थे :—**

(१) आन्दोलन-कर्त्ताओं में मतभेद की प्रचुरता थी तथा आन्दोलन की सफलता के लिये धनाभाव एक बड़ी बाधा थी।

(२) औद्योगिक क्षेत्र में वृद्धि अथवा ह्रास हो जाना भी असफलता का एक कारण था।

(३) आन्दोलन को दीर्घकाल तक सफलतापूर्वक संचालित करने के लिये योग्य नेताओं की आवश्यकता थी किन्तु दुर्भाग्य से ऐसे योग्य नेताओं का अभाव था।

(४) मध्यम वर्ग ने भी इस आन्दोलन का विरोध किया।

(५) चार्टिस्ट-आन्दोलन को अन्य दूसरे राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त नहीं था।

(६) चार्टिस्ट-आन्दोलन के नेताओं की अदूरदर्शिता ने आन्दोलन को असफल बनाया।

(७) आन्दोलनकारियों की आपसी ईर्ष्या और मनोमालिन्य ने भी आंदोलन को असफल बनाने में सहयोग दिया।

जब चार्टिस्ट-आन्दोलन की माँगों को संसद द्वारा अस्वीकार कर दिया गया तो शताब्दी के उत्तरार्द्ध में श्रमिक-आन्दोलन में नवीन चेतना दृष्टिगोचर हुई। श्रमिक-आन्दोलन ने अपने क्रांतिकारी प्रयत्नों और उद्देश्यों में परिवर्तन कर लिया था तथा वह श्रमिकों की दशा सुधारने सम्बन्धी कार्यों में प्रगतिशील भी हुआ। इस नवीन दिशा में नेतृत्व कुछ विशिष्ट उद्योगों के श्रमिक संगठनों ने दिया। इंजिनियरिंग-उद्योग में कई श्रमिक संगठन स्थापित हुए और बाद में सन् १८५१ में संयुक्त इंजीनियरिंग श्रमिक संस्था भी अस्तित्व में आई। इस संस्था की केन्द्रीय-कार्यकारिणी के पास पर्याप्त धन था और वह अपने सदस्यों के स्वास्थ्य, बेकारी, पेन्शन इत्यादि में सहायता करती थी। इस प्रकार की संयुक्त श्रमिक संस्थाएँ अन्य उद्योगों में भी स्थापित की गईं। यह युग **न्यू-मोडल-यूनियनिज्म** के नाम से पुकारा गया। इस आन्दोलन को कई नेताओं ने प्रोत्साहित किया किन्तु पाँच व्यक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एलन, एपलजर्थ, गाइल, कॉलसन और ओडगर। इनके आन्दोलनों और प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १८५९ का अधिनियम स्वीकृत हुआ जिसके अन्तर्गत श्रमिक सङ्गठन अपनी माँगें शांतिमय उपायों द्वारा मनवाने का प्रयत्न कर सकते थे।

इस प्रकार आन्दोलन सन् १८६० के पश्चात् १८२५ और १८५९ के श्रमिक संगठन-अधिनियमों के अन्तर्गत अधिकाधिक शक्तिशाली होने लगा। कई श्रम-संस्थाओं ने वैधानिक सुधार के लिए आन्दोलन किये। इसी बीच सन् १८६६ में गैर-यूनियनिस्ट लोगों पर शेफिल्ड, नोटिंघम और मैनचेस्टर में आक्रमण किये गये। एतदर्थ सरकार ने एक आयोग की स्थापना की जिसे ट्रेड-यूनियन आन्दोलन की सही स्थिति का अध्ययन करने को कहा गया। आयोग के अधिकांश सदस्यों ने संयोग प्रतिबन्ध नियम को उठाने, श्रम-संगठनों के निर्माण करने तथा कोष के उपयोग में सावधानी अपनाने की राय दी। अल्पमत ने संयोग-प्रतिबन्धक अधिनियमों को पूर्ण-रूप से हटाने की माँग भी की। सरकार अल्पमत की राय से प्रभावित हुई और लगातार अधिनियम बनाकर उन धाराओं को कार्य-रूप दे दिया जिन्हें अल्पमत ने श्रम-संगठन की सुदृढ़ता के लिए आवश्यक माना था।

सन् १८६९ के **श्रम संगठन (संरक्षण कोष) अधिनियम** के अन्तर्गत श्रमिक-संस्थाओं के कोषों के संरक्षण की ओर ध्यान दिया गया। सन् १८७१ में श्रमिक-संस्था अधिनियम (Trade Union Act) स्वीकृत करके सरकार ने श्रम आन्दोलन को नया स्वरूप प्रदान किया गया। वे अब अवैधानिक नहीं मानी गयी और उन्हें मैत्री-संघों के रूप में संगठित होने का भी अवसर दिया गया। एक श्रमिक संस्था (जो रजिस्टर्ड हो) अपनी इमारत तथा भूमि रख सकती थी तथा अधिनियम के अन्तर्गत उनका संरक्षण कर सकती थी। इसी समय **'क्रिमीनल-ला एमेन्डमेन्ट' अधिनियम** स्वीकृत होने से उपर्युक्त अधिनियम का प्रभाव निष्प्रभ हो गया। अतः जूनता (ओडगर) ने इस बात का आन्दोलन चलाया और १८७५ में वह उस बात में सफल भी हुआ। सन् १८७५ के 'षड्यन्त्र और संरक्षण-अधिनियम' के अन्तर्गत श्रमिक-संस्थाओं के कार्य को औचित्य प्रदान किया गया। सन् १८७६ में १८७१ के श्रमिक संस्था अधिनियम में संशोधन किया गया जिसके अनुसार यदि वे अपना हिसाब-किताब नियमित रूप से प्रस्तुत कर रही हो तो श्रम संस्थाओं का पंजीयन अमान्य नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सन् १८२५, १८५९, १८६९, १८७१, १८७५ और १८७६ के अधिनियमों के अन्तर्गत श्रम संस्थाओं की अवैधानिकता समाप्त कर उन्हें वैधानिक और गौरवपूर्ण स्थान दिया गया था।

इसी अवधि में सन् १८६८ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस का उद्घाटन हुआ था। मैनचेस्टर ट्रेड कौंसिल ने साधारण निमन्त्रण-पत्र निकाला, तत्पश्चात् सन् १८७१ में जो ट्रेड यूनियन-कांग्रेस का अधिवेशन बुलाया गया वह देश की श्रम-संस्थाओं का प्रतिनिधि अधिवेशन था। इसी प्रकार पंच-निर्णय के लिए भी प्रयत्न किया गया। **श्री मुन्डेला** (Mr. Mundella) ने १८६० में होजयरी उद्योग में इसी प्रकार का प्रयत्न किया। इस प्रकार का पंच-निर्णय-मंडल कोयला उद्योग में स्थापित किया गया जो कि सफलतापूर्वक चला किन्तु अन्य उद्योगों में यह प्रयत्न सफल न हो सका।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में श्रमिक-संघ आन्दोलन सभी क्षेत्रों में फैल गया, यद्यपि आर्थिक-मंदी के काल में इसकी सदस्य-संख्या घट गई। सन् १८८० से पूर्व तो श्रमिक संस्थाएँ कुशल कारीगरों की ही थीं, परन्तु बाद में अकुशल कारीगर भी इन श्रम-संस्थाओं की ओर आकर्षित होने लगे। अकुशल श्रमिकों की सफल हड़ताल सन् १८८९ में लन्दन-डॉक कर्मचारियों की हड़ताल थी। हड़ताल की सफलता से अकुशल श्रमिक भी श्रम-संघों की ओर आकर्षित होने लगे। रेल-श्रमिकों में सन् १८७१ में श्रम-संस्थाओं का श्रीगणेश हुआ किन्तु वास्तविक विकास सन् १८९० में **'ऐमेलगेमेट सोसाइटी ऑफ रेल्वे सर्वेन्ट्स'** की स्थापना के साथ हुआ था।

इस शताब्दी का एक महत्वपूर्ण कार्य समाजवादी विचारधाराओं का प्रभावशाली ढंग से प्रचलन था। श्रम-संस्थाओं में यह धीरे-धीरे अनुभव किया जाने लगा कि बीमारी, बेकारी और बुढ़ापे के समय सहायता का कार्य राज्य द्वारा सम्पादित होना चाहिए। यद्यपि दो दशकों से संसद में श्रम-प्रतिनिधि चुनने के बाद ही जाते थे परन्तु उनका कोई स्थायी और नियमित संगठन नहीं था। अतः उन्हें उदारवादियों के साथ ही अपना मतदान करना पड़ता था। सन् १८९३ में स्वतन्त्र-श्रमिक-दल की स्थापना की गई जिसका मुख्य उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना की ओर प्रयत्नशील होना था। सन् १८९८ में इस मजदूर दल को ट्रेड-यूनियन कांग्रेस ने मान्यता दी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ इस प्रकार की घटनाएँ हुईं कि जिससे श्रमिक-आन्दोलन को आघात लगा। सन् १९०० में टेफबैल-रेल्वे-श्रमिक हड़ताल पर गये, उस पर कम्पनी ने हानि के लिये श्रमिकों पर मुकद्दमा चलाया। हाउस-ऑफ-लोर्ड्स के निर्णयानुसार कम्पनी को २३,००० पौंड डिग्री रूप में प्राप्त होने का आदेश हुआ। इससे श्रमिक आन्दोलन को बड़ा धक्का लगा। सन् १९०६ में **'ट्रेड-डिस्प्यूट एक्ट'** की स्वीकृति से श्रम-संस्थाएँ हानि के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराई गईं और पिकेटिंग या धरना वैधानिक माना गया। इस प्रकार के संशोधन ने कई रेल हड़तालों को जन्म दिया। सन् १९०८ में पुनः परीक्षा का अवसर आया। एक रेल श्रमिक **श्री ओसबर्न** ने अपनी श्रम-संस्था के विरुद्ध एक मुकद्दमा चलाया ताकि उसकी संसद-सदस्य के चुनाव के लिए अपने कोष का उपयोग न कर सके। उस पर हाउस-ऑफ-लार्ड्स का यह निर्णय कि राजनीतिक कार्यों के लिये श्रम-संस्था कोष का उपयोग नहीं किया जा सकता था।

यह श्रमिक-दल के भविष्य पर सीधा प्रहार था। पर्याप्त संघर्ष और विरोध के फलस्वरूप सन् १९१३ में यह अधिनियम स्वीकार किया गया कि श्रम-संस्थाएँ अलग से राजनीतिक-कोष का निर्माण कर सकती हैं परन्तु उसका चन्दा उगाहना अनिवार्य नहीं होगा। इस प्रकार के अधिनियम में सन् १९२७ और १९४६ में और भी संशोधन किये गये।

प्रथम-महायुद्ध और श्रमिक आन्दोलन

प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४-१९) के समय श्रम-संस्थाओं की सदस्य-संख्या ४२,२५,००० तक पहुँच गई थी। जब युद्ध का प्रारम्भ हुआ तो देश के हित को ध्यान में रख कर श्रम संस्थाओं ने अपनी माँगें स्थगित कर दीं। इतना होने पर भी १९१६-१७ में पर्याप्त श्रमिक असन्तोष हो गया। अतः सरकार ने भी **जे० एच० विटले** की अध्यक्षता में एक आयोग की स्थापना की। इस आयोग की सिफारिशों से श्रमिक वर्ग सन्तुष्ट नहीं हुआ। सन् १९१९ में सदस्य संख्या ८,५०,००० तक पहुँच गई थी। इसी समय श्रमिकों में भयङ्कर असन्तोष हो गया। सरकार ने सभी उद्योगों के श्रमिकों का एक अधिवेशन वैस्ट मिनिस्टर में आमंत्रित किया जिसमें प्रधान-मन्त्री और श्रम-मंत्री ने भाग लिया। अधिवेशन ने ८ घंटे काम, न्यूनतम मजदूरी और श्रम संस्थाओं की सार्वभौमिक मान्यता को स्वीकार किया। समझौता कराने के लिये राष्ट्रीय उद्योग परिषद् की स्थापना की गई। किन्तु फिर भी श्रमिकों का असन्तोष कम नहीं हुआ। सन् १९२२ के चुनाव में संसद में १२२ प्रतिनिधि श्रमिक दल के थे और इस प्रकार यह दल एक प्रमुख विरोधी दल बन गया। सन् १९२४ में दस महीने के लिये श्रम-दल (Labour Party) ने अपनी सरकार भी बनाई।

युद्ध की विभीषिका और आर्थिक-मंदी ने श्रमिकों की मजदूरी में भीषण कठिनाई उपस्थित कर दी। ज्यों-ज्यों राजनीतिक चेतना जाग्रत होती गई श्रमिक अपने अधिकारों के लिये हड़ताल का सहारा लेने लगे। अधिकारों के संघर्ष की पराकाष्ठा तब हुई जब सन् १९२६ में कोयला-उद्योग में हड़ताल हुई। उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए ट्रेड-यूनियन-काँग्रेस द्वारा सम्पूर्ण देश में हड़ताल करने का आमंत्रण दिया गया। सम्भवतया यह सबसे बड़ी हड़ताल थी। अतः सरकार को सन् १९२७ में श्रमिक-संस्था अधिनियम में कुछ संशोधन करना पड़ा जिसके अनुसार कुछ दशाओं में हड़ताल को अवैधानिक माना गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत पुनः श्रम-संस्थाओं का भविष्य न्यायाधीशों की इच्छा पर छोड़ दिया गया। सन् १९३६ में श्रम-संस्थाओं की सदस्य संख्या ५० लाख के लगभग थी। श्रम-दल ने राजनीतिक क्षेत्र में फिर भी अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। श्रम-दल ने १९२९ से १९३१ तक सरकार का निर्माण किया। सन् १९३५ में कुल ३ करोड़ मतों मे से श्रम-दल ने ८० लाख मत प्राप्त किये तथा संसद में १०० स्थान प्राप्त किये।

द्वितीय महायुद्ध तथा श्रमिक आन्दोलन

द्वितीय महायुद्ध काल में श्रमिक-वर्ग ने सरकार का पूरा साथ दिया। युद्ध से पूर्व भी श्रमिकों ने अपनी इसी प्रकार की मंशा प्रकट की थी। श्रमिक आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव का यह प्रत्यक्ष उदाहरण था कि सन् १९४० में **श्री चेम्बरलेन** के त्याग-पत्र देने पर संयुक्त सरकार बनाने के लिये श्रम-दल को आमन्त्रित किया गया। कई प्रमुख श्रम नेता सरकार में ले लिये गये। **श्री अर्नेस्ट बेवन** श्रम और राष्ट्रीय सेवा मंत्री बने। युद्ध-काल में श्रमिकों ने भी अभूतपूर्व त्याग व बलिदान का परिचय दिया तथा उन्होंने सङ्गठन को और भी सुदृढ़ बना लिया।

इङ्गलैंड के श्रमिक आन्दोलन का इतिहास विश्व के श्रमिकों के लिए एक गौरव-गाथा है जहाँ श्रम-संस्थाएँ हड़तालें और माँगें स्वीकार कराने के अतिरिक्त कल्याणकारी कार्यों का सृजन करती हैं। ये कल्याणकारी कार्य इतने सुदृढ़ आधार पर सङ्गठित हैं कि ये विश्व के औद्योगिक देशों और विशेषतः हमारे देश के लिये आदर्श उदाहरण का कार्य कर सकते हैं। श्रम संस्थायें श्रमिकों की जन्म से मृत्यु तक

की सभी आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखती हैं। ये मकान, रोशनदान, पानी, बिजली, शिक्षा, विद्यालय, बीमारी, बेकारी, दुर्घटना, पेन्शन और बुढ़ापे की सुविधायें तथा मनोरंजन और सांस्कृतिक उत्थान का पूरा-पूरा ध्यान रखती हैं।

अब यह स्पष्ट रूप में माना जाने लगा है कि वहाँ श्रम-संस्थाएँ जनतन्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित हैं। ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस श्रमिक-आन्दोलन की शीर्ष संस्था है जिससे देश की श्रम-संस्थाएँ सम्बन्धित रहती हैं। ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस अपना कार्य साधारण-कार्यकारिणी द्वारा चलाती है। सम्बन्धित श्रम-संस्थाएँ १८ वर्गों में विभाजित हैं। साधारण कार्यकारिणी में एक-एक सदस्य इन वर्गों में से चुना जाता है। दो स्थान महिलाओं के लिए सुरक्षित होते हैं। ट्रेड यूनियन का मुख्य लक्ष्य देश के औद्योगिक विकास का श्रमिकों के हितों के लिए अध्ययन करना है।

ट्रेड-यूनियन कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति ने उसके कार्यों को विविध रूप प्रदान किया है। किन्तु सङ्गठन, अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न, श्रमिक-परिषदें, शिक्षा, अनुसंधान, आर्थिक और सामाजिक कार्य, बीमा, प्रचार व प्रकाशन, वैधानिक और महिला समस्याओं से सम्बन्धित कई विभिन्न विभाग हैं। इसके अतिरिक्त भी कई सलाहकार समितियाँ हैं जो विभिन्न विषयों पर ट्रेड-यूनियन कांग्रेस को सलाह देती हैं।

श्रम-दल श्रम-संस्थाओं, समाजवादी और सहकारी-समितियों और व्यक्तिगत सदस्यों से मिलकर बना हुआ संघ है। श्रम-दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के २५ सदस्यों में १२ सदस्य सम्बन्धित श्रम-संस्थाओं से चुने जाते हैं।

इंगलैन्ड के श्रमिक आन्दोलन का अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-आन्दोलन से भी गहरा सम्बन्ध है। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस विश्व-फेडरेशन ऑफ ट्रेड-यूनियन से संबंधित है। इसके अतिरिक्त सहायक अन्तर्राष्ट्रीय समितियाँ भी हैं जो विभिन्न प्रश्नों पर विचार-विनिमय करती रहती है। संयुक्त-राज्य-अमेरिका, कनाडा आदि से भी इसके सम्बन्ध है।

श्रम-संस्थाओं की प्रतिनिधि संस्था के रूप में ट्रेड-यूनियन कांग्रेस (T.U.C.) को सरकार द्वारा मान्यता प्रदान की गई है जो कि ब्रिटिश श्रमिक आन्दोलन का केन्द्र रही है। इस ट्रेड-यूनियन कांग्रेस से **नेशनल एण्ड लोकल गवर्नमेण्ट ऑफिसर यूनियन, नेशनल यूनियन आफ टीचर्स** तथा इसी प्रकार की कुछ नागरिक सेवाओं की यूनियनें सम्बन्धित नहीं हैं किन्तु यह केवल एक अपवाद ही है। इस कांग्रेस का उद्देश्य सभी सम्बन्धित संस्थाओं में विकास कार्यों के लिए रुचि उत्पन्न करना तथा श्रमिकों के आर्थिक और सामाजिक जीवन-स्तर में सुधार करना है। १८६ संस्थायें इसकी सदस्य हैं जिनमें लगभग १२ बड़ी फेडरेशन हैं तथा १५० यूनियनें हैं। लगभग ३५० यूनियन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कांग्रेस से सम्बन्धित हैं। यह कांग्रेस साधारणतया उन सभी प्रश्नों और समस्याओं पर विचार करती है जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूप में श्रमिकों से सम्बन्धित विषयों पर चर्चा करती है।

इसका चुनाव प्रति वर्ष होता है। पिछले वर्षों में ट्रेड-यूनियन कांग्रेस सदस्यों की शिक्षा की ओर भी ध्यान देने लगी है। इसके प्रधान कार्यालय लंदन में एक ट्रेनिंग कॉलेज है जिसमें १,००० ट्रेड यूनियनिस्टों को पाठ्यक्रम की शिक्षा दी जाती है। इसके अतिरिक्त ग्रीष्मकालीन विद्यालय और साप्ताहिक स्कूल भी चलाये जाते हैं। यद्यपि ट्रेड यूनियन कांग्रेस एक गैर-राजनीतिक संस्था है किन्तु व्यक्तिगत रूप से श्रम-संस्थाएँ चुनाव के लिए कोष इक्ट्ठा कर सकती हैं। लगभग ८० प्रतिशत श्रम

संस्थाएँ ऐसा कोष निर्माण करती हैं और उससे श्रम-दल (Labour Party) या सहकारी दल (Co-operative) को सहयोग दिया जाता है। सन् १९६० के अन्त तक ब्रिटिश ट्रेड यूनियनों की सदस्य संख्या ९,८०३,००० थी. देश में लगभग ६५० ट्रेड यूनियन संस्थाएँ थीं जिनमें से लगभग २/३ श्रम संस्थाएँ १७ वृहद् ट्रेड-यूनियनों से सम्बन्धित थीं।

इंगलैंड एवं भारतीय श्रमिक-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन

समानताएँ :

(१) **औद्योगिक क्रांति की देन**—इंग्लैंड और भारत में श्रमिक आन्दोलन औद्योगिक क्रांति की देन रहे हैं। औद्योगिक क्रांति से पूर्व इस प्रकार के श्रमिक आन्दोलन का नितांत अभाव था।

(२) **श्रमिकों के हितों का प्रतिनिधित्व**—दोनों ही देशों में श्रमिक आन्दोलन श्रमिकों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके विकास में भी प्रतिनिधित्व की मूल भावना ही निहित है।

(३) **काम की दशाएँ, काम के घण्टे, न्यूनतम मजदूरी इत्यादि लक्ष्य**—दोनों ही देशों के श्रमिक आन्दोलनों के प्रारम्भिक लक्ष्यों में पर्याप्त समानता पाई जाती है। लगभग वे ही लक्ष्य—अच्छी काम की दशाएँ, निश्चित काम के घण्टे तथा न्यूनतम मजदूरी आदि बातें भारतीय श्रम-आन्दोलन द्वारा भी अपनाई गईं जो इंग्लैंड के श्रम आन्दोलन के आधार रहे हैं।

(४) **प्रारम्भिक कठिनाइयाँ लगभग समान**—दोनों ही देशों में श्रम-आंदोलन को अपने प्रारम्भिक विकास-काल में राज्य के उदासीन दृष्टिकोण का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त संगठन और विभेद की कठिनाइयाँ भी लगभग समान ही रही हैं।

(५) **श्रम-कल्याणकारी कार्यों का प्रारम्भिक अवस्था में अभाव**—दोनों ही देशों के श्रम-आन्दोलनों को प्रारम्भिक रूप में हड़ताली आन्दोलन कहा जा सकता है, क्योंकि आरम्भिक काल में कल्याणकारी कार्यों का सर्वथा अभाव ही था।

(६) **नियोजकों द्वारा श्रम-आन्दोलन को कुचलने के प्रयत्न**—इंग्लैंड और भारत में प्रारम्भिक श्रम-आन्दोलन को दमन का शिकार होना पड़ा क्योंकि उसे नियोजकों की सहानुभूति प्राप्त नहीं थी।

(७) **दीर्घ संघर्ष का इतिहास**—दोनों ही देशों का श्रमिक-आन्दोलन दीर्घ संघर्ष का इतिहास है।

यह स्पष्ट है कि श्रमिक-आन्दोलन औद्योगिक क्रांति की देन है। अतः भारत और इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति के आरम्भ के साथ ही श्रमिक आन्दोलन का भी आविर्भाव हुआ है। एक ही छत के नीचे कार्य करने वाले श्रमिकों ने अपने को श्रमिक समूहों के रूप में संगठित करना आरम्भ किया है। दोनों ही देशों के श्रमिकों की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ लगभग समान ही थीं। काम करने की दशा, काम करने के घण्टे, काम के समय और काम समाप्ति के पश्चात् आराम की व्यवस्था, मजदूरी की न्यूनता, दुर्घटनाओं के प्रति उपेक्षा तथा मुआवजे की अनुपस्थिति, मकानों और जीवन-निर्वाह के साधनों का अभाव, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन के साधनों का अभाव और उपेक्षा वे महत्वपूर्ण समस्याएँ थीं जिनसे दोनों देशों के श्रमिक-आन्दोलन को बल

मिला है। श्रमिक-संगठनों ने समय-समय पर नियोजकों के सामने अपनी माँगें प्रस्तुत कीं और उन्हें पूरी करने के लिये हड़ताल, बहिष्कार इत्यादि साधनों का आश्रय भी लिया गया।

असमानताएँ अथवा श्रमिक-आन्दोलन के विपरीत दृष्टिकोण

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन एक शताब्दी पुराना होने पर भी अपरिपक्व और अपूर्ण नेतृत्व को प्राप्त किये हुए हैं वहाँ इङ्गलैंड का श्रमिक आन्दोलन विश्व के श्रमिक-आन्दोलन का आदर्श आन्दोलन है। यह तथ्य हमें भारतीय और आंग्ल श्रमिक-आन्दोलन की विशेषताओं और कमजोरियों की ओर आकर्षित करता है। निम्न तथ्य यह बताते हैं कि किन किरणों से इंग्लैंड का आन्दोलन आदर्श रहा है और क्यों भारतीय श्रमिक-आन्दोलन एक शताब्दी पुराना होते हुए भी अपरिपक्व और अपूर्ण नेतृत्व वाला है।

(१) **कुल श्रमिकों का अधिकांश भाग श्रमिक-संगठनों का सदस्य**—इङ्गलैंड के कुल श्रमिकों का ६०-६५ प्रतिशत भाग श्रमिक संगटनों के रूप में संगटित हैं, किन्तु हमारे देश के कुल श्रमिकों का ६०% भाग श्रम-संगटनों की सरयता से अलग है। इंग्लैंड के श्रमिक आन्दोलन की सुदृढ़ता और भारत के आन्दोलनों की कमजोरी का यही प्रमुख कारण है। एक ही स्तर पर संगठित रूप में नियोजकों के समक्ष माँगें प्रस्तुत करना (इङ्गलैंड में) सम्भव है किन्तु भारत में यह कठिन है।

(२) **आन्दोलन जन्मजात श्रमिकों द्वारा संचालित**—इंग्लैंड का श्रमिक आन्दोलन जन्मजात श्रम-नेताओं के हाथ में है, पेशेवर राजनीतिज्ञों के हाथ में नहीं किन्तु हमारे देश में यह आन्दोलन पेशेवर राजनीतिज्ञों के हाथ में कटपुतली की तरह है। श्रमिकों को राजनीतिक उद्देश्यों की आड़ में उकसाया और भड़काया जाता है जबकि उनके आर्थिक हितों की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है।

(३) **इङ्गलैंड के श्रमिक वर्ग का शैक्षणिक धरातल ऊँचा है**—इङ्गलैंड के श्रमिकों का शैक्षणिक धरातल उच्च है जिससे वे अपने हिताहित का अधिक विचार कर सकते हैं, किन्तु हमारे देश में सम्पूर्ण जनसंख्या का ही बहुत कम भाग शिक्षित है यही कारण है कि वे अपने हिताहित का ठीक से विचार नहीं कर पाते और अन्य भावनाओं में बहकर शक्ति का अपव्यय करते हैं।

(४) **आर्थिक जीवन-स्तर की उत्तमता और सदस्य शुल्क की नियमितता**—इंङ्गलैंड के श्रमिकों का आर्थिक जीवन-स्तर उन्नत है और वे इतने सम्पन्न हैं कि श्रम-संस्थाओं का मासिक या वार्षिक शुल्क नियमित रूप से जमा कराते हैं जिसके फलस्वरूप श्रम-संस्थाओं के कोष को आपत्तिकाल में तथा श्रम-कल्याणकारी योजनाओं के लिए अभाव नहीं रहता, किन्तु हमारे देश के श्रमिकों का आर्थिक जीवन-स्तर बहुत ही नीचा है, देश बड़ा दरिद्र है वे श्रम-संस्थाओं का नियमित चन्दा देने में अपने को असमर्थ पाते हैं। परिणाम यह होता है कि श्रम-संस्थाओं का कार्य साधारण समय में ही नियमित ढंग से नहीं चल पाता अतः आपत्ति काल की बात दूर रही। श्रम-कल्याणकारी कार्यों का आयोजन और संचालन उनकी क्षमता और पहुँच से बाहर की बात है।

(५) **राष्ट्रीयता की भावना**—इङ्गलैंड के श्रमिक आन्दोलन की सुदृढ़ता उसकी राष्ट्रीय भावनाओं में निहित है देश-भक्ति की भावना के कारण जाति, धर्म,

भाषा, प्रान्त की भावनाएँ दब जाती हैं और संगठन में सुदृढ़ता आ जाती है किन्तु भारत का श्रमिक, जाति, धर्म, लिंग, भाषा, प्रान्त की संकुचित परिधि में इस प्रकार बँधा हुआ है कि वह राष्ट्रीयता से बहुत दूर रह जाता है। परिणाम यह होता है कि वह विभाजित और विशृङ्खलित हो जाता है।

(६) **अप्रवासी स्वभाव और औद्योगिक श्रमिक-वर्ग की स्थायी उपस्थिति**—इङ्गलैंड का श्रमिक अप्रवासी स्वभाव का है, उसने औद्योगिक क्रांति के साथ ही एक स्थायी औद्योगिक श्रमिक वर्ग के रूप में अपने को व्यवस्थित कर लिया है, उसका हिताहित स्थायी रूप से औद्योगिक प्रगति से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार उसने औद्योगिक श्रमिक वर्ग के स्थायी संस्कारों का प्रस्फुटन किया है जबकि भारत का श्रमिक अभी भी अपनी भूमि से चिपका हुआ है। जिन दिनों भूमि पर काम नहीं होता उन दिनों वह औद्योगिक नगरों की ओर चला जाता है और फसल या अन्य काम होने पर पुनः ग्रामों में आ जाता है। अतः उनके स्थायी रोजगार और आय का माध्यम उसको भूमि ही है कल-कारखाने तो केवल मात्र अस्थायी साधन हैं। इसलिए श्रमिक आन्दोलन स्थायी-आन्दोलन नहीं हो पाया है।

(७) **नियोजकों की श्रम-हितकारी प्रवृत्ति**—इङ्गलैंड का औद्योगिक विकास इस स्तर तक हो चुका है कि वहाँ श्रमिक आन्दोलन को नियोजकों की सहानुभूति प्राप्त होने लगी है। नियोजक श्रम-कल्याणकारी कार्यों में अधिक रुचि लेते हैं, वे यह जानते हैं कि सन्तुष्ट और उत्पन्न आर्थिक-स्तर वाला श्रमिक कल-कारखानों का अधिक उत्तमता से संचालन कर सकेगा, जबकि भारतीय नियोजन अभी भी रिकार्डो के उस युग में जीवित है जिसमें मजदूरी का लौह नियम (Iron Law of Wages) प्रचलित है।

(८) **समझौता प्रवृत्ति**—इङ्गलैंड में सरकार और नियोजकों द्वारा ऐसी व्यवस्था की जा चुकी है कि हड़तालें प्रायः नहीं होतीं तथा श्रमिकों को माँग समझौते की भावना से स्वीकार कर ली जाती है, जबकि भारत में नियोजक और नियोजित में समझौता होने की प्रवृत्ति का अभाव सा ही है।

(९) **कल्याणकारी अन्दोलन**—इङ्गलैंड का श्रम-आन्दोलन हड़ताली आन्दोलन के स्थान पर कल्याणकारी आन्दोलन अधिक है। श्रम-संस्थाओं के द्वारा श्रम-कल्याण की विविध प्रवृत्तियाँ संचालित की जाती हैं जिससे श्रमिकों का शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास होता है। ये प्रवृत्तियाँ स्थायी होती हैं जिनका अनुकूल प्रभाव श्रमिकों के उन्नत स्तर से अनुभव किया जा सकता है जबकि भारतीय श्रमिक-आंदोलन हड़ताली आन्दोलन है। बरसाती मेंढ़क की तरह हड़ताल के समय इनका अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है और हड़ताल की समाप्ति के साथ ही आन्दोलन भी मृतप्राय सा हो जाता है कारण कि यहाँ कल्याणकारी प्रवृत्तियों का या तो पूर्ण अभाव है या फिर वे अस्थायी अंग के रूप में अविकसित हैं।

(१०) **जनतन्त्रीय सिद्धान्तों का आकलन**—इंग्लैंड के श्रमिक आन्दोलन में जन-तन्त्रीय सिद्धान्तों का इस ढंग से आकलन किया गया है कि जिससे वह रचनात्मक आन्दोलन बन सका है न कि विध्वंसात्मक जबकि भारतीय आन्दोलन में ऊपर से तो जनतन्त्रीय सिद्धान्तों का आकलन किया गया है किन्तु सिद्धान्तों की जड़ें गहरी नहीं जम पाई हैं अतः आन्दोलन विध्वंसात्मक रूप ले लेता है।

(११) **पृथक श्रम दल के रूप में राजनीतिक संगठन का अस्तित्व**—इंग्लैंड के श्रमिक आन्दोलन को अधिक बल प्रदान करने में एक महत्वपूर्ण तथ्य गतिशील है वह यह कि यहाँ श्रमदल (Labour Party) के रूप में एक पृथक राजनीतिक दल है जो अनवरत रूप से श्रमिकों के हितों के लिये संघर्ष करता है। इस दल ने कई बार सरकार का निर्माण किया है और यह इंग्लैंड की संसद का प्रमुख विरोधी दल है। इसकी तुलना में भारत में ऐसा कोई पृथक श्रम-दल नहीं है जो श्रमिकों के हितों का उचित प्रतिनिधित्व कर सके।

इंग्लैंड के श्रमिक आन्दोलन का भविष्य

इंग्लैंड की श्रमिक-संस्थाएँ और श्रम-आन्दोलन विश्व में सबसे उत्तम ढंग से संगठित हैं। **श्री बेवन** ने ठीक ही कहा है "श्रमिक संस्थाएँ प्रति क्षण और उत्साह का प्रेरणा स्रोत है जिससे आने वाली पीढ़ियाँ अधिक उत्तरदायित्व उठाने को तत्पर प्रतीत होती हैं। श्रम-संस्थाओं ने अपने पुराने आन्दोलन के ढंगों मे तेजी से परिवर्तन कर लिया है। यद्यपि उनका हड़ताल का अधिकार वैधानिक रूप में उनकी धरोहर है परन्तु उसके उचित प्रयोग के लिये वे सावधान हैं। प्रजातन्त्रीय देशों में श्रमिकों के पास हड़ताल का हथियार महती शक्ति का प्रतीक है परन्तु यहाँ उन्होंने ऐसे उपाय खोज निकाले हैं कि उनकी कठिनाइयों का समाधान इस हथियार की बिना सहायता के ही हो सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र में इंग्लैंड का श्रमिक आन्दोलन एक आदर्श आन्दोलन है जो नव-स्वतन्त्रता प्राप्त औद्योगिक दृष्टि से अविकसित देशों के लिये प्रेरणा स्रोत है।

अध्याय १६

कारखाना अधिनियम
(Factory Legislation)
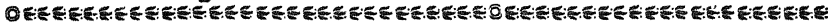
औद्योगिक क्रांति ने जहाँ सम्पन्नता और वैभव के युग का आरम्भ किया, वहाँ यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि उसने एक सर्वहारा-वर्ग को जन्म दिया है। औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भिक वर्ष उस भयावह स्थिति के द्योतक हैं जिसके अन्तर्गत सर्वहारा-वर्ग का अधिकाधिक शोषण होता था। औद्योगिक क्रांति जिस पूँजीवादी पद्धति की देन रही है उसके अन्तर्गत कारखानों की दशा, काम के घंटे, श्रमिकों की मजदूरी, बालक एवं स्त्री श्रमिकों द्वारा प्रत्याशित श्रम कार्य शामिल किये जा सकते हैं। इन परिस्थितियों का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि श्रमिकों को बहुत अधिक समय तक घुटनशील वातावरण में कार्य करना पड़ता था। कुटीर उद्योगों का स्थान जब बड़े उद्योगों ने लिया तो परिस्थिति और भी जटिल होगई। एक ही छत के नीचे हजारों श्रमिकों को अठारह-अठारह घंटों तक भी कार्य करना पड़ता था तथा पारिश्रमिक भी बहुत ही कम दिया जाता था। इसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि श्रमिकों के स्वास्थ्य और उनकी कार्य करने की क्षमता पर बड़ा विपरीत प्रभाव पड़ा। श्रम के संरक्षण का प्रश्न उपस्थित हुआ। इससे पूर्व नियोजित और नियोजकों के सम्बन्धों में शत्रुता या वैमनस्य नहीं था तथा काम करने की दशाएँ भी अस्वास्थ्यकर और हानिकारक नहीं थीं। श्रमिकों को तब कार्य करने में एक प्रकार का आनन्द प्राप्त होता था और अपनी कला-पूर्ण वस्तुओं पर उन्हें गर्व होता था। औद्योगिक क्रांति ने इस प्रकार की स्थिति में आकस्मिक और महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया।

कारखाना अधिनियमों का ऐतिहासिक सिंहावलोकन

उपर्युक्त परिस्थितियों में श्रमिक और कारखानों के कल्याण को ध्यान में रखते हुए यह अनुभव किया गया कि कारखाना अधिनियम पारित किये जायें। प्रत्येक प्रकार के अधिनियम बनाने से पूर्व प्रत्येक देश, जाति व व्यवस्था के इतिहास में एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाता है जो तत्सम्बन्धी अधिनियम की पृष्ठभूमि का आधार होता है। इसी प्रकार की पृष्ठ-भूमि का वर्णन करते हुए **श्री इर्विंग (Irving)** ने अपनी **आर्थिक इतिहास की रूपरेखा** पुस्तक में सूती उद्योग के सम्बन्ध में लिखा है—"प्रारम्भिक सूती मिलों में श्रमिक प्रतिदिन २४ घंटे कार्य करते थे जिससे शरीर थककर चूर हो जाता था। बालकों को शेड्स के नीचे काम करना पड़ता था और ज्यों ही एक पारी के श्रमिक हटते दूसरे श्रमिक उनका स्थान ले लेते। जिस प्रकार का कठिन परिश्रम उन्हें करना पड़ता उसका परिणाम शारीरिक अयोग्यताओं

के रूप में दृष्टिगोचर होता था और बिना ढकी हुई (Unfenced) मशीनों से दुर्घटनाएं होना एक साधारण सी बात थी। फोरमैनों (Foreman) को शारीरिक शक्ति देखकर नियुक्त किया जाता था जिससे वे श्रमिकों पर चाबुकों की वर्षा कर उन्हें जगाया रख सकें और अधिकाधिक काम ले सकें। उन्हें सस्ता और निम्न कोटि का भोजन दिया जाता था। जो श्रमिक इस प्रकार जीवित रह जाते थे, वे विकलांग, विकृतांग के रूप में जीवन-यापन करते थे जो कि स्पष्टत: उनके दयनीय बचपन की स्थिति के परिचायक संकेत थे।" अतः ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना अधिक युक्ति-संगत होगा कि समाज सुधारक और उदारमना-व्यक्तियों द्वारा समय-समय पर इस प्रकार के प्रयत्न किये गये कि श्रमिकों की दशा में आवश्यक सुधार हो सके। सन् १६०१ का **दरिद्रता अधिनियम (Poor Law)**, सन् १७८४ का मैनचेस्टर के मजिस्ट्रेटों का प्रस्ताव और सन् १७९५ में कारखानों में बाल-श्रमिकों की दशा के लिये मैनचेस्टर-स्वास्थ्य-प्रमण्डल की स्थापना ऐसे प्रयत्न थे जो कारखाना अधिनियमों के आधार कहे जा सकते है।

प्रथम कारखाना अधिनियम (Factory Legislation) (जिसका प्रस्ताव सर रोबर्ट पील के पिता ने प्रस्तुत किया था) सन् १८०२ में स्वीकार हुआ था। इसका नाम "**शिशिक्षुओं के नैतिक-आचार और स्वास्थ्य का अधिनियम**" (**Morals and Health Apprentices Act**) था। यह अधिनियम विशेष तौर से उन परोपजीवी बालकों पर लागू होता था जो नौसिखियों के रूप में वस्त्र-उद्योग में भर्ती किये जाते थे। इस अधिनियम की कुछ मुख्य बातें इस प्रकार थीं :—

(१) कार्य के घंटे नौसिखियों के लिए १२ निश्चित किये गये थे।
(२) रात्रि श्रम बिलकुल समाप्त कर दिया गया।
(३) बच्चों का साधारण गणित और लेखन का ज्ञान कराया जाना अनिवार्य किया गया।
(४) अधिनियम का पालन शान्ति न्यायाधीशों (Justices of Peace) के हाथ में रखा गया।

व्यावहारिक दृष्टि से यह अधिनियम असफल ही रहा। इस अधिनियम के असफल होने का कारण यह था कि जब जलशक्ति के स्थान पर वाष्पशक्ति के प्रयोग से नगरों में कारखाने स्थापित हुए तो श्रमिक अधिक संख्या में उपलब्ध होने लगे अतः वे बालकों को विवशतापूर्वक नियोजित करते थे।

जब नैपोलियन युद्धों में देश संलग्न था तब इस प्रकार के 'कारखाना अधिनियम' बनाने का अवसर ही नहीं था। अतः ज्यों ही देश नैपोलियन युद्धों से आराम की साँस ले सका त्यों ही पुनः कारखाना अधिनियमों की ओर श्रमिक वर्ग का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस प्रकार के प्रयत्न में **श्री रोबर्ट ओवन (Robert Owen)** नामक उद्योगपति और समाजवादी विचारक प्रमुख था। श्री पील महोदय का प्रयत्न और पार्लियामेंट-समिति का सर्वेक्षण सन् १८१९ के कारखाना अधिनियम को नया स्वरूप प्रदान कर सके। यह भी सूती वस्त्र उद्योग में ही लागू किया गया। इस अधिनियम की कुछ बातें इस प्रकार हैं :—

(१) बाल-श्रमिकों की न्यूनतम नियुक्ति आयु ९ वर्ष करदी गई।
(२) नौ से सोलह वर्ष तक के बच्चों को संरक्षण प्रदान किया गया।

(३) यह अधिनियम नौकरी की शर्तों के विचार को छोड़ सभी उम्र के बालकों पर लागू किया गया।

(४) बारह घंटे की अवधि में १½ घंटा भोजन और आराम के लिए निश्चित किया गया।

(५) शनिवार के दिन कार्य के अधिकतम नौ घंटे निश्चित किये गये।

इस अधिनियम का सूती मिल-मालिकों ने भारी विरोध किया और इस प्रकार यह अधिनियम भी पूर्व अधिनियम की तरह फलदायी सिद्ध नहीं हुआ। श्रमिक और समाज सुधारक भी असन्तुष्ट ही रहे। अतः **श्री ओस्टलर (Oastler), राबर्ट ओवन (Robert Owen), हाब हाऊस (Hobhouse), माइकेल सेडलर (Michael Sadler)** तथा **ऐशले कूपर** सदृश समाज सुधारकों, उदारचेता उद्योगपतियों और समाजवादी विचारकों ने जन-जागरण द्वारा श्रम-संरक्षण की भावना के लिये कार्य किया। सन् १८२५ में श्रमिक संघों को जो वैधानिक मान्यता प्राप्त हुई थी, उसके बाद से ही लोगों को कारखाना अधिनियमों के लिए प्रेरणा मिली। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी कि इसी काल में निर्बाध व्यापार नीति (Free Trade Policy) का प्रभाव जन-समाज पर तथा सरकार पर आवश्यकता से अधिक पड़ा। श्री माइकेल सेडलर (Michael Sedler) ने प्रतिदिन १० घंटे कार्य करने का बिल संसद के समक्ष प्रस्तुत किया। श्री माईकेल का यह प्रयत्न असफल रहा परन्तु सरकार को विवश होकर कारखानों की दशा ज्ञात करने के लिये श्री माइकेल सेडलर की ही अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त करनी पड़ी जिसने श्रमिकों के कारखानों के अन्तर्गत शोषण का प्रत्यक्ष रूप सामने रखा। इस समिति को सन् १८३३ के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आंशिक सफलता प्राप्त हुई। यह अधिनियम सभी वस्त्र कारखानों पर लागू किया गया (रेंशम उद्योग को छोड़कर)। इस अधिनियम की कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

(१) नौ से तेरह वर्ष के बच्चों के लिये प्रतिदिन कार्य के घण्टे ६ निश्चित किए गए।

(२) कार्य का सप्ताह ४८ घण्टों का माना गया।

(३) १३ और १८ वर्ष के युवकों के लिये प्रतिदिन कार्य के घण्टे १२ निश्चित कर दिए गए और उनका सप्ताह ६९ घण्टों का माना गया।

(४) प्रतिदिन कार्य अवधि के मध्य में विश्राम और भोजन के लिये १½ घण्टे का समय निश्चित किया गया।

(५) बालकों को कारखानों में नौकरी के लिये आयु का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना पड़ता था।

(६) प्रथम बार रात्रि कार्यों की अवधि की परिभाषा दी गई जिसमें ८–३० बजे रात से ५–३० बजे सुबह का उल्लेख किया गया।

(७) अधिनियम में सभी बालकों के लिए २ घण्टे पाठशाला में पढ़ना अनिवार्य माना।

(८) इस अधिनियम को कार्यान्वित करने के लिए कारखाना-निरीक्षक (Factory Inspectors) नियुक्त किए गए। इन निरीक्षकों को वर्ष में चार बार संसद को विवरण देना होता था तथा वर्ष में दो बार सभाएँ करनी पड़ती थीं।

सन् १८३३ के कारखाना अधिनियम ने सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और श्रम नेताओं की आकांक्षाओं की पूर्ति उतनी नहीं की जितनी कि उनसे आशा की गई थी। अतः जन-आन्दोलन का वह सिलसिला कारखाना अधिनियमों के लिये बराबर जारी रहा और समय-समय पर इस प्रकार के परिवर्तनों और संशोधनों के लिये प्रयत्न किया जाता रहा। सन् १८४४ में पील का कारखाना अधिनियम स्वीकृत हुआ इसमें न्यूनतम आयु आठ वर्ष की निश्चित की गई और आठ से तेरह वर्ष के बच्चों के लिये कार्यकाल ६½ घण्टे प्रतिदिन का निश्चित किया गया। जो नियम युवकों पर लागू थे उन्हें प्रौढ़ और स्त्रियों पर भी लागू किया गया। इस प्रकार प्रथम बार प्रौढ़ और वयस्क श्रमिकों को भी संरक्षण दिया गया। मशीनों का ढकना अनिवार्य कर दिया गया और मशीनों की सफाई का कार्य बच्चों द्वारा किए जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। दस घंटों के काम के लिये आन्दोलन जारी रहा। सन् १८४७ के अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था बन गई परन्तु नियम की पाबन्दी में कपटपूर्ण व्यवहार के लिये गुंजायश थी जिसके दोषों की ओर लार्ड ऐशले ने संसद-सदस्यों का ध्यान आकर्षित किया और **सर जार्ज ग्रे (Sir George Gray)** ने सन् १८५० में एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें स्त्रियों और युवा व्यक्तियों के काम के घण्टे निर्धारित किए गए। ये ६ बजे प्रातः से ६ बजे सायं तक तय किये गए और डेढ़ घण्टा भोजन के लिये दिया गया। इस प्रकार दैनिक कार्य का समय बढ़ाकर साढ़े दस घंटा कर दिया गया, परन्तु साठ घंटे प्रति सप्ताह की सीमा थी क्योंकि शनिवार को दो बजे काम बन्द कर दिया जाता था। परन्तु बालकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में अब भी कानून से कपटपूर्वक बचा जा सकता था। सन् १९५३ में एक संशोधक अधिनियम के बनाने से यह समस्या हल हुई।

इस प्रकार सन् १८५० के अधिनियम के वस्त्र उद्योग में लागू हो जाने से जब श्रमिकों की कार्यक्षमता नहीं घटी तो सन् १८६० में धुलाई और रंगाई के कारखानों का अधिनियम भी पारित किया गया। सन् १८७० में रंगाई, छपाई और सफाई से सम्बन्धित अधिनियम एकीकृत कर लिये गये। सन् १८६२-६६ में सरकार ने अन्य कारखानों में श्रमिकों की अवस्थाओं की जाँच के लिए एक शाही-आयोग (Royal Commission) की स्थापना की और सन् १८६४ में एक विशेष नियमन (Special Legislation) के अन्तर्गत अनेक उद्योगों पर श्रम नियम लागू किये गये। सन् १८६७ में दो महत्वपूर्ण अधिनियम, **कारखाना अधिनियमों का विस्तार अधिनियम (Factory Acts Extension Act.)** और **शिल्पशाला नियमन (Workshop Regulation Act)** पारित किए गए। पहले अधिनियम को लौह-इस्पात, कागज, काँच, छपाई, गटापार्चा, जिल्द बँधाई और तम्बाकू कारखानों में (जहाँ ५० से अधिक व्यक्ति काम करते थे), लागू किया गया। दूसरे अधिनियम में कारखाने की परिभाषा दी गई। इस अधिनियम का कारखानों पर लागू करने का अधिकार स्थानीय अधिकारियों को दिया गया अतः यह अधिक सफल नहीं हो सका। सन् १८७१ के कारखाना और शिल्पशाला अधिनियम में इसे लागू करने का अधिकार निरीक्षकों को हस्तान्तरित किया गया।

सन् १८७४ के अधिनियम में स्त्रियों और युवा व्यक्तियों के काम के घण्टे १० कर दिए गए और सप्ताह के लिये ५६॥ घण्टे सीमित कर दिए गए। बच्चों की काम करने की उम्र ९ से बढ़ाकर १० कर दी गई और निश्चित समय से अधिक काम बंद कर दिया गया। १८७८ के कारखाना और शिल्पशाला अधिनियम के अन्तर्गत संग्रह-करण की माँग हुई। सन् १८८३ के कारखाना अधिनियम में सफेद काँच के कारखानों

और मर्जन ग्रहों (Bake Houses) के विशेष नियम बनाए गए। इसी प्रकार सन् १८८९ के सूती-वस्त्र कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत कारखानों में जलवायु को कृत्रिम रूप से नम करने की शर्तों पर नियमन लागू किया गया। बालकों को निर्दयता से बचाने के लिए सन् १८८९ में एक अधिनियम स्वीकृत किया गया जिसके अन्तर्गत नाटकीय मनोरंजनों में नियुक्त बालकों को भी संरक्षण दिया गया।

सन् १८९१ का कारखाना अधिनियम बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसमें समस्त बातों का पुनः अध्ययन किया गया। बच्चों की उम्र ११ वर्ष कर दी गई। सन् १८९५ के अधिनियम के अधीन सभी कार्यों में बालकों का कार्य तीस घण्टे प्रति सप्ताह सीमित कर दिया गया और १४ वर्ष के बच्चे के लिए रात का काम निषिद्ध कर दिया गया। नौ-स्थानों, भरण तटों और उत्तरण स्थानों और धोबी घाटों जैसे स्थानों को नियन्त्रण में ले लिया गया। सन् १८९६ में चिकित्सकों को कतिपय व्यावसायिक रोगों की सूचना कारखानों को देने का आदेश दिया गया। सन् १८९८ में पारित एक अधिनियम ने भारतीय कारखानों में (ऊन छाँटने के स्थानों में तथा काँच के कारखानों में जहाँ विशेष जोखिम रहती है) इस नियम को लागू कर दिया। सन् १९०१ में कारखानों और शिल्पशालाओं के अधिनियमों में संहिता निर्माण का प्रयत्न किया गया। बच्चों की उम्र १२ साल कर दी गई। सन् १९०८ में दियासलाई के उद्योग को (जिसमें उजले फास-फोरस से काम लिया जाता था) बन्द कर दिया गया। इससे फोसी जाव (Phossy Jaw) नामक बीमारी हो जाती थी। १९१८ में शिक्षा सम्बन्धी अधिनियम स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार बाल-मजदूरों की उम्र १४ वर्ष करदी गई तथा आधे समय तक काम करने की प्रणाली को समाप्त कर दिया गया। इससे पूर्व १९०३ ई० में 'बाल-विधान' स्वीकृत हुआ था जिसके अनुसार बच्चों द्वारा फेरी लगाकर चीजों को बेचने की प्रथा का अन्त कर दिया गया था। सन् १९०६ में श्रमिक-क्षति पूर्ति (Workmen's Compensation) अधिनियम स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार बेकार हो जाने वाले श्रमिकों को मुआवजा देने की व्यवस्था भी की गई। सन् १९११ में राष्ट्रीय-बीमा-अधिनियम स्वीकृत हुआ। सन् १९१३ में खान-श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित की गई। इसके पश्चात् सन् १९२० के अधिनियम के अन्तर्गत स्वास्थ्य के देख-भाल की व्यवस्था की गई।

इसके अतिरिक्त सामाजिक बीमा, सुरक्षा, स्वास्थ्य, परिवार-सहायता, कारखानों की दशा आदि से सम्बन्धित कई और नियम भी स्वीकृत किए गए जिनका विवरण अगले अध्याय में विस्तार से किया गया है।

सामाजिक बीमा और श्रम-कल्याण

(Social Insurance & Labour Welfare)

अध्याय १७
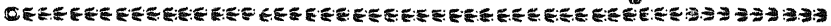
आज हम समाजवादी-व्यवस्था के युग में जीवन-यापन कर रहे हैं। व्यक्तिवादी विचारधाराएँ हमसे एक शताब्दी पीछे रह गई हैं जबकि व्यक्ति अपने हितों की रक्षा के लिए स्वयं ही सजग रहता था किन्तु धीरे-धीरे औद्योगिक-क्रांति के फलस्वरूप उद्योगपतियों और श्रमिकों के संगठन बनने लगे तो यह स्वाभाविक ही था कि राज्य सरकार द्वारा इस दिशा में प्रयत्न किये जाते। सामाजिक सुरक्षा सेवाओं का उद्भव और विकास इंग्लैंड के सामाजिक वातावरण में परिवर्तन का महत्वपूर्ण तथ्य है। इस शताब्दी से पूर्व गरीबी एक व्यक्तिगत दोष और दुर्भाग्य समझी जाती थी। जनतन्त्र के विकास के साथ-साथ सोचने की प्रणालियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

सर्वप्रथम जर्मनी (जिसका औद्योगीकरण इंग्लैंड के बाद में हुआ) सामाजिक बीमा का विकास किया गया। **प्रिन्स बिस्मार्क** ने सामाजिक बीमा पद्धति को जर्मनी में प्रचलित किया था।

सामाजिक बीमा और सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों का ऐतिहासिक सिंहावलोकन

१६ वीं शताब्दी में ही इंग्लैंड की सरकार ने **दरिद्रता अधिनियम** के अन्तर्गत निर्धनों, वृद्धों, अनाथों, विकलांगों, विधवाओं, आदि का पालन-पोषण का कार्य सम्हाल रखा था। इस प्रकार के सहायता कार्यों के लिए धन का संग्रह स्थानीय करों द्वारा ही होता था। जिस समय औद्योगिक विकास चरम सीमा तक पहुँच गया था उस समय १८३४ में 'दरिद्रता अधिनियम' में कुछ इस प्रकार के परिवतन और संशोधन किये गये जो अरुचिकर और कठोर थे। सन् १८३३ में पहली बार इंग्लैंड की सरकार ने अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करने का प्रयत्न किया। शैक्षणिक-संस्थाओं को कुछ आर्थिक सहायता प्रदान की गई। सन् १८७० के **शिक्षा अधिनियम** के अन्तर्गत सरकार ने १० वर्ष तक के बालक के लिये प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य भी कर दी और इस प्रकार की व्यवस्था की गई कि जिससे शिक्षण-संस्थाओं में अधिक व्यवस्था हो सके। सन् १८९६ तक प्राथमिक शिक्षा पूर्ण रूप से निशुल्क थी। सन् १९०२ के पश्चात् सरकार माध्यमिक शालाओं को भी आर्थिक सहायता देने लगी।

श्रमिक-मुआवजा पद्धति का प्रचलन बहुत ही छोटे स्तर पर सन् १८९६ में किया गया। यद्यपि सरकार ने इसके लिए कोई धन-राशि नहीं जुटाई किन्तु दुर्घटनाओं के समय नियोजक का दायित्व निश्चित कर दिया गया था। दरिद्रता-अधिनियम के

अतिरिक्त इस दशा में सरकार अधिक कुछ नहीं कर सकी। सम्पन्न श्रमिकों ने अपने ही सहयोगियों द्वारा मैत्री-संघों का कार्य प्रारम्भ किया जबकि श्रमिक-संघ आन्दोलन विकसित होने लगा तो उसने कल्याण-कार्यों के अन्तर्गत बहुत ही छोटे स्तर पर इस प्रकार के कार्यों का आयोजन प्रारम्भ किया। **बेकार श्रमिक-अधिनियम** १९०५ के अन्तर्गत सरकार ने प्रथम बार योग्य व्यक्तियों के बेकार रहने का आंशिक दायित्व स्वीकार किया। अधिनियम के अन्तर्गत स्थानीय संकट निवारक समितियों की स्थापना पर जोर दिया गया। सन् १९०७ का **भोजन अधिनियम** उदार-दलीय सरकार के इस दृष्टिकोण की झलक थी जिसमें आवश्यकता वाले बच्चों को भोजन-सुविधा, विद्यालयों में दी जाय, अनुभव किया गया। सन् १९०८ में **स्कूल बच्चों का स्वास्थ्य, जाँच अधिनियम** लागू किया गया। इसी वर्ष ७० वर्ष की अवस्था में पेन्शन व्यवस्था अधिनियम भी पारित किया गया।

सन् १९०५ में दरिद्रता अधिनियम प्रशासन की जाँच के लिये **शाही आयोग** की स्थापना की गई। इस आयोग ने सन् १९०९ में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं। इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर १९११ में **श्री लॉयड जार्ज** ने **राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा** अधिनियम स्वीकार किया। यह अधिनियम जर्मन आदर्श पर आधारित था जिसमें निम्न आय वालों की चिकित्सा सम्बन्धी उपस्थिति और आर्थिक-सहायता की धाराओं का ध्यान रखा गया था। यह अधिनियम उन सभी श्रमिकों पर लागू किया गया जिनकी वार्षिक आय १६० पौण्ड से कम थी। **इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्न लाभ प्राप्त हुए :—**

(१) निशुल्क डाक्टरी निरीक्षण तथा मुफ्त दवा और इलाज की सुविधा।

(२) कुछ निश्चित सप्ताह से अधिक रोग की दशा में प्रत्येक पुरुष को १० शिलिंग प्रति सप्ताह और प्रत्येक स्त्री को ७ शिलिंग ६ पैन्स प्रति सप्ताह आर्थिक सहायता।

(३) २६ सप्ताह लगातार बीमार रहने पर अयोग्यता भत्ता।

(४) जिस श्रमिक का बीमा है उसके बीमार होने पर उसकी पत्नी को ३० शिलिंग की सहायता।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक धन-राशि श्रमिक-नियोजक और सरकार द्वारा जुटाया जाता है। उपर्युक्त अधिनियम में अब तक बहुत ही कम परिवर्तन हुए हैं। बाद में संशोधित अधिनियमों में वास्तविक परिवर्तन अनुदानों के अनुपात में किया गया है। साथ ही बेकारी-बीमा-योजना को भी कुछ उद्योगों में जैसे वे किया गया। इंजीनियरिंग, जहाजरानी, भवन-निर्माण इत्यादि में लागू।

१९२१ में बेकारी बीमा योजना का और भी प्रसार किया गया जिसके अन्तर्गत कई और उद्योग भी सम्मिलित किये गये। १९२० में ५० वर्ष की उम्र पर देने का निर्णय किया गया। बेकारी-बीमा योजना का विस्तार और क्षेत्र बेकारों पर निर्भर व्यक्तियों पर लागू किया गया। इस रूप में सरकार को अधिक धन की आवश्यकता अनुभव हुई। १९२४ में श्रम-दलीय सरकार ने इस मिलने वाले लाभ को वैधानिक अधिकार घोषित किया, किन्तु यह नियम पुनः दूसरी सरकार के पदारूढ़ होने पर रद्द कर दिया गया। सन् १९२५ में **अंशदानी-पेन्शन अधिनियम** (Contributory Pension Act) के अन्तर्गत ६५ वर्ष की उम्र पर पेंशन और बिना अंशदानी पेंशन ७० वर्ष की उम्र पर देने का निर्णय किया। द्वितीय श्रम-दलीय सरकार ने १९२९ में

इस अधिनियम का और भी विस्तार किया और 'दरिद्रता अधिनियम' को परिवर्तित करके उसका नाम **सार्वजनिक सहायता अधिनियम** कर डाला।

सन् १९३४ में **बेकार सहायता प्रमण्डल** (Unemployment Assistance Board) स्थापित किया गया जिसका आर्थिक दायित्व सरकार का था। सन् १९३६ में इस योजना को कृषि-मजदूरों पर बढ़ा दिया गया। दूसरे ही वर्ष **अंशदानी-बुढ़ापा पेन्शन और विधवा पेन्शन** अधिनियम को बेकार व्यक्तियों पर लागू किया गया। सन् १९३८ में अन्धों की पेंशन प्राप्त करने की उम्र ५० से ४० कर दी गई।

नकदी लाभों का कुल योग (जो विभिन्न सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत प्राप्त होता था) १९२४ में २५० लाख पौण्ड से बढ़कर १९३८-३९ में २३९० लाख पौण्ड तक पहुँच गया।

सन् १९०९ के ट्रेड-बोर्ड अधिनियम और सन् १९१८ के अन्तर्गत अत्यधिक कठिन श्रम करने वाले श्रमिकों के लिये निश्चित वैधानिक न्यूनतम मजदूरी-तय की गई। कारखाना और कोयला-खदान अधिनियमों को श्रमिकों और खनिजों के पक्ष में परिवर्तित और संशोधित किये गये। सन् १९२० के पश्चात् सार्वजनिक अस्पतालों के निर्माण का कार्य तीव्र गति से बढ़ा। सन् १९४० में महिलाओं की पेन्शन उम्र ६५ से घटाकर ६० वर्ष कर दी गई। 'बेकार-सहायता प्रमण्डल' का युद्ध-काल में नवीन नामकरण **सहायता-प्रमण्डल** किया गया। इसका युद्धकालीन आवश्यकताओं के अनुसार सहायता देने के व्यापक अधिकार दिये गये। जब युद्ध-काल में श्रम-दल ने संयुक्त-सरकार में स्थान प्राप्त किया तो पारिवारिक जाँच के स्थान पर व्यक्तिगत जाँच को सहायता-कार्य में मान्यता दी गई। **आपत्तिकालीन चिकित्सा सेवाएँ** भोजन और दुग्ध वितरण सेवाओं का भी विस्तार किया गया।

सन् १९४१ में सामाजिक बीमा और सम्बन्धित सेवाओं की जाँच पड़ताल और सिफारिशों के लिए **श्री बेवरीज** (Lord Beveridge) की अध्यक्षता में एक समिति स्थापित की गई। यह एक व्यक्ति समिति ही थी इनका प्रतिवेदन सन् १९४२ में प्रस्तुत किया गया यह एक ऐतिहासिक-प्रतिवेदन है, **प्रो० जी० डी० एच० कोल** के शब्दों में—"यह वास्तव में एक सीमा चिन्ह है, क्योंकि यह प्रथम प्रकाशन है जिसमें सरकार व्यक्तिगत नागरिकों के सहयोग से सम्पूर्ण सामाजिक सुरक्षा के लिए संघर्ष करने को कृत संकल्प है, जिसे लॉर्ड बेवरीज ने उपयुक्त नाम दिया है। **पंच सूत्री सहायता सामाजिक प्रगति के पथ में**। ये पंच सहायता कार्य है·········आवश्यकता युग, अज्ञान, गन्दगी, और आलस्य। आलस्य से तात्पर्य अनैच्छिक बेकारी से है।

नीचे उपर्युक्त समिति के प्रतिवेदन का सारांश प्रस्तुत किया गया है :—

सामाजिक सुरक्षा योजना का मुख्य ध्येय आय के साधनों और शक्ति के व्याघात-प्रतिघात के विरुद्ध सामाजिक बीमा करना है। साथ ही विशिष्ट व्ययों से—जन्म, विवाह, मृत्यु-व्यय—सुरक्षा करना है। इस योजना के ६ मुख्य सिद्धान्त हैं—आजीविका लाभ की समान दर, अंशदान की समान दर, प्रशासनिक उत्तरदायित्व की समानता; लाभ की पर्याप्तता; सम्पूर्णता; विभाजन या वर्गीकरण। इन उपर्युक्त सिद्धान्तों और राजकीय सहायता के सम्मिश्रण में सामाजिक योजना आप्लावित है। **योजना की मुख्य धारायें इस प्रकार हैं :—**

(१) यह योजना सभी नागरिकों पर लागू होती है। इसमें आमदनी की कोई अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की गई है।

(२) सामाजिक-सुरक्षा के अनुसार जनसंख्या को चार भागों में विभाजित किया गया है :—

(अ) कर्मचारी या श्रमिक—वे व्यक्ति जो सेवा समझौते के अन्तर्गत साधारण वृत्ति में नियोजित हैं।

(ब) अन्य प्रकार से लाभ के कार्यों में नियोजित—इसमें नियोजक व्यापारी और स्वतन्त्र वर्ग के श्रमिक सम्मिलित हैं।

(स) गृहणियाँ अर्थात् विवाहित स्त्रियाँ जो कार्यशील आयु की हैं।

(द) अन्य जो लाभपूर्ण कार्यों में नियोजित नहीं हैं।

(य) अल्पायु युवक/युवतियाँ।

(र) अवकाश प्राप्त व्यक्ति।

(३) उपर्युक्त ६ प्रकार के वर्गीकरण में ६ठा वर्ग अवकाश-प्राप्त पेन्शन पा सकता है और पाँचवाँ वर्ग राष्ट्रीय कोष से बालक रूप में लाभ प्राप्त कर सकेगा। अन्य चार वर्ग परिस्थिति अनुसार सामाजिक बीमा लाभ के भागीदार होंगे। साथ ही जन्म से लगाकर मृत्यु तक व्यय का दायित्व सम्मिलित होगा।

(४) प्रत्येक व्यक्ति जो वर्ग १, २ और ४ में है उसे अकेले (Single) प्रति सप्ताह आवेदन भरना होगा और उसमें आवश्यक अंशदान देना होगा। प्रथम वर्ग में नियोजक को भी, नियोजित का अंशदान मजदूरी में से घटाकर, अंशदान देना होगा। अंशदान लाभ-प्राप्ति अनुसार प्रति वर्ग में अलग-अलग होगा और तृतीय वर्ग में पुरुषों को स्त्रियों की तुलना में ज्यादा अंशदान देना होगा।

(५) साधारण अंशदान की दशाओं में, प्रत्येक व्यक्ति को प्रथम वर्ग के अन्तर्गत बेकारी, अयोग्यता, पेन्शन, चिकित्सा और दाह-संस्कार व्यय सम्बन्ध लाभ प्राप्त होंगे। द्वितीय और चतुर्थ वर्ग में, पेन्शन में, और सभी लाभ प्राप्त होंगे (बेकारी और शारीरिक अयोग्यता लाभ को छोड़ कर) स्थानापन्न लाभ के रूप में बेकारी की दशा में, प्रशिक्षण लाभ सभी वर्ग के व्यक्तियों को उपलब्ध होगा (सिवाय प्रथम वर्ग के)। प्रसवकालीन लाभ, वैधव्य सहायता, तलाक और अवकाश-सम्बन्धी स्त्री सहायता कार्य तृतीय वर्ग के अन्तर्गत उनके पतियों के अंशदान के रूप में प्राप्त हो सकेंगे तथा जो गृहणियाँ कार्य में नियोजित हैं उन्हें प्रसवकाल में १३ सप्ताह का अवकाश भी मिलेगा।

(६) आय का कोई भी स्तर रहा हो, परन्तु बेकारी लाभ, अयोग्यता लाभ, अवकाश-प्राप्ति लाभ, प्रशिक्षण लाभ समान दर पर प्राप्त होंगे। साधारणतया सभी को आजीविका चलाने के रूप में समान सहायता प्राप्त होगी। औद्योगिक दुर्घटना द्वारा प्राप्त शारीरिक अयोग्यता या रोग से शारीरिक अयोग्यता अन्य शारीरिक अयोग्यताओं के समान ही मानी जायगी।

(७) बेकारी लाभ तथा शारीरिक अयोग्यता लाभ में साधनों की जाँच पड़ताल के पश्चात् लाभ बराबर प्राप्त होते रहेंगे।

(८) पेन्शन (औद्योगिक कार्य के अतिरिक्त) कार्य से अवकाश ग्रहण करने पर ही मिल सकेगी न्यूनतम अवकाश प्राप्ति की उम्र के बाद कभी भी तत्सम्बन्धी दावा प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि अवकाश-प्राप्ति देर से ली जाती है तो उसमें पेन्शन दर में वृद्धि होगी।

(९) कार्यशील उम्र वाली विधवाओं को उस दशा में कोई पेन्शन नहीं मिलेगी यदि उन पर कोई बालक आश्रित नहीं है। वैसे सभी विधवाओं के लिये

अस्थायी लाभ बेकारी और शारीरिक अयोग्यता से ऊँची दर पर ही प्राप्त होगा। जहाँ विधवाओं को आश्रितों का पालन-पोषण करना पड़ता है वहाँ उन्हें संरक्षक लाभ (Guardian Benefit) भी प्राप्त होगा, वर्तमान में पेन्शन प्राप्त विधवाओं के अधिकारों की रक्षा की जायगी।

(१०) कुछ ऐसे मामले जो सामाजिक बीमा के अन्तर्गत शामिल नहीं किये जा सकते राष्ट्रीय-सहायता के अन्तर्गत शामिल किये जा सकेंगे।

(११) राष्ट्रीय-स्वराज्य-सेवा द्वारा सभी नागरिकों को चिकित्सा लाभ प्रदान किये जायेंगे। पुर्नस्थापन लाभ केवल उनको प्राप्त हो सकेंगे जो इस श्रेणी में आते हैं।

(१२) सामाजिक-सुरक्षा-मंत्रालय की स्थापना की जायगी जो सामाजिक बीमा, राष्ट्रीय-सहायता, स्वेच्छापूर्वक बीमा आदि कार्यों के लिये उत्तरदायी होगा और सरकारी तथा स्थानीय विभागों की सहायता से इस कार्य को सम्पन्न करेगा।

उपर्युक्त सिफारिशों और सिद्धान्तों को स्वीकार करने में सभी राजनीतिक दलों, संस्थाओं तथा सरकारी सहायता मिली है। इसे मूर्त रूप देने में कई अधिनियम इन विगत वर्षों में लागू किये गये हैं। इंगलैंड में राज्य सामाजिक बीमा (State Social Insurance) के निम्नलिखित स्वरूप मिलते हैं:—

(१) **पारिवारिक भत्ता योजना (Family Allowance Scheme)**—यह योजना ६ अगस्त १६४६ को प्रचलित की गई। इस योजना के अनुसार प्रत्येक परिवार को १५ वर्ष से कम उम्र वाले पहले बड़े बच्चे को छोड़कर सभी बच्चों के लिये ८ शिलिङ्ग प्रति सप्ताह की दर से सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जाती है। १६५३ ई० के आरम्भ में इंगलैंड के ३० लाख परिवारों को लगभग ४८,००,००० पौंड परिवारिक सहायता दी जा रही थी।

सन् १६५६ ई० में पारिवारिक भत्ता तथा राष्ट्रीय-बीमा अधिनियम (Family Allowance & National Insurance Act) स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार परिवार के तीसरे तथा प्रत्येक अन्य बच्चे के लिये भत्ता ८ शिलिङ्ग से बढ़ाकर १० शिलिंग कर दिया गया।

(२) **राष्ट्रीय बीमा**—५ जुलाई १६४८ ई० से यह योजना प्रचलित की गई थी। यह १५ वर्ष के ऊपर सभी पुरुषों और स्त्रियों पर लागू है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को बीमा के लिये कुछ चन्दा देना पड़ता है। चन्दा देने वालों के तीन वर्ग हैं—(१) वे लोग जो वेतन के बदले दूसरों के लिये काम करते हैं। (२) वे लोग जो स्वयं अपना काम करते हैं (जैसे व्यापारी वर्ग के लोग) और (३) वे लोग जो कोई विशेष काम नहीं करते। प्रथम वर्ग के कर्मचारियों के बीमा का चन्दा प्राप्त करने का उत्तरदायित्व उनके नियोजकों पर है। द्वितीय और तृतीय वर्ग के कर्मचारियों को स्वयं चन्दा देना पड़ता है। सन् १६५७ ई० में एक नया अधिनियम (National Insurance Act) स्वीकार करके चन्दे की दर तथा बीमा से मिलने वाली सहायता को बढ़ा दिया गया है। नई दरें जो सन् १६५८ ई० के जनवरी-फरवरी माह से प्रचलित हुई है, इस प्रकार है:—

वर्ग १

नाम	१८ वर्ष से ऊपर पुरुष		१८ वर्ष से कम उम्र वाले बच्चे		१८ वर्ष से ऊपर स्त्रियाँ		१८ वर्ष से कम युवतियाँ	
	शि०	पे०	शि०	पे०	शि०	पे०	शि०	पें०
स्टाफ द्वारा चन्दा	६	५	५	३	७	८	४	६
नियोजकों द्वारा चन्दा	८	१	४	९	६	७	३	१०
कुल योग	१७	६	९	१२	१४	३	८	४
वर्ग २								
ऐसे लोगों का चन्दा जो स्वतन्त्र व्यवसाय करते हैं	११	६	६	७	९	८	५	९
वर्ग ३								
बेकार	९	१	५	३	७	३	४	४

बीमा से मिलने वाली सहायता :—

(क) **बीमा तथा बेकारी में सहायता प्राप्ति की समाप्ति**—५० शि०; आश्रितों का भत्ता-वयस्क ३० शि०, प्रथम बच्चा १५ शि०, अन्य बच्चे ७ शि० ।

(ख) **प्रसव भत्ता**—१२ पौंड १० शि०, घर में रहने के लिये—५ पौंड; भत्ता ५० शि० प्रति सप्ताह ।

(ग) **विधवा स्त्री को भत्ता**—७० शि०; प्रथम बच्चे के लिये २० शि०; प्रत्येक अन्य बच्चे के लिए १२ शि०; प्रति सप्ताह ।

(घ) **संरक्षक भत्ता**—जो संरक्षक बनकर किसी ऐसे बच्चे को अपनी देख-रेख में रखते हैं जिसके माता-पिता मर चुके हों तो उसको प्रति सप्ताह २७ शि० ६ पे० भत्ता मिलता है ।

(ङ) **नौकरी से अवकाश ग्रहण करने पर भत्ता**—प्रत्येक पुरुष को ६५ वर्ष तथा स्त्री को ६० वर्ष की उम्र से ५० शि० प्रति सप्ताह की दर से पेन्शन के रूप में मिलता है । अवकाश प्राप्त कर्मचारियों की स्त्रियों को ३० शि० भत्ता मिलता है । इसके अतिरिक्त आश्रितों को भी भत्ता उसी दर से मिलता है जितना बीमारी अथवा बेकारी में मिलता है ।

(च) **मृत्यु भत्ता**—एक वयस्क की मृत्यु पर २५ पौंड तथा बच्चे की मृत्यु पर उससे कुछ कम सहायता मिलती है ।

(छ) **औद्योगिक हानि बीमा योजना (National Insurance for Industrial Injuries)**—योजना के प्रमुख अंग इस प्रकार हैं :—

(१) नौकरी में काम करते हुए घायल होने पर एक वयस्क को ८५ शि० भत्ता प्रति सप्ताह तब तक मिलता है तब तक वह काम करने के योग्य नहीं हो जाता । आश्रितों के लिए भी भत्ता मिलता है—वयस्क के लिए ३० शि०; प्रथम बच्चे के लिए १५ शि० तथा अन्य बच्चों के लिए ७ शि० ।

(२) सदैव के लिए काम के अयोग्य (Disable) हो जाने पर निम्नलिखित सहायता दी जाती है :—

(अ) अधिकाधिक ग्रेचुटी (Gratuity)—२८० पौंड ।
(आ) भत्ता—८५ शि० प्रति सप्ताह ।
(इ) देखभाल के लिए ३५ से लेकर ७० शि० ।
(ई) बेकारी सहायता—५० शि० ।
(उ) विशेष आपत्ति भत्ता—३४ शि० तक ।
(ऊ) मृत्यु होने पर विधवा को अधिकाधिक पेन्शन ७० शि० तथा बच्चों के लिए २० शि० ।

उस पर आश्रित रहने वाले कुछ व्यक्तियों को पेन्शन मिलती है ।

ग्रेट ब्रिटेन में जीवन बीमा लाभ करने वाले व्यक्ति (हजारों में)

	जून सन् १६४८	जून सन् १६५६	जून सन् १६६२[1]
कुल काम करने वाली जन-संख्या[3]			
पुरुष	१५,६५७	१६,१३७	१६,४००
स्त्री	७,१२३	८,००८	८,४०६
कुल	२२,७८०	२४,१४५	२४,८०६
नागरिक सेवाओं में नियोजितों की संख्या[2]			
पुरुष	१४,५५६	१५,३०८	१५,६६७
स्त्री	७,०२०	७,८८६	८,२६८
कुल	२१,५६६	२३,१६७	२३,६६५
रजिस्टर्ड पूर्ण बेरोजगार	२७३	३७६	३७२
फौज (स्त्री सेवाएँ मिलाकर)			
पुरुष	८०७	५५०	४२५
स्त्री	३६	१५	१७
कुल	८४६	५६५	४४२

इंग्लैंड में सामाजिक बीमा और सुरक्षा योजना का सफलतापूर्वक संचालन उसके उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है । आज इस योजना के अन्तर्गत श्रमिकों को सभी प्रकार की सहायता प्राप्त हो रही है । अतः एक महान् सुधारक को यह कहना पड़ा है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक यह योजना श्रमिक के कल्याण में तत्पर दिखाई देती है । यही वह योजना है जिसने इंग्लैंड को पूँजीवादी देश एक समाजवादी देश होने की संज्ञा दिलादी है । **विलियम-बेवरिज** का नाम इसके साथ सर्वदा सम्बद्ध रहेगा । वे पूरे उदार-दलीय हैं और सुधारात्मक दृष्टिकोण के हैं । श्रम-दलीय सरकार तथा अनुदार-दलीय सरकार ने इसे कार्यान्वित किया है ।

---

1 मध्यवर्ती १६६२ के आँकड़े ।

2 The civil employment figures include employers, those working on their own account and temporarily stopped workers. Part-time workers are counted as full units.

3 The working population figures include small members of ex-service personnel on leave after completing their service and not included in the other figures in this table,

अध्याय १८ यातायात क्रान्ति और सड़क यातायात (Transport Revolution & Road Transport)

यातायात का विकास भी औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ इङ्गलैंड में ही हुआ। किसी भी प्रकार के यान्त्रिक आविष्कार के लिये तीन महत्वपूर्ण बातों का होना आवश्यक है :—**प्रथम** पूँजी की उपलब्धि जिससे कि नवीन प्रयोग किये जा सकें। **द्वितीय**, नवीन वस्तुओं और नवीन सेवाओं की उपलब्धि। **तृतीय**, प्राविधिक योग्यता जो वस्तु के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। इस समय इंगलैंड में सड़क, रेलें, नहर तथा जहाजी यातायात के लिए उपयुक्त वातावरण था। औद्योगिक क्रांति के सूत्रपात ने इस आवश्यकता को और अधिक सम्बल प्रदान किया। सच तो यह है कि औद्योगिक क्रांति का विकास भविष्य में यातायात की सुविधाओं के विकास और उपलब्धि पर भी निर्भर करता था।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक इंगलैण्ड में उत्तम यातायात सुविधाओं का अभाव था यहाँ १५ वीं शताब्दी से ही व्यापार विकसित हुआ था जो समुद्र तटीय नगरों (लन्दन, ब्रिस्टल इत्यादि) को प्रभावित कर सका। आन्तरिक यातायात के साधन अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित दशा में ही थे। वास्तव में यातायात के साधनों का विकास यहाँ औद्योगिक क्रांति के पूरक रूप में ही हुआ है।

(१) सड़क यातायात (Road Transport)

सड़क यातायात का अत्यन्त पुराना साधन रही हैं। रोमन काल की सड़कें दीर्घकाल तक देश की आवश्यकता पूर्ति करती रही। मध्य-काल में तो ये ठीक-ठीक दशा में थी किन्तु समय निकलने से उसकी दशा धीरे-धीरे खराब होती गई क्योंकि ये कभी सुधारी नहीं गई।

अठारहवीं शताब्दी से पूर्व इंगलैंड में राष्ट्रीय मार्ग साधारण कच्चे रास्ते थे जिन पर पशुओं द्वारा माल ढोया जाता था। ये कच्चे मार्ग सन् १५५५ के अधिनियम के अन्तर्गत शासित थे जिनके अनुसार सड़कों की देख-भाल का कार्य गाँवों (Parish—वहाँ के स्थानीय शासन क्षेत्र का नाम) के अधिकारियों द्वारा की जाती थी। इन क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों को वर्ष भर में ६ दिन सड़क बनाने और सुधारने के लिए अनिवार्य श्रम करना पड़ता था। इस क्षेत्र में रहने वाले जिन व्यक्तियों की आमदनी ५० पौंड प्रति वर्ष से अधिक होती उन्हें वर्ष में ६ दिन घोड़ा-गाड़ी या अन्य व्यक्ति की सेवाएँ सड़कों के लिये देनी होती थीं। गाड़ियों का चलन सत्रहवीं शताब्दी तक बहुत कम था किन्तु व्यापार की आवश्यकताओं के कारण अब यह बढ़ रहा था।

किन्तु सड़कें संतोषजनक नहीं थीं अतः यदि इनकी दशा में सुधार नहीं किया जाता तो औद्योगिक क्रांति का चक्र अवरुद्ध हो जाता। इंग्लैंड की सरकार की प्रवृत्ति अधिकाधिक कार्य व्यक्तियों पर छोड़ने की थी। अठारहवीं शताब्दी में कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों, जमींदारों ने 'व्यक्तिगत-अधिनियम' स्वीकृत कराकर सड़कों के बनाने का कार्य अपने हाथों में लिया जिसके परिणामस्वरूप गाड़ियों के लिये यहाँ-वहाँ सड़कों का निर्माण और सुधार किया गया। इन्हीं व्यक्तियों के समूह को **"टर्न-पाइक-ट्रस्ट"** नाम से पुकारा गया, इन्हें न केवल सड़कों के निर्माण का अधिकार था वरन् इन्हें सड़क पर चलने वाले या माल ढोने वाले व्यक्तियों से कर वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त था। उस समय का जो विवरण हमें मिलता है उससे ज्ञात होता है कि देश में ११,००० 'टर्न-पाइक-ट्रस्ट' विद्यमान थे जो विभिन्न प्रकार की श्रेणियों और उत्तम सड़कों का निर्माण कर रहे थे। इसके अतिरिक्त सड़कें गाँवों के अधीन थीं। अठारहवीं शताब्दी में इन ट्रस्टों को सड़क बनाने के सामान की दुविधा थी। सड़कें बनने के बाद एक महीने से अधिक नहीं टिक पाती थीं। गाँवों के अधीन सड़कों में ६ दिन के अनिवार्य श्रम को हटाकर कर लगाने और अनाथ, दरिद्र व्यक्तियों को सड़कों पर लगाने का नियम बनाया गया। सन् १८३२ में ५२,८०० व्यक्ति २,६४,००० पौंड के व्यय पर सड़कों पर काम करने के लिए लगाये गये। कुल १,२५,००० मील की सड़कों में २०,८७५ मील सड़कें टर्न-पाइक-ट्रस्टों के अधीन थीं।

इस प्रकार की परिस्थिति में घोड़े की पीठ पर ही यात्रा करना सम्भव था। **श्री आर्थर यंग** ने अपने **दक्षिण यात्रा** ग्रन्थ में सड़कों की दुर्दशा का बड़ा आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है। सामान भी पशुओं की पीठ पर लाद कर ले जाया जाता था। इस प्रकार का यातायात महँगा पड़ता था। उदाहरण के लिये १४ सेर गेहूँ को १०० मील भेजने के लिये २० शिलिंग व्यय हो जाते थे। इस प्रकार सड़क यातायात खर्चीला, धीमा और असुविधाजनक था। सड़क यातायात के विकास की आवश्यकता निम्न कारणों से अनुभव की गई :—

(१) **राजनीतिक आवश्यकता**—देश में उस समय डाक सेवाओं की वृद्धि हो रही थी अतः देश में सड़कों के विकास की आवश्यकता थी।

(२) जो उद्योग देश में विकसित हो रहे थे उनके लिए यातायात के उन्नत साधनों का विकास आवश्यक था।

(३) किसानों को भी उत्तम सड़क यातायात की आवश्यकता थी क्योंकि उनके खेतों का विकास उत्तम सड़कों पर ही निर्भर था।

ऐसे समय टर्न-पाइक-ट्रस्टों द्वारा सड़क बनाने का कार्य अपने हाथ में लिया गया। टर्न-पाइक-ट्रस्टों द्वारा सड़कों के निर्माण की विभिन्नता ने सड़क यातायात के क्षेत्र में सुधार की आवश्यकता अनुभव की। **सड़क सुधारकों में मुख्य ये थे :—**

(१) श्री जोन लण्डन मैकेडम,

(२) श्री थोमस टेलफोर्ड,

(३) श्री जोन मेटकाफ।

इन व्यक्तियों द्वारा सड़क यातायात के निर्माण में जो सुधार किये गये वह इस प्रकार हैं :—

श्री जोन लण्डन मैकेडम एक स्काटलैंडवासी भद्र पुरुष थे जिन्हें सन् १८०० के आस-पास सड़क निर्माण में रुचि उत्पन्न हुई। उन्होंने सम्पूर्ण इङ्गलैंड और स्कॉटलैंड का भ्रमण किया और यह सीखने का प्रयत्न किया कि सड़कें कैसे बनाई जाती हैं? उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि कड़ा धरातल जिसमें पत्थर के टुकड़े दबा दिये जायँ उत्तम प्रकार की सड़क हो सकती हैं। सन् १८१६ में विस्ट्रोल के टर्न-पाइक-ट्रस्टियों ने उसे अपना सर्वेयर नियुक्त किया। जो सड़कें श्री मैकेडम ने बनाईं वे इतनी प्रसिद्ध हुईं कि दूसरे टर्न-पाइक-ट्रस्टों ने भी उसे अपना सर्वेयर नियुक्त किया और उसकी देख-भाल में सड़कों का काम चालू किया गया। उसके सड़क बनाने का ढंग इतना स्थायी और प्रसिद्ध हुआ कि सड़कों के नाम मैकेडम मार्ग (Macadamised Roads) रखे गये।

इसी प्रकार **श्री थोमस टेलफोर्ड** का नाम सड़क-निर्माण कार्य में स्मरणीय है। वह एक गड़रिये का लड़का था जिसका जन्म १७५७ में उमफ्रीशायर में हुआ। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् वह पत्थर के कारीगर के यहाँ प्रशिक्षार्थी बना और जब वह २५ वर्ष का हुआ तो पत्थर का कारीगर बनकर लन्दन गया। वह १७८७ में पब्लिक सर्वेयर नियुक्त किया गया। वह पुलें, नहरें और सड़कें बनाने में निपुण था। वह श्रोपशायर में इतना प्रसिद्ध हुआ कि सन् १८०२ में पार्लियामेण्ट ने उसे स्काटलैंड में सड़कें बनाने के लिये नियुक्त किया। सन् १८०२ से १८२३ के काल में उसने योजना-बद्ध ढंग से लगभग १०० मील लम्बी सड़कें स्कॉटलैंड में बनाईं। सन् १८१० में टेलफोर्ड से लन्दन-हौलीहेड सड़क के प्रतिवेदन के लिये कहा गया। उस समय वहाँ ७ टर्न-पाइक-ट्रस्ट कार्यशील थे तथा श्रूसबरी से लन्दन तक १७ विभिन्न ट्रस्ट कार्य कर रहे थे। उसने इन ट्रस्टों का एकीकरण किया और १८२६ तक लन्दन-होलीहेड सड़क पूर्ण हो गई।

श्री जोन मेटकाफ—वे जन्मान्ध थे परन्तु वह क्लेअर्स वर्ग और यॉर्क के बीच गाड़ी चलाया करते थे। जब सन् १७६५ में हेरोगेट से बोरोब्रिज तक टर्न-पाइक बनने का प्रस्ताव हुआ तो मेटकाफ की सहायता माँगी गई। इनका कार्य इतना अच्छा था कि अन्य ट्रस्टों ने भी इनकी सेवाओं का उपयोग किया। इस प्रकार सन् १७६५ से १७९२ की अवधि में उन्होंने १८० मील सड़कें यॉर्कशायर, लङ्काशायर, चेशायर और डरबी क्षेत्रों में बनाईं।

टर्न-पाइक-ट्रस्ट की व्यवस्था धीरे-धीरे समाप्त सी हो रही थी। वे सड़कों का निर्माण एक ढग से नहीं कर पा रहे थे। उनमें एकीकरण की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी। उपर्युक्त सुधारकों द्वारा निर्मित सड़कों ने नये युग का श्रीगणेश किया जिससे **स्टेज-काच युग (Stage Coach Age)** कहा जा सकता है। श्री टेलफोर्ड और मैकेडम ने सख्त धरातल की पद्धति का विकास किया और श्री मेटकाफ ने सुदृढ़ आधार पर सड़क-निर्माण कार्य (जिसमें नालियों की व्यवस्था हो), को प्रोत्साहन दिया। इन व्यक्तियों के कार्यों ने सड़क यातायात में वास्तविक क्रांति का श्रीगणेश किया। सन् १८३० तक लगभग २२,००० मील सड़कें उत्तम ढग की बन चुकी थीं। ट्रस्टों के एकीकरण की प्रवृत्ति तो सन् १८१५ से ही प्रारम्भ हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े ट्रस्ट बनाये गये जो अधिक साधनों में उत्तम रोड एन्जिनियरों की नियुक्ति कर सकते थे।

सन् १८३५ के राष्ट्रीय मार्ग अधिनियम ने पुराने (सन् १५५५) के अधिनियम **को समाप्त कर दिया। गाँवों को** यह अधिकार मिला कि वे पूरे समय के अधिकारी

नियुक्त कर सड़कों के काम को अधिक गतिशील बना सके हैं। इस प्रकार जब काम सुधरने लगा और ट्रस्टों का काम सुचारु रूप से चल रहा था तो रेलों के रूप में नई कठिनाई खड़ी हुई। सन् १८५० तक ट्रस्टों का काम ठीक चला परन्तु उसके बाद इनका पतन आरम्भ हो गया। सन् १८७५ तक आते-आते तो ट्रस्ट बिल्कुल ही समाप्त हो गये। सड़क यातायात के विकास कार्य को सरकार को अपने हाथ में लेना पड़ा। सन् १८८२ में मुख्य सड़कों का काम काउन्टी-कौंसिलों को और सडकों का कार्य ग्रामीण और शहरी जिला-परिषदों को सौंप दिया गया।

सन् १८६१ में अमरीका से इंग्लैंड में ट्रामें मँगाई गई अतः कुछ दिनों तक इसके विकास की गति धीमी पड़ गई परन्तु सन् १९११ तक २,५३० मील लम्बी ट्राम लाइन बिछा दी गई। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही बसों का चलना भी आरम्भ हो गया था। सन् १८६५ ई० में लोकोमोटिव-अधिनियम स्वीकृत किया गया और १९०३ में इसमें संशोधन किया गया। इसके फलस्वरूप वाष्प-चालित गाड़ियों की चाल प्रति घण्टा २० मील कर दी गई।

प्रथम महायुद्ध और सड़क यातायात

प्रथम-महायुद्ध के समय सड़क यातायात के विकास का कार्य रोक दिया या कम कर दिया गया। सन् १९१९ ई० में यातायात-मन्त्रिमंडल का निर्माण हुआ और नवीन योजना के अनुसार सड़कों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया गया—(१) ट्रंक रोड, (२) वर्ग अ, (३) वर्ग ब, (४) वर्ग स और (५) अवर्गित सड़कें। ट्रंक रोड की मरम्मत का पूरा व्यय सरकार द्वारा निर्मित सड़क-कोष द्वारा पूरा किया जाता है। इसके अतिरिक्त वर्ग 'अ' 'ब' 'स' की मरम्मत में कुल व्यय का क्रमशः ५०, ६० और ५० प्रतिशत सड़क कोष से ही दिया जाता था। शेष व्यय स्थानीय सरकार करती थीं।

इन्हीं वर्षों में सड़क-प्रबन्ध संस्थाओं को सरकार द्वारा ८४ लाख पौंड की आर्थिक सहायता दी गई। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय-सड़क उन्नति-बोर्ड को भी २५ लाख पौंड की आर्थिक सहायता दी गई।

प्रथम-विश्व-युद्ध समाप्त होने पर केन्द्रीय सड़क उन्नति बोर्ड के स्थान पर यातायात मन्त्रिमंडल की स्थापना की गई। सन् १९२० ई० में सड़कों की उन्नति के लिये : (क) विशेष कोष की स्थापना की गई। इस कोष में दो प्रकार की आमदनी जमा होती थी—**अनुमति-कर और चुंगी-कर**। यातायात मंत्रिमन्डल की स्थापना से सड़कों की दशा में महान परिवर्तन हुए। यातायात मन्त्रिमंडल के अधीन निम्नलिखित प्रकार के कार्यों को किया गया—(१) सड़कों के प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण, (२) अल्प-व्यय के लिये प्रयत्न करना, (३) सड़क निर्माण-कला की उन्नति करना, (४) नवीन पुलों का निर्माण करना, (५) सड़कों की मरम्मत करना, (६) सड़कों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना और (७) नवीन सड़कों का निर्माण। यातायात मन्त्रिमन्डल के प्रयत्न से सड़क यातायात में पर्याप्त प्रगति हुई।

सन् १९३० ई० तक मोटरों और रेलों के बीच प्रतियोगिता आरम्भ हो गई थी। इसको रोकने के लिए एक अधिनियम स्वीकृत किया गया जिसके द्वारा मोटरों के अनुमति-पत्र को स्वीकृति देने का काम यातायात कमिश्नरों के हाथ सौंपा गया। मोटर चलाने की सीमा को निर्धारित कर दिया और उसका समय और किराया भी निश्चित किया गया। सन् १९३३ में एक अधिनियम के अन्तर्गत सड़क पर माल ढोने

वाले यातायात के साधनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इन प्रतिबन्धों से विवश होकर मोटर कम्पनियों को प्रतिस्पर्द्धा बन्द कर देनी पड़ी।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्

द्वितीय विश्व-युद्ध के समय सड़कों का उपयोग बहुत अधिक होने के कारण उनकी दशा बहुत खराब हो गई थी। युद्ध के समय सरकार ने **आपत्तिकालीन सड़क-यातायात संगठन** का निर्माण किया। सन् १९४३ में सरकार ने 'Road Haulage Organisation' भी स्थापित किया था। युद्ध समाप्त होने के बाद १९४६ ई० में यातायात मन्त्रिमंडल ने एक दस-वर्षीय योजना का निर्माण किया था। सन् १९४९ में एक विशेष 'सड़क अधिनियम' पारित किया गया जिसके अनुसार माल ढोने का कार्य सुगम हो गया क्योंकि कुछ सड़कों को सुरक्षित (Reserve) कर लिया गया। अधिक यातायात के कारण ये शीघ्र नष्ट न हो सके इसका भी प्रबन्ध किया गया। सन् १९४८ में श्रमिक-सरकार ने सड़कों का राष्ट्रीयकरण का कार्य अपने हाथ में ले लिया। माल ढोने व यात्रियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये उन्हीं संस्थाओं को अधिकार दिया गया जिसे सरकार से अनुमति-पत्र प्राप्त हो।

अब सरकार सड़क यातायात के संचालन के लिये पूर्ण जागरूक है। इसने दो समितियों की स्थापना की है। प्रथम, **ब्रिटिश यातायात आयोग** तथा द्वितीय, **सड़क पर माल ढोने की कार्यकारिणी समिति (Road Haulage Executive)**। इन दोनों समितियों का कार्य सड़क-निर्माण और उसकी देख-भाल करना है। सन् १९५३ ई० में **माल ढोने का बोर्ड (Road Haulage Disposal Board)** भी स्थापित किया गया परन्तु अनुदार-दलीय सरकार ने १९५३ ई० में शासनारूढ़ होने से 'यातायात अधिनियम' स्वीकार कर सड़क यातायात को पूँजीपतियों के हाथ में दे दिया। अभी भी यही व्यवस्था चालू है।

वर्तमान स्थिति

अप्रैल सन् १९६१ में ग्रेट-ब्रिटेन में १९५, २२० मील सार्वजनिक सड़कें थीं, अर्थात् प्रत्येक वर्ग मील क्षेत्र में लगभग २ मील सड़क हैं। इसमें १३० मील मोटर योग्य सड़कें, ८३४० मील ट्रंक सड़कें, १९७५० मील प्रथम श्रेणी की सड़कें, १७६२० मील द्वितीय श्रेणी की सड़कें, ४८,९३० मील तृतीय श्रेणी की सड़कें और १,००,४५० मील अवर्गित सड़कें थीं। सड़कों का वर्गीकरण ट्रैफिक के महत्व से हैं, जो स्थानीय महत्व की सड़कें हैं वे अवर्गित हैं।

सन् १९६१ में लगभग ९९ लाख मोटरों को लाइसेन्स दिये गये जिसमें ४५ लाख मोटर कारें, १५ लाख मोटर साइकिलें (जिसमें स्कूटर भी शामिल हैं), १३ लाख ट्रकें और ९,२००० पब्लिक रोड पेसेन्जर गाड़ियाँ थीं (जिनमें बसें, ट्रौली बसें, ट्राम और टैक्सी शामिल हैं)।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मोटरों के प्रचलन में अधिक प्रगति हुई है। रेलों से प्रतिस्पर्द्धा का अनुभव भी किया गया है। सार्वजनिक सड़क-यातायात को नियंत्रित करने के लिए सर्वप्रथम १९२४ में **लन्दन ट्रैफिक अधिनियम** स्वीकार किया गया जिससे यातायात मन्त्री को बसों की संख्या और यातायात को नियन्त्रित करने का अधिकार मिला। यही अधिनियम १९३३ में **लन्दन पैसेन्जर ट्रान्सपोर्ट बोर्ड** की

स्थापना में सहायक हुआ। सन् १९२८ में रॉयल कमीशन की नियुक्ति हुई जिसे मोटर यातायात से उत्पन्न स्थिति का अध्ययन करने को कहा गया।

सन् १९३० के **सड़क यातायात अधिनियम (Road Traffic Act)** ने स्थानीय अधिकारियों को लाइसेन्स देने की पुरानी प्रथा को समाप्त कर दिया तथा देश कई ट्रैफिक क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया जिनकी संख्या अभी ११ है। वे प्रत्येक तीन ट्रैफिक आयुक्तों की देख-भाल में रखे गये (केवल लन्दन क्षेत्र को छोड़कर जो मन्त्री के हाथ में हैं)। ये आयुक्त सभी सड़कों के लिए लाइसेन्स प्रदान करते हैं तथा समय-सारिणी आदि का निर्धारण करते हैं।

इसी प्रकार माल ढोने की व्यवस्था **सड़क तथा रेल ट्रैफिक अधिनियम** से नियन्त्रित और शासित है जिसकी स्वीकृति रॉयल कमीशन की सिफारिशों पर हुई हैं। सन् १९४७ में आयुक्तों ने **ट्रैफिक अधिनियम** १९४७ के अन्तर्गत 'ए' तथा 'बी' सड़कों को अपने अधिकार में ले लिया। 'सी' और विशेष प्रकार के माल ढोने वाले लाइसेन्स प्रभावित रहे। इसी प्रकार सन् १९५१ और १९५३ में भी संशोधन किए गये। सन् १९५८ के अन्त तक १२,९०,००० माल ढोने वाली अधिकृत गाड़ियाँ **केरियर्स लाइसेन्स** के अन्तर्गत थीं।

सड़क यातायात का विकास और भविष्य

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सड़क यातायात के विकास और निर्माण की माँग जोर पकड़ती गई। सन् १९४८ के विशिष्ट अधिनियम के अन्तर्गत यातायात मन्त्री को सड़क-निर्माण का अधिकार दिया गया। केन्द्रीय सरकार का नई सड़कों और वृहद् सुधारों पर विकास व्यय बढ़ता चला जा रहा है। विगत कुछ वर्षों का आर्थिक विकास कार्यक्रम इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। सन् १९५५–५८ तक प्रतिवर्ष १४० लाख पौंड औसत व्यय नई सड़कों के निर्माण कार्य पर व्यय हुआ है। मार्च सन् १९५९ तक निर्माण कार्य पर होने वाला व्यय ५०५ लाख पौंड था। सन् १९५९-१९६० में यह ६४० लाख पौंड तथा १९६२-६३ में १०२५ लाख पौंड हुआ। वर्तमान समय में सड़क-व्यवस्था १९५९ के Highways Act द्वारा की जाती है। सन् १९६१ में वर्गीकृत विकास के लिये १५०० लाख पौंड की एक योजना प्रारम्भ की गई। सन् १९७० तक १००० मील लम्बी मोटर योग्य सड़कें बनाने का लक्ष्य है जिसमें से जुलाई १९६२ तक १७६ मील मोटर चलने योग्य सड़कें प्रयोग में लाई जा रही थीं। १२० मील निर्माण स्थिति में थी और ३०० मील के लिये टेन्डर माँगे गये। ट्रंक रोड विकास के लिए १९६१ में ५४ लाख पौंड की योजना प्रारम्भ की जो ६४ में पूरी होगी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सड़क यातायात के विकास की कहानी अठारहवीं शताब्दी के मध्य से आरम्भ होकर अभी भी समाप्त नहीं हुई है। इसके महत्त्व को सर्वाधिक रूप में माना गया है और उसके विकास के हर सम्भव प्रयत्न को प्राथमिकता दी जा रही है। किसी ने सच ही कहा है कि सड़कें राष्ट्रीय यातायात की रगें हैं।

अध्याय १६

नहर यातायात
(Canal Transport)

अठारहवीं शताब्दी में इङ्गलैंड में कोयले की आवश्यकता और माँग में वृद्धि हुई। इसके लिए सस्ता और उत्तम कोयला ढोने का उपाय खोज निकाला गया क्योंकि गाड़ियों और पशुओं से ढुलाई का कार्य सुव्यवस्थित ढंग से हो नहीं पा रहा था। सन् १७५० में लोहा-गलाने के कारखाने स्थापित हो गये थे अतः भारी मात्रा में कोयले की माँग बढ़ी। इस समय मिट्टी के बर्तनों और वस्तुओं का उद्योग भी पनपा, अतः खानों से कोयला लाना आवश्यक हो गया। इसी समय देश में लकड़ी का दुर्भिक्ष पड़ा जिससे वस्त्र उद्योग और घरों में ईंधन हेतु कोयले की आवश्यकता उत्पन्न हुई। लङ्काशायर के लिये यह अनिवार्य हो गया कि उसे भारी मात्रा में कपास और हजारों गज कपड़ा मैनचेस्टर से सुरक्षित भेजने की आवश्यकता अनुभव हुई। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि सर्वप्रथम नहर उत्तर में खोदी गई जहाँ सड़कें भी खराब थीं। यह कहना कुछ कठिन है कि औद्योगिक क्रांति ने यातायात के सुधरे साधनों को जन्म दिया या यातायात के साधनों ने औद्यौगिक क्रांति को जन्म दिया। सच तो यह है कि एक ने दूसरे को प्रभावित किया है। सड़कों का सुधार या निर्माण इसलिए किया गया कि यातायात में वृद्धि हो परन्तु नहरों का विकास इसलिए किया किया गया कि वे कोयले की माँग की वृद्धि से लाभदायक सिद्ध होंगी। यदि कोयला उपलब्ध न होता तो छोटे-छोटे कारखाने कभी विशालकाय कारखानों का स्वरूप धारण न करते।

ब्रिटिश नहरों के इतिहास को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :— (१) १७६०-१८३० ई० (२) १८३०-१९१४ (३) सन् १८१४ से वर्तमान काल।

(१) **१७६०-१८३० ई० का नहर विकास काल**—सर्वप्रथम **ड्यूक ग्राफ ब्रिज वाटर (Duke of Bridgewater)** ने ब्रिण्डले (Brindley) नामक इंजीनियर की सहायता से वर्सले से मैनचेस्टर तक नहर बनाई क्योंकि इस क्षेत्र में यातायात के लिए नहरों की अधिक आवश्यकता थी अतः ड्यूक ने पहली नहर की सफलता से प्रभावित होकर दूसरी नहर बनाई जो मैनचेस्टर से रनकोर्न और लिवरपूल तक जाती थी। इन दोनों नहरों की सफलताओं से प्रभावित होकर अन्य उद्योग-पतियों ने भी मध्यवर्ती भागों में नहरों का निर्माण प्रारम्भ किया। वे नहरे ट्रेण्ट, कर्से, स्टेफर्डशायर, ओरशेस्टरशायर, बर्मिघम, कवेण्टरी और आक्सफोर्ड के नाम से प्रसिद्ध हुई। **ग्रान्ड-जंकशन नहर** (जो लन्दन को मध्यवर्ती भागों से जोड़ती हैं) १७९३ में बनी। इस शताब्दी के अन्तिम चरण में तो नहरों का उन्माद सा सवार हो

गया और निजी कम्पनियों द्वारा (१७६३ से १७६७ तक) इंग्लैंड में आन्तरिक जल-मार्ग के रूप में नहरों का जाल सा बिछा दिया गया। सन् १८३० ई० तक लगभग ३४०० मील तक नहरें बन चुकी थीं। इन नहर-निर्माण कम्पनियों ने संसद से एक अधिनियम स्वीकृत कराया जिसके अन्तर्गत उन्हें नहर-यातायात पर कर लगाने का अधिकार मिला। अतएव जो व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से नहरों को खुदवाता था, वह उन लोगों से कर वसूल कर सकता था जो उन नहरों का प्रयोग करता। स्काटलैण्ड में दो नहरों—केलडोनियम और क्रीनन—की खुदाई सरकारी सहायता और पूँजी से की गई थी, पर इन नहरों से सरकार को कोई लाभ नहीं हुआ। इसलिये, सरकार ने नहरों की खुदाई का भार अपने ऊपर से हटा दिया।

नहरों की खुदाई का कार्य शीघ्रता से हुआ। नहर-कम्पनियों को पर्याप्त लाभ हुआ। उनके अंशों के मूल्य में वृद्धि हुई। यह समय नहर-यातायात के विकास का स्वर्ण-युग कहलाता है इस प्रकार के विकास से औद्योगिक और व्यापारिक प्रगति भी अधिक तेजी से हुई क्योंकि यातायात का एक सस्ता साधन उपलब्ध हो गया था। यह अनुमान लगाया गया है कि नहरों का किराया सड़कों के किराये का चौथाई था। इनके बनने से कृषि को भी प्रोत्साहन मिला। नहरों ने अप्रत्यक्ष रूप से सड़कों को भी सहायता दी। सड़कें उस समय इतनी खराब थीं कि उन पर आना-जाना व माल ढोना कठिन था अतः नहरें इंग्लैंड के कई भागों के लिये वरदान स्वरूप सिद्ध हुईं। कई भागों में भूमि की कीमतें नहरों की प्रगति से बढ़ गई। अविकसित प्रदेशों की औद्योगिक सम्भावनाओं को भी नहरों से सहायता मिली तथा नये नगरों का निर्माण भी सम्भव हो सका।

नहरों से सभी प्रकार के श्रमिकों को रोजगार मिला। १८ वीं शताब्दी में **साऊथ सी बबल** (South Sea Bubble) के कारण पूँजी अपने नियोजन का मार्ग ढूँढ़ रही थी। नहरों ने पूँजी नियोजन का उपयुक्त अवसर प्रदान किया। ज्यों ही प्रारम्भिक नहरों की सफलता का चित्र सामने आया लोग नहर-निर्माण की ओर बहुत अधिक आकर्षित हुए। सन् १७६१ से ६४ ई० का काल नहरों के चरमोत्कर्ष का काल था। इस अवधि में इतनी नहरें बनाई गईं जितनी माल ढोने के अनुपात में आवश्यक नहीं थीं। परिणाम यह हुआ कि नहरों से प्राप्त आय गिरने लगी।

(२) १८३० से १९१४ ई० तक नहर-विकास काल—इस काल में नहरों के विकास को आघात लगा। यही कारण है कि इस काल को नहरों के पतन का काल कहा जाता है। नहरों का निर्माण केवल व्यावसायिक दृष्टि से किया गया था और इसीलिए कम्पनी देश के लाभ की अपेक्षा व्यक्तिगत लाभ पर अधिक ध्यान देती थी। शताब्दी के अन्तिम चरण तक कम्पनियों ने नहर-निर्माण से पर्याप्त लाभ उठाया। रेलों और जहाजों के विकास से नहरों का विकास ठप्प हो गया। सन् १९०६ में नहरों तथा अन्तर-देशीय जलमार्गों का अध्ययन करने के लिए सरकार ने एक आयोग की स्थापना की। आयोग ने परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् जो प्रतिवेदन सरकार के सामने प्रस्तुत किया उसमें यह विचार प्रकट किया कि आधुनिक समय में नहरों का विकास कार्य सम्भव नहीं है। आयोग के इस प्रतिवेदन के पश्चात् नहरों द्वारा यातायात बहुत ही कम हो गया।

नहरों के पतन के कारण—इस काल में नहरों के महत्व में कमी के कई कारण थे :—

(१) इंग्लैंड की नहर-कम्पनियाँ केवल नहर का प्रयोग करने वालों से कर वसूल करती थीं। वे स्वयं माल ढोने का कार्य सम्पादित नहीं करती थीं। कोई भी व्यक्ति कर चुका कर अपनी नाव नहरों में चला सकता था। इसके विपरीत रेल कम्पनियाँ माल ढोने और क़िराया वसूल करने का कार्य दोनों ही स्वयं ही करती थीं। अतः रेल-कम्पनियों की प्रतिस्पर्द्धा में नहर कम्पनियों का टिका रहना सम्भव नहीं हो सका।

(२) चूँकि नहरें व्यक्तिगत कम्पनियों द्वारा विभिन्न समयों में बनाई गई थीं अतः उनकी चौड़ाई और गहराई आदि में बहुत ही अन्तर था। परिणाम यह हुआ कि उन सबमें बड़ी नाव या जहाज चलाना सुविधाजनक नहीं रहा। कुछ नहरें तो बिल्कुल ही बेकार हो गयीं।

(३) नहर-कम्पनियों ने युग की माँग के अनुरूप नहरों के विकास और आविष्कारों की ओर ध्यान नहीं दिया।

(४) रेलों के डिब्बे कोयले की खानों तक जाकर कोयला ढो सकते थे किन्तु नहर यातायात यह सुविधा नहीं थी। व्यापारिक दृष्टिकोण से नहरों तक माल ढोना और वहाँ से पुनः उपयोग के स्थान तक माल ले जाने का दोहरा व्यय युक्ति-संगत नहीं था।

(५) मक्खन, पनीर, दूध, फल, ऐसी वस्तुएँ थीं जिनके लिए शीघ्रगामी यातायात की आवश्यकता थी। नहरों की अपेक्षा रेल इसके लिए अधिक उपयुक्त थीं।

(६) कोयले को सुरक्षित रखने के लिए पहले से गोदामों की आवश्यकता कम हो गई क्योंकि रेल के डिब्बों में उसे रखा जाता था और आवश्यकता पड़ने पर वहाँ से मँगवा कर उपयोग में लाया जाता था। नहर यातायात में यह सुविधा उपलब्ध नहीं थी।

(७) नहरों द्वारा केवल बड़ी मात्रा में ही माल का मँगाना लाभप्रद हो सकता था परन्तु रेल द्वारा थोड़ा सामान भी कम खर्चे में आसानी से भेजा जा सकता था।

(८) रेल-यात्रा में नहरों की अपेक्षा कम समय लगता था तथा यात्रियों के आराम के लिए उत्तम व्यवस्था था।

(९) रेल के आने-जाने का समय निश्चित था पर ऐसी नियमितता नहर यातायात में सम्भव नहीं थी।

(१०) सरकारी नियन्त्रण रहने पर भी बहुत-सी नहरों पर रेल कम्पनियों का अधिकार हो गया था इसी कार्य के लिए १८७३ ई० में रेल और नहर-आयोग की स्थापना की गई थी।

(११) तटीय स्टीमरों के प्रचलन से नहरों द्वारा भेजा जाने वाला माल अब इनके द्वारा भेजा जाने लगा। इससे भी नहरों को घाटा हुआ।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से नहर-यातायात का शनैः-शनैः ह्रास होता गया।

(३) **१९१४ से वर्तमान काल तक**—प्रथम विश्व-युद्ध के समय नहरों का महत्व पुनः अनुभव किया गया। परन्तु यह अस्थायी था। युद्धोपरान्त काल में नहरों का पतन फिर से आरम्भ हो गया। सरकार ने नहरों के महत्व को बनाये रखने के

लिए १६२१ तथा ३१ में सार्वजनिक ट्रस्ट बनाने की योजना प्रस्तुत की परन्तु वह किन्हीं कारणों से सफल नहीं हो सकी। रेल कम्पनियों द्वारा सन् १६४७ तक एक तिहाई नहरें अपने अधिकार में ले ली गईं। सन् १६४६ में श्रमदलीय सरकार ने नहरों का राष्ट्रीयकरण कर लिया अब लगभग सभी नहरों का प्रबन्ध ब्रिटिश-यातायात-आयोग के आधीन है। यहाँ २,६०० मील लम्बे नहर मार्ग है जिसमें १६-५३ में १३७ लाख टन माल नहरों द्वारा ढोया गया।

इतने उत्थान-पतन के युग के पश्चात् नहर-यातायात का नियन्त्रण और नियमन सरकार ने अपने हाथ में लेकर उसकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया है।

नहर-यातायात से निम्नलिखित लाभ हुए हैं :—

(१) व्यापार और उद्योगों को अधिक प्रोत्साहन मिला है।

(२) नहर यातायात द्वारा अनाज का वितरण व्यवस्थित किया गया जिससे कृषि को सहायता मिली तथा उस समय उत्तरी-भाग के नगर जीवित रखे जा सके।

(३) नहर यातायात से जनसंख्या का सम्यक् विभाजन हो गया।

(४) नहर-यातायात से बन्दरगाहों के विकास का कार्य अधिक बढ़ा।

(५) श्रमिकों को एक नवीन प्रशिक्षण प्राप्त हुआ जिससे वे अच्छे मल्लाह बन सके।

(६) नहर यातायात ने व्यापारिक यात्राओं और यात्रियों को भी प्रोत्साहन दिया। यही संक्षेप में नहर-यातायात के विकास की कहानी है।

इस समय २,६०० मील जो नहरें हैं उनमें से २१४१ मील "ब्रिटिश यातायात आयोग" के अधीन हैं। २६८ मील मार्ग नहरी यातायात के लिए बंद कर दिया गया है तथा शेष १८४३ मील नहरी-मार्ग यातायात के लिये खुला है जिसमें ११६२ व्यापारिक उपयोग के लिए खुला है। सन् १६५५ से इनका संचालन अलग से "ब्रिटिश वाटरवेज" आयोग द्वारा किया जाता है। सन् १६६१ में नहरों द्वारा ढोया गया भार ६३ लाख टन था जिसमें ३६ लाख टन कोयला; २२ लाख टन लिक्विड्स और ३२ लाख टन साधारण सामान माल था। "ब्रिटिश वाटरवेज" नहरों के क्षेत्र में सबसे प्रमुख साधन है। सन् १६५६ में इसके विकास के लिए एक पंचवर्षीय योजना बनाई गई। इस योजना के अन्तर्गत ६० लाख पौंड नौ-वहन पर खर्च किये जायेंगे। सन् १६५५ से ७,५०,००० पौंड माल गोदाम सुविधाओं पर व्यय किया जा चुका है। सन् १६५६ में एक सर्वे समिति स्थापित की गई। सन् १६५६ में सरकार ने उपर्युक्त समिति की सिफारिशों के आधार पर नहरों को उन्नत करने का प्रयत्न आरम्भ किया। सन् १६६२ तक १६५६ की कार्यान्वित योजना का ७५% भाग पूरा हो चुका है। सन् १६६२ में नहर योजना पर ५ लाख पौंड व्यय हुआ। यह योजना १६६३ के अन्त तक पूरी हो जायगी। सन् १६५६ में 'आन्तरिक जल यातायात पुनः विकास समिति' ७०० मील लम्बी नहरों के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए घोषित की गई। सन् १६६१ में नहरों से कुल ४·७ मि० पौंड आय हुई।

इस प्रकार आधुनिक काल में नहर-यातायात का महत्व और बढ़ गया है।

अध्याय २०

रेल यातायात
(Railway Transport)

ब्रिटेन विश्व में रेल-यातायात का जन्मदाता कहा जा सकता है। सर्वप्रथम स्टॉकटन और डर्लिंगटन के मध्य १८२५ में रेल मार्ग का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् लिवरपूल तथा मैनचेस्टर लाइनें १८३० में बनाई गई; जबकि जार्ज स्टीफेन्सन के प्रसिद्ध राकेट एन्जिन का उपयोग हुआ उसी घटना के साथ रेल विकास की शताब्दी का श्रीगणेश हो जाता है। रेलों ने यातायात के क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी तथा यातायात के सस्ते साधन का सूत्रपात किया। वाष्प-एंजिन ने प्रत्येक औद्योगिक क्षेत्र में क्रांति की। रेल यातायात से जो लाभ उस समय प्राप्त हुए वे इस प्रकार हैं :—

(१) रेलों ने श्रमिकों के लिए अनेक नये कार्यों का श्रीगणेश किया।

(२) रेलों के विकास ने नवीन नगरों को जन्म दिया।

(३) माल को दूरी तक ढोने की सुविधा ने यातायात का मूल्य सस्ता कर दिया। भारी और सस्ते पदार्थ अब पर्याप्त दूरी तक भेजे जा सकते थे। इस प्रकार उन पदार्थों का बाजार अधिक विस्तृत हो सका।

(४) रेलों द्वारा व्यापारिक नियमितता का विकास हुआ। उत्पादकों और उपभोक्ताओं को इससे बड़ी सुविधा मिली।

(५) यातायात की नियमितता ने माल-गोदाम व्यय को कम कर दिया। अब माल को अधिक जमा और संग्रह की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि जब भी कमी हो वह रेलों द्वारा मँगाया जा सकता था। रेलों का इस प्रकार विकास किया गया कि वे फैक्टरियों के दरवाजे पर माल की पूर्ति कर पाती थीं।

(६) रेल यात्रा को सस्ता और सुगम बना दिया गया अतः लोगों की गतिशीलता में वृद्धि हुई। इससे व्यापारिक कार्य-कलापों के क्षेत्र में वृद्धि हुई।

(७) रेलों ने विशिष्टीकरण की प्रक्रिया को पर्याप्त सहायता पहुँचाई। कुछ उद्योगों ने अपने को कुछ विशिष्ट प्रकार के उत्पादन में निपुण बना लिया और रेलों के माध्यम से जहाँ उसकी आवश्यकता होती भेज देते थे। इस प्रकार उद्योगों का घनापन कम हुआ।

(८) रेलों ने लौह-इस्पात की माँग को भी अधिक प्रोत्साहन दिया। उन्होंने इस प्रकार उद्योगों के निर्माण को सहयोग दिया।

सड़कों और नहरों के समान ही रेल यातायात का प्रारम्भिक विकास व्यक्तिगत व्यवसायियों द्वारा किया गया था। इस देश के रेल-यातायात विकास में यूरोप महाद्वीप से विशेषताएँ पाई जाती हैं। ये विशेषताएँ निम्नांकित हैं :—

(१) रेलों के विकास काल में राज्य की सहायता और संरक्षण का सर्वथा अभाव था जबकि फ्रान्स और जर्मनी में सड़क और नहर यातायात के समान रेलों का विकास करना राष्ट्रीय जिम्मेदारी थी न कि व्यक्तिगत।

(२) इंग्लैंड में रेलों के विकास में व्यापारिक दृष्टिकोण मूल कारण था किन्तु फ्रान्स, जर्मनी, प्रशा और रूस में सैनिक तथा सुरक्षात्मक दृष्टिकोण मुख्य कारण था। भारत में भी अँग्रेजों द्वारा और रेलों का निर्माण सैनिक और सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से ही किया गया।

(३) विश्व की समस्त रेलों से इंग्लैंड की रेलों में प्रति मील अधिक पूँजी लगी थी। प्रति मील रेल लाइन बिछाने में इतना अधिक खर्च होने के कई कारण थे जैसे विरोध को दबाने का व्यय, नहरों से होने वाली प्रतिस्पर्द्धा को दबाने का खर्च और भूमि का अधिक मूल्य इत्यादि। इसके अतिरिक्त पटरियों को अधिक मजबूत बनाने के लिए भी अधिक पूँजी लगानी पड़ी थी। फ्रान्सिस ने रेल कम्पनियों द्वारा चुकाये गये प्रति मील भूमि के मूल्य को इस प्रकार बताया है :—

कम्पनियाँ	मूल्य प्रति मील पौण्ड में
(१) लन्दन तथा सा० वेस्टर्न रेल्वे	४,०००
(२) लन्दन-बर्मिघम रेल्वे	६,३००
(३) ग्रेट वेस्टर्न रेल्वे	६,०९६
(४) लन्दन तथा ब्राइटन रेल्वे	८,०००

(४) इंगलैंड में छोटे-छोटे पैमाने पर रेल मार्ग खोले गये थे जबकि और देशों में बड़े पैमाने पर।

(५) इंगलैंड में रेलों के प्रारम्भिक विकास में देशी पूँजी ही काम में ली गई थी जबकि यूरोपीय देशों और भारतवर्ष में विदेशी पूँजी भी लगाई गई थी।

(६) इंगलैंड में रेलों के विकास का घोर विरोध किया गया और तरह-तरह के तर्क प्रस्तुत किये गये। रेल-पथों के कारण लोहा कम मिलने का भय दिखलाया गया और यह कहा गया कि घोड़े भाग उठेंगे, गायें दूध नहीं देंगी, साग-पात पैदा होना बन्द हो जायगा।

(७) रेलों के विकास ने नहरों के महत्व को समाप्त कर दिया परन्तु फ्रांस, जर्मनी और बेल्जियम में रेलों के साथ-साथ नहरों का भी विकास हुआ।

(८) इंगलैंड में प्रति मील रेलों का व्यय अधिक पड़ता था क्योंकि यहाँ रेल लाइनें छोटे-छोटे पैमाने पर बिछी हुई थीं। इंगलैंड में कोई स्थान बन्दरगाह

से ६० मील से अधिक दूर नहीं था। यही कारण था कि यात्रा की दूरी कम ही हुआ करती थी।

(६) इंगलैंड के पश्चिम में भूमि अधिक पथरीली थी, अतः वहाँ पटरियों के बिछाने के लिए विशेष यान्त्रिक-कला की आवश्यकता होती थी। उसमें प्रति मील अधिक खर्च पड़ता था। संयुक्त-राज्य अमेरिका का मध्य भाग और जर्मनी का उत्तरी भाग रेलों की पटरी बिछाने के लिये अधिक उपयुक्त थे।

(१०) इंगलैंड की रेलों की एक विशेषता यह भी थी कि कम्पनियाँ पटरियाँ बिछा दिया करती थीं और उन पर कोई भी व्यक्ति अपनी गाड़ी चला सकता था। इसके लिए गाड़ी वाले को कर चुकाना पड़ता था।

(११) इंगलैंड की रेलों की कर-प्रणाली भी असाधारण थी। इसमें निम्न कर सम्मिलित थे :—

(अ) सड़क कर। (आ) गाड़ी खींचने का कर। (इ) रेल बैगनों का किराया। (ई) संग्रह और अदायगी कर। (उ) उतारने, चढ़ाने, ढकने और खोलने की लागत। (ऊ) स्टेशनों की लागत।

यदि कोई व्यक्ति उनमें से कोई भी कार्य स्वयं करता तो उसका वह कर काट दिया जाता था।

रेलों का ऐतिहासिक विकास

इंगलैंड में रेलों के विकास को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) १८२१ से १८४४ तक प्रयोगों का काल, (२) १८४४ से १८७२ तक एकीकरण का काल, (३) १८७३ से १८९४ तक एकाधिकार का काल। (४) १८९४ से १९१४ तक पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का काल, (५) १९१४ से १९१९ तक प्रथम-युद्ध का काल, (६) १९१९ से १९३९ तक युद्धोपरांत काल, (७) १९३९ से १९४५ तक द्वितीय महायुद्ध का काल, (८) १९४५ से १९६२ तक का काल।

(१) प्रयोगों का काल (सन् १८२१ से १८४४)—कोयले ने ही नहर यातायात को जन्म दिया और कोयले ने ही रेलों को जन्म दिया। किन्तु सत्रहवीं शताब्दी में लकड़ी की पटरियाँ कोयला खानों से नदियों तक बिछाई गईं थी किन्तु सन् १७६७ के पश्चात् लोहे की पटरियाँ प्रतिस्थापित की जाने लगीं। ये पटरियाँ कोयला क्षेत्रों से नहरों को जोड़ती थीं और व्यक्तिगत लाइनें थीं जो कोयला खानों द्वारा ही उपयोग की जाती थीं। सन् १८०१ में पहले पर्यवेक्षण के रूप में एक मार्ग क्रोयडोन और वेन्डसवर्थ के बीच खोली गई जिस पर जनता किसी भी प्रकार का सामान ले जा सकती थी। वह घोड़ों से चलाई जाती थी। यह प्रयोग आर्थिक रूप से लाभदायक और सफल सिद्ध नहीं हुआ। कुछ क्षेत्रों में इस बात का भी प्रयत्न किया गया कि वाष्प चालित एन्जिनों द्वारा सामान ढोया जाये। पहले यह अनुभव किया गया था कि समतल पहियों से माल ढोने में कठिनाई होगी अतः दाँतेदार पहियों का प्रयोग किया गया। सन् १८१४ में हेडले वायलम कोयला खान और **जार्ज स्टीफेन्सन,** किलिंग वर्थ खान ने वाष्प चालित रेलों का एन्जिन गोल और चिकने पहियों वाला बनाया जो पर्याप्त भार खींच सके।

सन् १८२१ ई० में स्टोकटन और डार्लिंगटन के मध्य रेल लाइन बनाने के लिये अधिनियम स्वीकृत किया गया। यह रेल पथ कोयले को बन्दरगाह तक ले जावे

के लिए बनाया गया था। यह प्रथम रेल्वे लाइन थी जिस पर यात्री और सामान दोनों ढोये गये थे। सन् १८२३ में इस अधिनियम में संशोधन किया गया और १८२५ में नई रेल लाइन खुली। सामान एन्जिनों से ले जाया गया किन्तु यात्रियों को ले जाने के लिये घोड़ों की सहायता ली गई। सन् १८३० में लीवरपूल और मैनचेस्टर रेल-कम्पनी ने भी गमनागमन के लिये वाष्प-चालित एंजिन का व्यवहार किया। उत्तर में नहरों की कमी के कारण इस कम्पनी को बहुत सफलता मिली। यह प्रथम रेल कम्पनी थी जिसने नहरों को भारी धक्का पहुँचाया था और नहरों की अवनति का सूत्रपात किया था।

सन् १८३० ई० में स्टेवेस-राकेट लाइन खोली गई। इस रेलवे कम्पनी ने प्रथम वर्ष में ही अपने अंशधारियों को ८ प्रतिशत की दर से लाभांश दिया था। यह कम्पनी नहरों और सड़कों से सस्ते किराये पर माल तथा यात्रियों को ढोया करती थी। सामान को ढोने की भी अधिक सुविधा प्राप्त थी। इस कम्पनी की सफलता को देखकर और भी बहुत सी नई-नई रेलवे लाइनें बिछाई गईं। सन् १८३६ में २९ रेल्वे लाइनों को आज्ञा-पत्र मिला। सन् १८३८ ई० तक ११२ मील लम्बी रेल-लाइन बिछ चुकी थी। सन् १८४३ ई० तक पटरियाँ बिछाने की एक बीमारी सी फैल गई थी। अधिक लाभ होने के कारण इस कार्य में काफी पूँजी लग चुकी थी। अधिक लाभ होने के कारण रेल कम्पनी के शेयर-मूल्यों में अधिक वृद्धि हो गई। नयी-नयी रेल कम्पनियों के शेयर प्रीमियम पर बेचे जाने लगे, ऐसी परिस्थिति में १८४५ ई० तक देश में आर्थिक-संकट आगया। संकट का कारण इङ्गलैंड के बैंक द्वारा ब्याज दर में परिवर्तन का किया जाना था। इससे बहुत सी रेल कम्पनियों का दिवाला निकल गया। अंशों के मूल्य में गिरावट हुई। लाखों परिवार निर्धन हो गये। बहुत से लोग इङ्गलैंड छोड़कर अमेरिका और यूरोप में जा बसे। कहा जाता है कि बहुत से लोगों ने आत्म-हत्या तक कर ली।

सन् १८४० में ही संसद इस नये प्रकार के यातायात के महत्व को स्वीकार करने लगी थी और उसके पश्चात् वार्षिक समितियों और आयोगों की नियुक्ति करना एक क्रम सा बन गया। एक **व्यापार-मण्डल (Board of Trade)** भी स्थापित किया गया जिसके अधिकार सन् १९४४ में और भी बढ़ा दिये गये। नई रेल लाइनों के खुलने की आशा के बाद सभी कार्यवाही और स्वीकृति में मण्डल का हाथ था। दुर्घटनाओं का विवरण भी एक आवश्यक शर्त थी। इस समय देश का जनमत और राज्य व्यापार मंडल के पक्ष में नहीं था। अतः मंडल को अधिक सफलता नहीं मिली। सन् १८४४ में एक विधान स्वीकृत हुआ जिसके अन्तर्गत रेल कम्पनी की लाभांश दर १० प्रतिशत से अधिक होने पर उसकी कर-दर में परिवर्तन किया जा सकता था। उस वर्ष के बाद बनी रेल राज्य कोष द्वारा क्रय किये जाने की व्यवस्था थी। उपर्युक्त विधान के अनुसार प्रत्येक रेलगाड़ी को निश्चित समय पर रवाना होना और निश्चित समय निश्चित स्थानों पर पहुँचना अनिवार्य था। उस समय तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए प्रति मील एक पेन्स किराया निश्चित किया गया।

(२) रेल के एकीकरण का युग (१८४४-१८७२ ई०)—सन् १८४४ तक प्रयोगों का काल समाप्त हो गया था। इस काल में रेल के एकीकरण करने की दिशा में महत्वपूर्ण सुधार किये गये। इस समय की दो महत्वपूर्ण घटनाएँ सभी रेल-लाइनों को मिलाकर ट्रक लाइन बनाना और नहरों का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी के रूप में पतन था। संसद ने सन् १९५४ में एक अधिनियम द्वारा व्यापार-मण्डल के अधिकार-

क्षेत्र को बढ़ा दिया। सन् १८४४ से एकीकरण (Consolidation) की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।

वर्ष	नई लाइनें	एकीकरण अधिनियम	क्रम और लीज अधिनियम
१८४४	५७	३	७
१८४५	६४	३	१८
१८४६	२१६	२०	१६
१८४७	११२	६	२०
१८४८	३७	५	७
१८४६	११	२	४
१८५०	५	१	५

इस कार्य में जिस व्यक्ति ने सबसे अधिक प्रेरणा दी वह था **जार्ज हडसन** (**George Hudson**) जिसे रेलों के राजा (The Railway king) की संज्ञा दी गई थी। उसके अनुसार रेलों की कुशलता, सुविधा एवं यात्रा के लिये एकीकरण अत्यन्त आवश्यक था। सन् १८४५ से १८४७ तक देश में नये रेल-मार्ग खोलने का उन्माद सा सवार हो गया। हडसन के कार्यों से रेलों में आर्थिक-विकास का काल आरम्भ हुआ। उसमें एक योग्य अर्थ-विद, प्रशासक और व्यवस्थापक के गुण थे। सभी स्थानों पर रेलों का जाल-सा बिछ गया। १८५० तक ग्रेट-ब्रिटेन में ६,६२१ मील लाइनें थीं। सन् १८४२ से ७० तक का रेल विकास निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

लाइनें जो ३१ दिसम्बर तक खोली गईं

सन्	मील	सन्	मील
१८४२	१८५७	१८५०	६६२१
१८४३	१९५२	१८५१	६८६०
१८४४	२१४८	१८५२	७३३६
१८४५	२१४१	१८५३	७६६८
१८४६	३०३६	१८५४	८६५४
१८४७	३९४५	१८६०	१०,०००
१८४८	५१२७	१८७०	१५,०००
१८४६	६०३१		

निकास-गृहों (Clearing Houses) की सुविधा से भी कम्पनियों के बीच समझौतों का सुअवसर प्राप्त हुआ। सन् १८४६ ई० में ५० व्यक्तियों की एक समिति संगठित की गई जिसका कार्य था एकीकरण के कारण होने वाली बुराइयों को सरकार के सामने रखना। पर समिति को सफलता नहीं मिली। अतः सन् १८५१ में इस समिति को भङ्ग कर दिया गया।

सन् १८५४ ई० में **कार्डवेल विधान** स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार बिना बदले यात्रा करने की सुविधा और विस्तृत हो गई। रेल-कम्पनियों के ऊपर नियन्त्रण रखने की दृष्टि से १८६७ ई० में इंग्लैंड की सरकार ने एक आयोग की स्थापना की

जिसके अनुसार एक निश्चित विधि से हिसाब रखना रेल-कम्पनियों के लिए आवश्यक हो गया।

(३) **राज्य नियन्त्रण का विकास काल (सन् १८७३ से १८९३)**—इस तेईस वर्ष के काल में रेलों ने पर्याप्त प्रगति की थी किन्तु अब यह निश्चित हो गया था कि बिना राज्य के नियंत्रण के लागतों और दरों में सुधार होना सम्भव नहीं था। सन् १८७३ में एक विशेषज्ञ समिति बनाई गई जिसका कार्य रेलों को नियंत्रित करना था। कुछ सीमा तक रेलों को नियन्त्रण में लिया भी गया किन्तु बाद में यह समिति सन् १८८८ में अतिरिक्त अधिकार दिये जाकर स्थायी बना दी गई। सरकार ने सन् १८८८ और १८९४ के बीच अधिकतम दरें निर्धारित कर दीं।

राज्य-नियन्त्रण और हस्तक्षेप का जो युग आरम्भ हुआ था उसका कारण सरकार का यह डर था कि एकाधिकार और एकीकरण की प्रवृत्ति स्थायी न हो जाय। सन् १८७१ में एकीकरण सम्बन्धी ९ बिल संसद में प्रस्तुत किए गए। उसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८७२ में एक आयोग की स्थापना की गई। रेल कम्पनियों ने भेद-भाव का भी व्यवहार करना आरम्भ कर दिया था। एक व्यापारी से कम और दूसरे व्यापारी से एक ही दूरी के लिए अधिक किराया लिया करती थीं। इस प्रश्न की जाँच के लिए सन् १८७३ ई० में पाँच वर्ष के लिए विशेष रेल-नहर-समिति की स्थापना की गई। इस समिति के अधीन ये कार्य सौंपे गये :—

(१) बिना बदले यात्रा में उचित किराये का निश्चय करना,
(२) रेलों के विलयन या एकीकरण की जाँच करना,
(३) रेलों द्वारा नहरों की देख-भाल करना, तथा
(४) भेद-भाव के प्रश्न की जाँच करना।

इस समिति का कार्य-संचालन सरल नहीं था। इस समिति के सामने किसी भी प्रकार की शिकायत करने का शुल्क बहुत अधिक था। इस समिति से यह लाभ हुआ कि नहरों पर रेलों का पूर्ण अधिकार होना रुक गया। सन् १८८८ में एक विधान स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार किराये की प्रणाली को फिर से संशोधित किया गया। विधान के अनुसार रेल कम्पनी को प्रति ६ माह पर मालों की संशोधित वर्गीकरण-तालिका और अधिकतम किराए का एक विवरण बोर्ड ऑफ ट्रेड के पास भेजना आवश्यक हो था। इस विधान के अनुसार रेलें और नहर-समिति को नए ढंग से संगठित किया गया। व्यापार-मंडल ने अपने आयोग के सामने शिकायत लाने की विधि में बहुत सुविधा लादी। शुल्क-सूची, वृद्धि-शुल्क सूची, टरमिनल-किराया आदि बातों में सूचना देना आवश्यक था। व्यापार-मंडल के रेल-किराया निश्चय करने का सिद्धान्त था "उतना किराया जितना यात्री दे सके (Ability to Pay)।" इस सिद्धान्त के फलस्वरूप रेल की भाड़ा दर सस्ती हो गई और रेल कम्पनियों को कुछ विशेष मालों पर अधिक किराया लेने का अधिकार भी प्राप्त हो गया।

सन् १८९४ में एक अधिनियम स्वीकृत किया गया जिसके अनुसार यदि रेल कम्पनियाँ सन् १८९२ के रेल किराए को बढ़ाना चाहें तो उन्हें प्रमाण देना पड़ता था कि उनका ऐसा करना उचित था। सेवा-कार्य के खर्च में वृद्धि होने पर किराए में वृद्धि की जा सकती थी। पर यह वृद्धि निम्नतम सीमा के अन्दर ही की जा सकती थी। सन् १८९४ के बाद रेल-कम्पनियों के बीच सुविधा देने की प्रतिद्वन्दिता आरम्भ होगई।

(४) **पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का काल (१८९४–१९१४ तक)**—बीस वर्ष का यह काल कई कारणों से महत्वपूर्ण माना जाता है जैसे :—

(१) इस काल में रेल के व्यय में तो वृद्धि होती गई परन्तु लाभांश दरों में ह्रास प्रारम्भ हो गया।

(२) उपर्युक्त दोष को दूर करने के लिए एकीकरण और विलयन को सही मार्ग समझा गया जिससे कड़ी प्रतिस्पर्द्धा से मुकाबिला किया जा सके।

(३) इस एकीकरण प्रक्रिया के साथ श्रमिक-संघ आन्दोलन का प्रश्न भी उठा। सन् १९०० में टेफबेल रेल कम्पनी के श्रमिकों ने हड़ताल कर दी। उनकी माँग थी कि मजदूरी में वृद्धि की जाय तथा काम करने के समय को घटाया जाय। इस हड़ताल का फल यह हुआ कि रेल-कर्मचारियों के श्रमिक-संघ कोष को कम्पनी की हड़ताल के कारण होने वाली क्षति को पूरा करने के लिए जब्त कर लिया गया। उससे श्रमिक आन्दोलन को आघात लगा।

(४) रेल कम्पनियों में संगठन हो जाने के कारण व्यापारियों तथा यात्रियों की सुविधाएँ कम होने लगीं थीं और रेल श्रमिकों को भी घाटा होने लगा। श्रमिक भी आपस में संगठित होने लगे। आम जनता और श्रमिकों ने रेल-कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की माँग की। श्रमिकों ने यह भी माँग की कि मजदूरों के झगड़े सुलझाने के लिए समझौता-बोर्डों की स्थापना की जाय।

रेलों के अधिकारों को समाप्त करने के लिए नहरों के पुनः संगठन की माँग भी उठ खड़ी हुई। इस प्रश्न की जाँच करने के लिए सन् १९०६ में एक विशेष समिति की स्थापना की गई। समिति ने हल से लिवरपूल तक लन्दन जाने वाली नहरों को फिर से सरकारी अधिकार में लेने की सिफारिश की। जनता द्वारा भी यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि चूँकि जल-यातायात में स्थल-यातायात की तुलना में कम खर्च होता है अतः नहर-यातायात का पुनर्निर्माण जारी रहना चाहिए। इस प्रकार सरकार के सामने दो प्रस्ताव थे :—

(१) नहरों का पुनर्निर्माण किया जाना चाहिए, तथा

(२) रेलों का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए।

(४) **युद्ध-कालीन स्थिति (सन् १९१४-१९१९)**—प्रथम महायुद्ध काल में रेलों का नियन्त्रण सरकार के हाथ में आ गया था। देश की रक्षा का प्रश्न सर्वोपरि था। अतः रेल यातायात के प्रत्येक पक्ष पर सरकारी नियन्त्रण था। रेल के इंजिन, डिब्बों इत्यादि को एक स्थान पर सुरक्षित रखा जाता था जहाँ से आवश्यकता पड़ने पर देश-विदेशों में उसे भेजा जा सके। युद्ध में किरायों और लागतों में वृद्धि की गई इससे यात्रियों की सुविधा में ह्रास हुआ। रेलों के सामान की कमी अनुभव की जाने लगी। रेल श्रमिकों मे भी असन्तोष बढ़ रहा था वे बार-बार हड़ताल की धमकी दे रहे थे।

(६) **पुनर्निर्माण कार्य का काल (सन् १९१९ से १९३९ तक)**—युद्धोपरांत रेलों के सुधार, श्रमिक संगठनों के व्यवस्थापन और सरकारी अधिकारों की समस्यायें उठ चुकी थीं। युद्ध समाप्त होने पर भी सन् १९२१ तक रेलों पर सरकारी नियन्त्रण चलता रहा। इन दिनों राष्ट्रीयकरण की चर्चा चल रही थी परन्तु सरकार ने पुनः

रेलों को व्यक्तिगत कम्पनियों को सौंप दिया। सन् १९२१ में एक रेल विधान स्वीकृत किया गया जिसके अनुसार इंग्लैंड-वेल्स की १२३ रेल कम्पनियों को मिलाकर चार ट्रङ्क लाइनों में परिवर्तित कर दिया गया। उनके नाम इस प्रकार थे—(१) ग्रेट-वेस्टर्न रेल कम्पनी और (२) नार्थ ईस्टर्न रेल कम्पनी (३) लण्डन, मिडलैण्ड और स्काटलैंड रेल कम्पनी, और (४) सदर्न रेल कम्पनी। रेल किरायादर की सूची भी अधिक सरल बना दी गई। समय सारिणी और किराये को तय करने के लिये **रेलवे-रेट-ट्रिब्यूनल** की स्थापना की गई। रेल श्रमिकों की मजदूरी निश्चित करने के लिये एक केन्द्रीय पारिश्रमिक मण्डल भी स्थापित किया गया। सन् १९२३ के बाद जब रेल-मोटर प्रतियोगिता आरम्भ हुई उसे सुव्यवस्थित रूप देने के लिये एक समिति नियुक्त हुई जिसकी सिफारिशें इस प्रकार हैं:—

(१) रेलों के वर्गीकरण को सुव्यवस्थित किया जाय।

(२) व्यवसायियों तथा यात्रियों को रेलों द्वारा अधिकाधिक सुविधा उपलब्ध की जाय।

(३) रेल-गाड़ियों को बिजली द्वारा चलाया जाय।

(४) मोटर-यातायात पर उचित नियन्त्रण रखा जाय।

इसके पश्चात् आर्थिक मन्दी का काल आरम्भ होता है। आर्थिक-मन्दी में मोटर-यातायात प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप सरकारी संरक्षण और सहायता की आवश्यकता थी। सन् १९३३ में **लन्दन यात्री यातायात-मंडल** की स्थापना हुई। रेलों के इस मण्डल का कार्य अधिक से अधिक माल और यात्रियों को प्राप्त करना था। मोटर-यातायात के नियन्त्रण के लिए एक अधिनियम स्वीकृत हुआ जिसके अन्तर्गत इंग्लैंड को १३ क्षेत्रों में बाँटा गया तथा प्रत्येक क्षेत्र में एक यातायात-विभाग स्थापित किया गया। इस यातायात-विभाग के कार्य ये थे:—(१) मोटर चलाने की अनुमति देना, (२) किरायों की देख-रेख और व्यवस्था करना, (३) सड़कों की देखभाल करना (४) मोटरों के आने-जाने का समय निश्चित करना। सन् १९३५ में **लन्दन इलैक्ट्रिक ट्रान्सपोर्ट कॉरपोरेशन** ने २½ प्रतिशत ब्याज पर ३२० लाख पौंड ऋण प्राप्त करने की कोशिश की। **लन्दन पैसेन्जर ट्रान्सपोर्ट बोर्ड** को १०० लाख पौंड ऋण प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हुआ। यात्रियों की सुविधाओं की जाँच के लिए एक समिति बनाई गई। इस यातायात सलाहकार समिति के दो काम थे—**प्रथम**, विभिन्न प्रकार के यातायात-साधनों की उन्नति करना एवं **द्वितीय**, यातायात के साधनों का परस्पर एकीकरण करना।

(७) **सन् १९३९-१९४५ ई० तक का काल**—यह काल द्वितीय महायुद्ध का काल था। प्रथम महायुद्ध के समान ही सामरिक महत्व को ध्यान में रखते हुए रेलों पर सरकारी नियन्त्रण पुनः लागू किया गया और नागरिक सुविधाओं की कटौती कर सैनिकों को अधिक सुविधायें प्रदान की गईं। रेल किरायों में भी वृद्धि की गई।

(८) **सन् १९४५ से १९६३ तक का काल**—युद्धोपरांत काल में राष्ट्रीयकरण की माँग पुनः जोर पकड़ने लगी और उसके फलस्वरूप सन १९४७ में मजदूर सरकार ने रेल राष्ट्रीयकरण अधिनियम को अन्तिम रूप दे दिया। उस समय सरकार के अधिकार में १९,००० रेल के एंजिन और ११,२०,११८ रेल के डिब्बे थे।

सन १९५३ में नए यातायात अधिनियम के अन्तर्गत सन १९४७ की केन्द्रीय-करण की नीति को बदल दिया गया। एक यातायात आयोग की स्थापना की गई

जिसने रेलों के पुनर्गठन तथा विकेन्द्रीकरण के अनेक सुझाव दिए। इसका प्रतिवेदन जुलाई सन १९५४ में प्रकाशित किया गया। परन्तु प्रतिवेदन के प्रकाशन से पूर्व ही सरकार ने रेल कार्यकारिणी समिति को भङ्ग कर दिया था और रेल आयोग के नियन्त्रण में ही मूल प्रबन्ध का भार दे दिया गया। आयोग ने फिर से इस सरकारी योजना को व्यावहारिकता में परिणित करने के लिए सरकार को सहायता प्रदान की। सन १९५३ के 'यातायात अधिनियम' के अन्तर्गत यह कार्यकारिणी भङ्ग कर दी गई तथा रेलों का प्रबन्ध ६ क्षेत्रीय मण्डलों को सौंप दिया गया। यातायात अधिनियम १९६२ के अनुसार अब यातायात आयोग का कार्य **ब्रिटिश रेल मण्डल** को सौंप दिया गया है। सन् १९५४ से रेलों की प्रगति में विद्युत ने भी विशेष योग दिया। अब रेलें वाष्प-शक्ति के साथ-साथ विद्युत से भी चलने लगीं जिससे कि व्यय में कमी हुई। जहाँ पर विद्युतीकरण सम्भव नहीं है वहाँ पर डीजल इन्जिन का प्रयोग किया जाता है।

सन् १९५९ के अन्त तक ब्रिटिश यातायात आयोग के अस्तित्व में आने के १२ वर्ष बाद, ब्रिटिश रेलों पर पूँजीगत व्यय लगभग ८२० करोड़ पौंड हुआ। इससे कुछ व्यय नवीनीकरण की ओर लगाया गया। सन् १९३० की कठिनाइयों, युद्ध का प्रभाव और युद्धोपरांत काल की समस्याओं ने आधुनिकीकरण की विकास योजनायें कुछ समय के लिए स्थगित कर दीं। इसलिए जनवरी १९५५ में ब्रिटिश यातायात आयोग द्वारा आधुनिकीकरण के लिए एक पन्द्रह-वर्षीय योजना बनाई गई। इस योजना की राशि १२ करोड़ पौंड थी लेकिन बाद में वह १५० करोड़ पौंड तक बढ़ा दी गई। जुलाई सन् १९५९ में संशोधित अनुमानों के अनुसार कुल व्यय १६६ करोड़ पौंड निर्धारित किया गया। इस प्रकार १९-२१ करोड़ पौंड प्रतिवर्ष व्यय किया जायगा। इसकी आर्थिक सहायता कुछ तो आन्तरिक साधनों द्वारा पूर्ण होती है और बाकी यातायात स्टॉक जारी करके पूरी होती है जिसकी गारन्टी सरकार देती है। यातायात आयोग द्वारा जो आधुनिकीकरण की योजना बनाई गई उस पर अब तक ७७ पौंड व्यय किया जा चुका है।

दिसम्बर सन् १९६१ में ब्रिटिश रेलों की दशा निम्न प्रकार थी :—

(१) स्टाफ		५,१८,८६३
(२) स्थायी रास्ते	(अ) रेल सड़क	१८,८४८
	(आ) व्यापार	५०,९१४
(३) लोकोमोटिव	(अ) वाष्प	११,५००
	(आ) विद्युत	१५८
	(इ) डीजल	१,२८५
(४) यात्री वाहन (Passanger Carriages)		
	(अ) वाष्पीय एन्जिन	३२,०००
	(आ) डीजल द्वारा	४,०००
	(इ) बिजली द्वारा	६,८९०

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रेल राष्ट्रीय धरोहर है जिसका उचित उपयोग इंगलैंड की आर्थिक सम्पन्नता का द्योतक है। यहाँ का रेल-यातायात विश्व के देशों के लिए आदर्श कहा जा सकता है।

सामुद्रिक यातायात
(Shipping)

अध्याय २१

प्राचीन और मध्यकाल में भी इंगलैंड सामुद्रिक यातायात में अग्रणी रहा है। स्पेन के अजेय आर्मेडा की पराजय को कौन नहीं जानता ? इसके कारण इंगलैंड की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। **रिचार्ड द्वितीय** के कार्य-काल में एक विशेष विधान स्वीकृत किया गया जिसके अनुसार इंगलैंड के बने जहाजों द्वारा ही इंगलैंड का आयात निर्यात् व्यापार करना अनिवार्य था। इन जहाजों के चालक भी इंगलैंड के ही निवासी होना आवश्यक था। सन् १६२४ ई० के विधानानुसार वर्जिनिया की तम्बाकू का आयात इंगलैंड में वहाँ के बने जहाजों द्वारा ही करने का निश्चय किया गया। इन सारे प्रयत्नों का अर्थ इंगलैण्ड के जहाजी उद्योग और यातायात को उन्नत करना था। प्रारम्भिक काल में इंगलैण्ड के राजाओं ने जहाजी यातायात की उन्नति के कई प्रयत्न किए थे जैसे :—(१) जहाज बनाने वाली कम्पनियों को आर्थिक सहायता देना। (२) जंगलों में जहाज बनाने योग्य लकड़ी को अन्य कार्यों के लिए काटे जाने पर रुकावट डालना। (३) जहाजों के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाना। (४) सन और पटुआ की खेती को प्रोत्साहन देना। (५) पुराने बन्दरगाहों की मरम्मत और उनकी उन्नति करना और नये बन्दरगाहों की स्थापना करना। (६) मत्स्य उद्योग की उन्नति करना तथा (७) सामुद्रिक-यात्रा को प्रोत्साहन देना।

नौ-वहन-विधान (Navigation Act)

सन् १३८१ में नौ-वहन विधान सबसे पहले स्वीकृत हुआ था। किन्तु १५५६ ई० में इस अधिनियम को रद्द कर दिया गया। सन् १६५१ और १६६० की अवधि में इसको फिर से लागू किया गया। सन् १६५१ के नौ-वहन विधान के अनुसार इंगलैंड की सरकारी नीति इस प्रकार थी :—

(१) विदेशी जहाजों को व्यापार के कुछ सीमित क्षेत्रों में ही जाने की अनुमति थी।

(२) इंगलैंड और उसके उपनिवेशों के बीच व्यापार या तो इंगलैंड के या उसके उपनिवेशों के जहाजों द्वारा ही हो सकता था।

(३) इंगलैंड के बन्दरगाहों के मध्य होने वाला व्यापार केवल इंगलैंड के जहाजों द्वारा ही हो सकता था।

(४) अँग्रेजी जहाजों का निर्माण इंगलैंड में ही हो सकता था और उनके कप्तान और तीन चौथाई कर्मचारियों का अँग्रेज होना आवश्यक था।

(५) उपनिवेशवासियों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे आपस का व्यापार इंगलैंड के बने जहाजों द्वारा ही करें।

(६) यह आवश्यक था कि इंगलैंड के जहाजों द्वारा लाया गया माल किसी बीच के बन्दरगाह पर नहीं उतारा जा सकता था।

सन् १६६० में एक नया विधान स्वीकृत किया गया जिससे इंगलैंड की जहाजी शक्ति और अधिक बढ़ गई। इस विधान के अनुसार इंगलैंड के जल में अन्य देशों के जहाजों को पाने पर उनको सामान के साथ जब्त कर लिया जाता था। कुछ परिगणित वस्तुओं का आयात इंगलैंड में ही हो सकता था। उपनिवेशों से बाहर जाने वाले जहाजों को प्रतिज्ञा-पत्र लिखना पड़ता था। इस प्रकार निर्यात और आयात दोनों इंगलैंड होकर ही पूरे होते थे। इस विधान के अनुसार अमेरिका को लोहा और इस्पात उद्योग की उन्नति करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। हालैंड की जहाजी-शक्ति भी समाप्त हो गई थी। इस प्रकार इंगलैंड का एकाधिकार स्थापित हो गया।

सन् १६६० ई० के नौ-वहन-विधान को १६६३, १६७२, १६६६ ई० में संशोधित और परिवर्द्धित किया गया जिनके अनुसार सभी विदेशी जहाजों को शत्रु जहाज घोषित किया गया। अन्य उपनिवेशों को जाने वाले जहाजों को भी उतना ही कर देना पड़ता जितना कि जब कोई जहाज इंगलैंड सामान लाता तो उसे देना पड़ता।

उपर्युक्त अधिनियमों के अन्तर्गत इंगलैण्ड में जहाजी यातायात की बहुत उन्नति हुई। इंगलैण्ड के जहाज सुदूर पूर्व की यात्रा करने लगे। इंगलैंड के विदेशी-व्यापार में भी आशातीत वृद्धि हुई। इन विधानों के कारण इंगलैण्ड विश्व का सर्वश्रेष्ठ सामान-वाहक जहाज-निर्माता, कारखानों वाला देश तथा बड़ा व्यापारिक केन्द्र बन गया। नौ-वहन-विधान के विपरीत प्रभाव भी पड़े। अमेरिका ने इन्हीं नियमों से भयभीत होकर स्वतन्त्रता का युद्ध आरम्भ किया जिसके फलस्वरूप अमेरिका इंग्लैंड के हाथ से जाता रहा।

१७६६ से १६६२ तक के सामुद्रिक-यातायात के काल को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) नौ-व्यापार की स्वतन्त्रता का काल (१७६६ से १८५४ ई०)—यह काल नौ-कर्म की स्वतन्त्रता का काल कहा जा सकता है। इस काल में बहुत से देशों को व्यापार करने की स्वतन्त्रता दे दी गई। सन् १७६६ में संयुक्त-राज्य अमेरिका को अपने ही जहाजों में माल लाने की छूट दे दी गई। यह रियायत वैस्ट इन्डीज को भी दी गई। संयुक्त-राज्य अमेरिका को सन् १८०७ में कनाडा के साथ व्यापार करने की भी स्वतन्त्रता दी गई। इसी प्रकार की सुविधाएं ब्राजील को सन् १८०८ और स्पेनिश-अमरीका गणराज्यों को सन् १८२२ में दी गई। कई देशों ने भी इङ्गलैण्ड के इन नौ-वहन-विधानों के विरुद्ध आवाज उठाई अतः सम्राट को संसद के द्वारा इन देशों से संधि और छूट देने का अधिकार प्राप्त हुआ। इसमें सन् १८२५ और १८४३ के बीच प्रशा, डेनमार्क, स्वीडेन, हेन्सटाऊन, मेकलिनवर्ग, हेनोवर, हॉलेन्ड, जेलोवेरिन और रूस के साथ संधियाँ की गई।

नौ-वहन-विधान में और भी संशोधन किये गये जिससे उपनिवेश माल का नामांकन समाप्त कर दिया गया और उपनिवेशों को विदेशों से सीधा व्यापार करने

की आज्ञा दे दी गई। यद्यपि कुछ प्रतिबन्ध अब भी थे। एशिया और अफ्रीका से सामान ब्रिटिश जहाजों में ही आ सकता था।

सन् १८४० के पश्चात् का यह काल स्वतन्त्र-व्यापार के पूर्ण उत्थार का काल था, उस समय अमरीकन-नौ-वहन को उन्नति के पूरे अवसर मिले। अमरीकी जहाज इङ्गलैंड से सस्ते और शीघ्रगामी होते थे। पर्याप्त विरोध और असन्तोष के पश्चात् सन् १८४९ में नौ-वहन-विधान स्थगित कर दिया गया। व्यापार सब देशों के लिये निर्बाध कर दिया गया। ब्रिटिश जहाज और ब्रिटिश नाविक होने का प्रतिबन्ध भी हटा लिया गया।

(२) **वाष्प-चालित जहाज और जहाजी-कला के विकास का काल (१८५४-१८८० ई०)**—नौ-वहन-विधान की समाप्ति ऐसे समय हुई जबकि सामुद्रिक यातायात में क्रांति हो रही थी। सन् १८५० से १८६० के बीच वाष्प चालित जहाजों का प्रचलन हुआ। लोहे के जहाजों का निर्माण धीरे-धीरे हो रहा था। **विल्किसन** ने सन् १८८७ में लोहे के जहाज का निर्माण किया था परन्तु उस समय यह अनुभव किया गया कि यह प्रकृति के विरुद्ध है। धीरे-धीरे लोहे के जहाज भी बनाये जाने लगे। **चारलोट डूण्ड (Chartlotte Dundas)** पहला जहाज था जो सफलतापूर्वक वाष्प संचालित किया गया, यह कार्य सन् १८०२ में सम्पन्न हुआ। सन् १८२० में लोहे के जहाज होंसर्ले-आयरन-वर्क्स में बनने लगे। सन् १८६० तक भी पुराने ढंग के जहाज ही प्रचलित थे। उस समय ६,८७६ पुराने ढंग के जहाज और ४८७ स्टीमर थे जो १००० से २००० टन भार के थे। इस प्रकार स्टीमर दूर की यात्रा के लिये अधिक उपयुक्त नहीं समझे जाते थे। पहले स्टीमर यात्रियों और डाक को ले जाते थे। वाष्प चालित जहाजों में प्रथम पेसेन्जर-स्टीमर 'कामेट' सन् १८१२ में बना किन्तु **फलटन** अमेरिका में सन् १८०७ में ही बन चुका था। सन् १८१४ में स्लाइड में बना जहाज टेम्स नदी पर यात्रा करता था। सन् १८१३ में स्लाइड में चार जहाज बने, सन १८१६ में ८ और सन् १८२२ में ४८। सन् १८३८ में ४ जहाज अतलान्तिक को पार कर गये। सन् १८२५ में **एण्टर-प्राइज** जहाज भारत भी पहुँचा। सन् १८५०-६० तक यह सिद्ध हो गया कि ये जहाज व्यावहारिक ही नहीं आर्थिक रूप से लाभप्रद भी रहेंगे। सन् १८९० तक इङ्गलेंड के पास ३० लाख टन के वाष्प चालित जहाज थे। सन् १९०० तक २० लाख टन के जहाज रह गये और १९१३ तक ८,५०,००० टन तक के।

स्वेज-नहर के खुल जाने से वाष्प-चालित जहाजों को अपनाने की प्रेरणा मिली। जहाजों के निर्माण और प्रसार में चार बातें आवश्यक थीं—ईंधन, श्रम की मितव्ययिता, सामान के लिये जगह और निर्माण का सस्तापन। इन चारों साधनों की उपलब्धि ने इंग्लेंड के इस व्यवसाय को खूब चमका दिया। मोटर तथा टरबाइन के उपयोग को भी जहाजों में स्थान मिला। प्राचीन काल में भी दो तरह के जहाज थे **ईस्ट-इण्डियामेन** और **वेस्ट इण्डियन फ्री ट्रेडर**। इस्पात से बने जहाजों को भी दो भागों में विभाजित किया गया—एक का नाम **लाइनर** और दूसरे का नाम **ट्रेम्प** पड़ा। लाइनर के छूटने का और स्थानों पर पहुँचने का समय निश्चित था। ट्रेम्प साधारणतः भारवाही जहाज होते थे।

(३) **जहाज-निर्माण और सामान-वाहन में इंग्लेंड की सर्वोच्चता का काल (१८८० से १९१४ ई०)**—लौह और इस्पात के जहाज बनाने में इंग्लैंड विश्व का सर्वोपरि देश रहा है। युद्ध से पूर्व जहाजरानी और सामरिक-इन्जीनियरिंग उद्योग में २ लाख श्रमिक नियोजित थे तथा ३५० लाख पौंड की पूँजी लगी हुई थी। इससे

वार्षिक आय ५० पौंड की होती थी। युद्ध से पूर्व का जहाजी उत्पादन सभी विदेशी जहाजरानी कारखानों से भी अधिक था। इस प्रकार युद्ध आरम्भ होने से पहले इंग्लैंड की व्यापारिक-जहाजरानी सबसे उत्तम थी। जहाजों की निर्माण-संख्या और टनेज का विवरण इस प्रकार है :—

वर्ष १९१३	संख्या	टन भार
जहाज १००० हजार टन से कम भार वाले	८,८५५	११,००,०००
,, ,, ,, अधिक भार वाले	३,७४७	१,०१,७३,०००
कुल	१२,६०२	१,१२,७३,०००

इस काल में विदेशी प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई। हालैण्ड का जहाजी एकाधिकार समाप्त हुआ और इंग्लैंड की प्रभुता सर्वोपरि हो गई। सभी देशों में राष्ट्रीयता की भावना ने इस उद्योग के विकास में सहायता की। सन् १८८१ में फ्रांस की सरकार ने जहाज के लिये धन-दान देना प्रारम्भ किया। सन् १८८५ में जर्मनी, इटली, आस्ट्रिया, जापान और अमेरिका में भी अधिक सहायता देने की प्रथा प्रचलित हुई। सन् १८९० तक आर्थिक सहायता और रक्षणवादी नीति के कारण जर्मनी का जहाजी शक्ति बहुत बढ़ गई थी। विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से बचने के लिये इंग्लैंड में **रिंग** (Ring) नामक जहाजी-कम्पनियों का संगठन बन गया। इंग्लैंड की जहाजी कम्पनियों ने **डेफर्ड रीबेट** की प्रथा भी चलाई। इस समय एकीकरण की प्रवृत्ति जोरों पर थी अतः सरकार द्वारा संरक्षण तथा आर्थिक सहायता दी गई।

(४) प्रथम युद्ध काल (१९१४ से १९१९ ई०)—यह काल प्रथम महायुद्ध का था। इस काल में ग्रेट ब्रिटेन के ८० लाख टन से अधिक और मित्र राष्ट्रों के १० लाख टन से अधिक के जहाज नष्ट हो गये थे। टैंक, स्टीमर आदि जहाजों की विशेष क्षति हुई। युद्ध में नष्ट होने के कारण जहाजों की क्षति पूरी करने के लिये जहाज निर्माण-कार्य को प्रोत्साहन देना पड़ा। जो जहाज उपलब्ध थे वे सभी सैनिक कार्य में लगे थे। उन वस्तुओं का आयात (जिनकी आवश्यकता युद्ध के लिये नहीं थी) बहुत कम कर दिया गया। इस काल में जहाजी-किराये में वृद्धि हुई। सरकार ने जहाजी कम्पनियों पर अतिरिक्त लाभ-कर लगाया था। श्रमिक दल ने सभी जहाजों पर अधिकार करने के लिए सरकार से अनुरोध किया था परन्तु यह कार्य कठिन था। इस समय सभी जहाजों पर केवल सरकारी नियन्त्रण था। इस कार्य के लिये नियन्त्रण कर्त्ता की नियुक्ति हुई।

सन् १९१७ ई० में जब पनडुब्बी जहाजों का कार्य तेजी से होने लगा था तो मित्र राष्ट्रों ने जहाजों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण करना आरम्भ किया जिससे युद्ध में सामान और सैनिक शीघ्रता से पहुँच सकें। युद्ध सम्बन्धी सामानों को मित्र-राष्ट्रों में ठीक-ठीक बटने के लिए नवम्बर सन् १९१७ में एक **एलाइड मेरीटाइम-ट्रान्सपोर्ट कौन्सिल** की स्थापना की गई जिसका प्रधान कार्यालय लन्दन में था। सन् १९१८ में यह कौन्सिल भंग कर दी गई।

(५) आर्थिक मन्दी का काल (१९१९ से १९३९ ई०)—इंग्लैंड के सामुद्रिक-यातायात का विकास स्वतन्त्रतापूर्वक वातावरण में हुआ था। किसी प्रकार का राज्य का प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया फिर भी जब-जब इस उद्योग में कठिनाई का अनुभव हुआ सरकार ने तत्क्षण सहायता की। जब **कैसर विलहैम** ने सबसे तीव्रगति का

रिकार्ड स्थापित किया और यह अनुभव होने लगा था कि सामुद्रिक-यातायात की जीत का सेहरा जर्मनी के माथे बँधने वाला है तो सन् १९०३ में इंग्लैंड की सरकार ने कनार्ड लाइन को २६,००,००० पौण्ड का ऋण प्रदान किया जिस पर २¾% का ब्याज निर्धारित था। इसी प्रकार जब वैस्ट-इण्डीज और इंगलैण्ड़ के बीच व्यापार बढ़ाने का प्रश्न आया तो ४०,००० पौंड आर्थिक सहायता प्रति वर्ष देना तय किया गया।

इस प्रकार युद्धोपरांत काल में जब जर्मनी से प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो गई तो संयुक्त-राज्य अमेरिका और जापान प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने आये। युद्धोतर-काल में जहाज-निर्माण उद्योग अन्य कई कठिनाइयों से अस्त-व्यस्त था। सन् १९१४ और १९२५ में विश्व के देशों की सामुद्रिक-यातायात में सर्वोच्चता निम्नलिखित तालिका से प्रकट होती है :—

विश्व का सामुद्रिक यातायात (Shipping)

देश	कुल टनेज १ जुलाई १९१४ (मिलियन टन)	कुल टनेज १ जुलाई १९२५ (मिलियन टन)	प्रतिशत-विश्व टनेज १ जुलाई १९१४	प्रतिशत-विश्व टनेज १ जुलाई १९२५
विश्व	४२·५	५८·८	१००·०	१००·०
ब्रिटिश साम्राज्य	२०·३	२१·५	४७·७	३६·६
सं० रा० अमरीका	१·८	११·६	४·३	१९·७
जापान	१·६	३·७	३·९	६·३
फ्रांस	१·९	३·३	४·५	५ ६
जर्मनी	५·१	३·०	१२·०	५·१
इटली	१·४	२·९	३·४	४·९
हॉलैण्ड	१·५	२·६	३·५	४·४
नार्वे	१·९	२·६	४·५	४·४
स्वीडन	१·०	१·२	२·३	२·०
स्पेन	०·९	१·१	२·१	१·९
डेनमार्क	०·८	१·०	१·८	१·५
यूनान	१·८	०·९	१·८	१·५
बेल्जियम	०·३	०·५	०·७	०·९
अन्य देश	३·२	२·९	७·५	५·०

मोटर-जहाजों में भी सन् १९१४ के बाद आशातीत उन्नति हुई है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होगा :—

देश	संख्या	टन भार
ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैन्ड	३०५	७,५४,४९५
नार्वे	२३३	३,४५,९६५
स्वीडेन	२११	२,७७,९४७
जर्मनी	१९६	२,७५,६५६

सं० राज्य अमरीका	१६७	२,६७,११६
डेनमार्क	११२	१,६१,८३७
इटली	६६	१,४२,१५८
हालैण्ड	१२८	१,३८,३६७
अन्य देश	६६७	३,२०,४६६

सरकारी नियन्त्रण भी युद्धोत्तर काल में समाप्त हो गया था। सन् १६२१ के बाद जहाजी-यातायात में मन्दी आरम्भ हुई। इसका कारण था विदेशी व्यापार की कमी। यह मन्दी सन् १६२६ तक चलती रही। सन् १६२६ के बाद विदेशी व्यापार की उन्नति के कारण जहाजी-यातायात की दशा सुधरने लगी। सन् १६२७-३० के बीच में कुल जहाजों के उत्पादन का ५३% ब्रिटेन में ही तैयार होने लगा।

इस काल की मुख्य विशेषताएँ थीं :—

(१) विदेशी-व्यापार की कमी के कारण जहाजी किराये में कमी होना।

(२) जहाज निर्माण-उद्योग का स्थगित हो जाना।

(३) जहाज-उद्योग और यातायात में श्रमिकों की छँटनी होना।

(४) श्रमिकों की मजदूरी में कमी होना, तथा

(५) जहाजी कम्पनियों के लाभ में कमी।

(६) युद्धोत्तर काल (१६३१ से १६६२ ई०)—द्वितीय महायुद्ध काल में ग्रेट-ब्रिटेन के बहुत से जहाज नष्ट कर दिये गये। जर्मनी, इटली, जापान के पनडुब्बी जहाजों की तीव्र कार्यवाही के कारण ब्रिटेन को काफी घाटा उठाना पड़ा। युद्धकाल में सभी प्रतिबन्ध लगा दिया गये थे।

१६५२ में इंग्लैंड के पास १८ करोड़ मिलियन टन जलयान-शक्ति थी जो सारे विश्व का २१% था अब इंग्लैंड का स्थान द्वितीय हो गया है। सन् १६५८-से ब्रिटिश जहाजरानी उत्तम अवस्था में है। वर्तमान समय में विश्व का १८ प्रतिशत जहाजी टनेज इग्लैंड का ही है। सन् १६५५-६१ के बीच ब्रिटेन की व्यापारिक जहाजरानी में ११% की वृद्धि हुई जबकि संसार की जहाजरानी में ४१% की वृद्धि हुई (यह १० लाख टन से बढ़कर ११४० लाख टन हो गई) ब्रिटेन में १६६१ में जहाजी खाते में अनुकूल भुगतान-सन्तुलन ५०० लाख पौंड था। कुल आय उस वर्ष ५८२० लाख पौंड की थी। ३० जून १६६१ को ब्रिटेन के कुल व्यापारिक जहाज २१५ लाख टन के थे। वर्तमान समय में ब्रिटेन में कुल ३०० बन्दरगाह हैं, जिनके द्वारा १६६१ में १२५० लाख टन आयात तथा ३१ लाख टन निर्यात् व्यापार किया गया। सन् १६६१ के अन्त में बन्दरगाहों के विकास के लिये ४८० लाख पौंड की योजना पर काम हो रहा था। सन् १६४८ से ही बन्दरगाहों की कुल क्षमता का १/३ भाग सरकार के अधीन है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जहाजरानी उद्योग देश का एक महत्वपूर्ण उद्योग है यद्यपि यह पूर्णरूपेण मालूम नहीं फिर भी ६० प्रतिशत आयात और ७५ प्रतिशत मूल्य का निर्यात ब्रिटिश रजिस्टर्ड जहाजों से सम्पादित होता है। इस रूप में उद्योग का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

सहकारिता आन्दोलन
(Co-operative Movement)

अध्याय २२
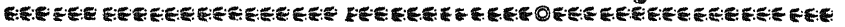
सहकारिता जीवन की ऐसी पद्धति का सूचक हो गया है जो पूँजीवाद और साम्यवाद की बुराइयों और दोषों का निराकरण करती है। यह उन निराश्रितों, कम साधन वाले व्यक्तियों के लिए रामबाण औषधि बन गई है जो स्वयं के साधनों से आर्थिक प्रगति की प्राप्ति करना चाहते हैं। इस प्रकार का आन्दोलन इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के बाद ही अस्तित्व में आया है। इंग्लैंड में इस आन्दोलन का जन्म उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन के रूप में हुआ। यह श्रमिकों की उस भावना का प्रतिफल था जिसमें उन्होंने यह अनुभव किया कि उन्हें स्वावलम्बन और स्वसाधनों के विकास के दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए। सम्भवतया उनकी इस प्रकार की विचार-धारा के मूल में यह भावना अन्तर्निहित थी कि शोषण से किस प्रकार मुक्ति प्राप्त की जाय। विभिन्न देशों में भी यह आन्दोलन सामाजिक असन्तोष और असमान वितरण की भावना का द्योतक रहा है। जहाँ-जहाँ पूँजीवादी ढंग की पद्धति से उत्पन्न बुराइयों का विरोध करना पड़ा है वहाँ इस प्रकार की उदार राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विचारधाराओं ने जन्म लिया है कि जिससे मानव-समाज मुक्ति की श्वाँस ले सका है। सहकारिता अपने आपने आप में इसी प्रकार का स्वेच्छा-पूर्वक चलाया हुआ स्वावलम्बन और स्वात्म-निर्भरता के सिद्धान्त का आन्दोलन है जिसने विश्व के कोटि मानवों को राहत दी है और आज यह विश्वव्यापी आन्दोलन और विचारधारा हो गई है।

सहकारिता-आन्दोलन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण (Historical Review of Co-operative Movement)

इंग्लैंड में सहकारिता-आन्दोलन श्रमिकों द्वारा आरम्भ किया गया था। यह आन्दोलन औद्योगिक क्रांति के बाद, प्रारम्भ हुआ, क्योंकि श्रमिकों ने यह अनुभव किया कि मजदूरी के रूप में उन्हें मध्यस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः उन्होंने श्रमिकों के रूप में नियोजकों से पूरी मजदूरी पाने के लिए अपने को श्रम-संघों में संगठित किया और मध्यस्थों के शोषण से बचने के लिए सहकारी-समितियों के रूप में संगठित किया। कुछ सहकारी समितियाँ **रोबर्ट ओवन** (Robert Owen) के उपदेशों से पहले ही प्रारम्भ हो गई थीं परन्तु इन सहकारी-संस्थाओं को वास्तविक प्रेरणा रोबर्ट ओवन के प्रयोगों से ही मिली।

उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन (Consumers' Cooperative Stores)

इंगलैण्ड में उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन रोचडेल-इक्विटेबुल-पॉयनियर्स संस्था के प्रारम्भ से हुआ जिसकी स्थापना सन् १८४४ में २८ जुलाहों द्वारा एक-एक पौंड के अनुदान से की गई। इन जुलाहों ने अपनी दुकान टोडलेन में रोचडेल में खोली। यह एक प्रयोग था जो सफल रहा बाद में ये ही सिद्धान्त रोचडेल योजना के नाम से विख्यात हुआ। ये सिद्धान्त निम्नलिखित थे :—

(१) माल का विक्रय बाजार मूल्य पर किया जाय। (२) तीन माह में लाभांश का वितरण सदस्यों की खरीद के अनुपात से किया जाय। (३) पूंजी किश्तों में जमा की जाय। (४) पूंजी पर ५% ब्याज दिया जाय। (५) ऋण या उधार नहीं दिया जाय। (६) आय का कुछ भाग शिक्षा और सुधार पर व्यय किया जाय। (७) सभी मामलों में सदस्यों का समान मतदान हो चाहे उनका अंशदान कम या अधिक हो। रोचडेल सहकारी संस्था की प्रगति इन आँकड़ों से प्रकट है :—

वर्ष	सदस्य संख्या	बिक्री (पौण्डों में)
१८४५	७४	७१०
१८५५	१४००	४४,९०२
१८६५	५३२६	१,९६,२३४
१८७५	८४१५	३,०५,६५७

इस प्रगति से उत्साहित होकर रोचडेल समिति ने अपना कार्य-क्षेत्र और भी विस्तृत कर लिया। सन् १८४७ में लिनन और ऊनी वस्त्रों, १८५० में गोश्त और १८६७ में डबलरोटी के क्षेत्र में भी व्यवसाय चालू किया गया। सन् १८६७ में तो समिति ने अपनी नानबाई दुकानें (Bakeries) भी स्थापित करली थीं। इसी समय आन्दोलन उत्तरी इंग्लैंड और दक्षिणी स्कॉटलैण्ड में भी फैलने लगा। यह बात स्मरणीय है कि यह आन्दोलन प्रारम्भिक काल में सुव्यवस्थित ढंग से नहीं चल सका क्योंकि थोक व्यापारियों की ईर्ष्या, सदस्यों का स्थानीय व्यापारियों का ऋणी होना, व्यवस्थापकों की बेईमानी; असीमित उत्तरदायित्व, साधारण सहकारी अधिनियमों की प्रतिकूलता, कुछ ऐसी कठिनाइयाँ थीं जिससे आन्दोलन को पूर्ण गति प्राप्त नहीं हुई। ये वैधानिक आपत्तियाँ १८४६, १८५२ और १८६२ के अधिनियमों द्वारा दूर करदी गईं। अन्तिम अधिनियम ने समितियों का उत्तरदायित्व सीमित कर दिया। इस अधिनियम का तात्कालिक प्रभाव पड़ा। सन् १७६३ में ४५४ रोचडेल प्रकार की समितियाँ थीं जिनमें से ३८१ समितियों की सदस्य संख्या १०८,००० थी और उनका वार्षिक व्यवसाय २,६००,००० पौंड का था। सन् १९०० ई० के बाद उपभोक्ता भण्डारों का संगठन आरम्भ हुआ। इसके फलस्वरूप सदस्य-संख्या में भारी अभिवृद्धि हुई। माँस, दूध, रोटी तथा अन्य प्रकार के खाद्य-पदार्थ भी इन भण्डारों द्वारा बेचे जाने लगे। सन् १९२८ में डा० फे० के मतानुसार सम्पूर्ण जनसंख्या के २०% व्यक्ति उपभोक्ता सहकारी भण्डारों से सम्बन्ध रखते थे। प्रथम महायुद्ध के समय सहकारी भण्डारों ने ही खाद्य-पदार्थों, कपड़ा, तम्बाकू, साबुन इत्यादि का अधिकांश वितरण

किया था। ये भण्डार ही युद्ध से पीड़ित लोगों के अस्पतालों को भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ देते थे।

सन् १८६३ में ५३ सहकारी समितियों ने (जिनकी सदस्य संख्या १८३३७ थी), सहकारी थोक-समिति की स्थापना की और सन् १८६४ से मैनचेस्टर में काम करना आरम्भ कर दिया। इन समितियों की पूँजी खुदरा समितियों से प्राप्त की गई। जो समितियाँ इनकीसदस्य थीं, उन्हें निश्चित व्याज और खरीद पर लाभांश प्राप्त होता था। यह आन्दोलन उन स्थानों में अधिक फैला जहाँ श्रमिक लोग अधिक थे। सन् १८६० तक सहकारी-आन्दोलन के मार्ग में अनेक वैधानिक कठिनाइयाँ थीं। ईसाई समाजवादी विचारकों **एफ० डी० मोरिस, चार्ल्स-किंगसले, वेनसिटार्ट नील आदि**— के अथक प्रयत्नों से सहकारी आन्दोलन को वैधानिक रूप प्राप्त करने में सहायता प्राप्त हुई क्योंकि इन लोगों की विचारधाराओं से प्रभावित होकर सहकारी-विधान स्वीकृत हुए।

सहकारी-आन्दोलन इस प्रकार वैधानिक रूप प्राप्त करके निरन्तर बढ़ने लगा। सन् १८६८ में सहकारी-थोक-समिति, स्कॉटलैण्ड में भी प्रारम्भ की गई। नीचे की तालिका दोनों सहकारी-थोक-समिति की प्रगति के आँकड़े प्रस्तुत करती है :—

इंगलिश-सहकारी-थोक समिति		स्कोटिश-सहकारी-थोक समिति	
वर्ष	बिक्री पौंड में	वर्ष	बिक्री पौंड में
१८६४	५१,८५७		
१८६५	१२०,७५४	१८६८	६६६७
१८७०	६७७,७३४	१८७०	१०५,२४६
१८७५	२,२४७,३९५	१८७५	४३०,१६६
१८८०	३,३३९,६८१	१८८०	८४५,२२१
१८८५	४,७९३,१५१	१८८५	१,४३८,२२०
१८८९	७,०२८,९९४	१८८९	२,२७३,७८२

इसी समय इंग्लैंड और वेल्स में भण्डारों की संख्या ७६४ (सन् १८८१ ई०) से बढ़कर ११३४ (सन् १८९६) हो गई तथा सदस्य संख्या ४,७५,४७४ से बढ़कर ११,३३६,६६६ होगई। सन् १८९० में **लार्ड रोजबेरी** ने कहा था "सहकारी-आन्दोलन अपने आप में एक राज्य है।" छब्बीस वर्षों में बिक्री ४,७१,२००,००० पौण्ड और लाभांश ४०,०००,००० पौंड रहा। सदस्य संख्या नेपोलियन की रूस को कूच करने वाली सेना की आधी और पूँजी रानी एन के समय राष्ट्रीय ऋण के बराबर थी। सहकारी वार्षिक आय विलियम तृतीय के शासन काल में प्राप्त सरकारी आय के बराबर थी।"

सहकारी-उपभोक्ता आन्दोलन को प्रोत्साहन और आश्रय गृहणियों द्वारा दिया गया। सन् १८८३ में **महिला-सहकारी गिल्ड** स्थापित किया गया जिसने सहकारी सिद्धान्तों के प्रचार के लिये महत्वपूर्ण कार्य किया।

धीरे-धीरे आंग्ल-सहकारी-थोक समिति ने उत्पादन का कार्य भी अपने हाथों में ले लिया और सन् १८९० में उसके स्वयं के ६ जहाज थे। चाकलेट, ऊनी वस्त्र, बिस्कुट, मिठाइयाँ, साबुन, जूते और अन्न मिलों का कार्य भी इन समितियों ने अपने हाथ में ले लिया। स्कॉटिश सहकारी-थोक-समिति ने उत्पादन के क्षेत्र में कार्यारम्भ किया और १९२३ में आंग्ल और स्कॉटिश सहकारी-थोक-समिति के रूप में एकीकरणात्मक संगठन हो गया। इस समिति का उत्पादन-कार्य अधिकांशतः ब्रिटेन से बाहर चला करता था। उत्पादन के विविध क्षेत्रों में इन समितियों ने अपना अधिकार जमा लिया—कोयला, खान, गेहूँ, फल, डेरी-फार्म, चायबागान की व्यवस्था, कांच, वर्तन इत्यादि उद्योगों का नियन्त्रण भी अपने हाथ में ले लिया। ये समितियाँ चाय की सबसे बड़ी आयातक थीं। दूसरा महत्वपूर्ण कार्य इन समितियों का यह था कि इन्होंने कनाडा, रूस, आस्ट्रेलिया की कृषि सहकारी-समितियों से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इन समितियों के वितरणात्मक-विभागों ने सबसे पहले न्यूनतम-मजदूरी अधिनियम को अपनाया।

आंग्ल सहकारी-थोक-समिति बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सबसे बड़ी व्यापारिक संस्था हो गई जिसके पास सबसे अधिक भूमि का स्वामित्व था। सबसे बड़ी आटा मिल, सबसे बड़ी सूखे फल-मेवों की आयातक और इमारती सामान में सरकार से दूसरा नम्बर इस समिति का था। इस समिति ने बैंकिंग का व्यवसाय भी विकसित किया जिसका कुल लेन-देन १९२५ में ५८,८०,००,००० पौण्ड का था। इस संयुक्त समिति ने सहकारी-बीमा-समिति भी प्रारम्भ की। श्री सी० आर० फे ने १९२५ में लिखा था—"ब्रिटिश सहकारी आन्दोलन की सबसे प्रमुख विशेषता खुदरा उत्पादन है जो कि विभिन्न भण्डारों के आवश्यकतानुसार संचालित होता है।" प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सहकारी भण्डारों की प्रगति नीचे की सदस्य-संख्या तालिका से स्पष्ट है:—

सहकारी-भण्डारों की प्रगति

वर्ष	१९१४	१९२५	१९३५	१९४७
सदस्य संख्या	३०,५३,९७०	५०,००,०००	७४,००,०००	१००,००,०००

इसी प्रकार सहकारी-थोक समित ने भी प्रगति की और सन् १९४८ में आंग्ल सहकारी-थोक समिति की पूँजी १९८० लाख पौंड थी और सुरक्षित भंडार ५३ लाख पौंड था।

सहकारी-उपभोक्ता आन्दोलन ने इंग्लैंड में अपनी जड़ें गहरी जमा ली हैं। उसने एक ओर लाभ की प्रवृत्ति और तत्सम्बन्धी शोषण को समाप्त किया है वहाँ दूसरी ओर श्रमिकों की मजदूरी और आर्थिक दशा सुधारने में सहायक हुआ है। सह-

कारी समितियों की ऊँची मजदूरी ने श्रम-संघों को अन्य क्षेत्रों में भी उसे अपनाने की प्रेरणा दी है। इन समितियों ने शिक्षा, बालक-वयस्क कल्याण और बीमा के कार्य द्वारा सामाजिक सेवा भी की है। सहकारिता ने सदस्यों में आत्म-निर्भरता और ईमानदारी आदि गुणों का संवर्द्धन भी किया है।

उत्पादक सहकारी समिति आन्दोलन (Producer's Co-operative Movement)

जिन ईसाई समाजवादी विचारकों ने उपभोग के क्षेत्र में सहकारिता का प्रचार किया उन्होंने यह भी अनुभव किया कि स्वयं शासित कल-कारखानों से श्रमिकों को अधिक लाभांश प्राप्त हो सकता है। अतः सन् १८५४ में उत्पादक समितियों की स्थापना की गई। आटे की चक्की, सिलाई, लौह-इस्पात उद्योगों में भी सहकारी सिद्धान्त लागू किया गया। सहकारी कारखानों में श्रमिक स्वयं पूँजी और श्रम लगाते थे। श्रमिकों को श्रम के लिये पारिश्रमिक, पूँजी के लिये ब्याज और लाभांश मिलता था। सन् १८५४ से १८८० के मध्य उत्पादन सहकारिता ने नवीन प्रेरणा प्राप्त की। सन् १८८२ में एक **सहकारी-उत्पादन-फेडरेशन** अस्तित्व में आई। किन्तु इनमें से कई समितियों का जीवन अल्पकालीन था और सन् १८८३ तक केवल १५ समितियाँ ही जीवित रह सकीं। जब उपभोक्ता समितियों ने उत्पादन कार्य भी अपने हाथ ले लिया तो इन्होंने आपत्ति प्रस्तुत की परन्तु उनकी यह आपत्ति अस्वीकार कर दी गई और सहकारी थोक समितियाँ उत्पादक-समितियों से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुईं। इस शताब्दी में उत्पादक-समितियों की संख्या १०० तक पहुँची परन्तु प्रथम महायुद्ध तक बहुत-सी समितियाँ समाप्त हो गईं थी। उसके पश्चात् उत्पादन क्षेत्र में सहकारिता ने कोई महत्वपूर्ण प्रगति नहीं की है।

कृषि-सहकारिता (Agricultural Co-operation)

श्री सी० आर० फे के शब्दों में हम कह सकते हैं—"१९०० से पूर्व कृषि के क्षेत्र में सहकारिता नाम-मात्र का आन्दोलन था जिसके पीछे असफलताओं का इतिहास भरा है।" सन् १९०० तक इस क्षेत्र में १२ समितियाँ थीं। आयरलैंड में इस प्रकार की समितियाँ अधिक थीं। सन् १९०५ में थोक-पूर्ति-एजेन्सी के रूप में **'कृषि-सहकारी-फेडरेशन'** (Agricultural Co-operative Feberation) की स्थापना की गई। आयरलैंड की भाँति यहाँ ऐसी समितियों को राज्य द्वारा सहायता प्राप्त नहीं थी, परन्तु राज्य द्वारा इन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था। बाद में सरकार लघु-क्षेत्र आन्दोलन में इनका उपयोग करने लगी।

अन्य समितियाँ

(क) मार्केटिंग सहकारी समितियाँ (Co-operative Marketing Societies)—सन् १९२३ तक इन समितियों की संख्या १००० तक पहुँची और सदस्य संख्या १,५०,००० तक। सन् १९३५ में यह संख्या आधी रह गई। इस प्रकार बाजार क्षेत्र में इन समितियों ने विशेष प्रगति नहीं की।

(ख) साख-सहकारिता (Credit Co-operation)—इस प्रकार की समितियों ने भी इस देश में अधिक प्रगति नहीं की है। यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ ब्याज की दर कम थी। इसलिये लोगों ने सहकारी ऋण-समितियों की उपादेयता अनुभव नहीं की। सन् १८७५ के आर्थिक संकट का प्रभाव भी जैसा यूरोपीय देशों पर

पड़ा वैसा बुरा प्रभाव यहाँ अनुभव नहीं किया गया जिससे सहकारिता आन्दोलन को बढ़ावा मिल सके। सन् १९१३ में सरकार ने एक आयोग की स्थापना की जिसका उद्देश्य सहकारी-साख-समितियों की असफलता के कारणों का अध्ययन करना था। आयोग ने अपने प्रतिवेदन में बताया कि (१) व्यापारी किसानों को अधिक समय के लिये भी सामान उधार दिया करते थे अतः उन्हें सहकारी-साख-समितियों से ऋण लेने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। (२) ऋण लेकर कृषक नकदी खरीद की अपेक्षा उधार खरीद अधिक पसन्द करते थे। (३) असीमित देयता की जोखिम को कम ही लोग लेना चाहते थे। (४) संयुक्त पूँजी वाले बैंकों की शाखाओं का पर्याप्त विस्तार हो चुका था जिनसे किसान ऋण लिया करते थे। (५) सहकारी-साख-समिति के सदस्य अधिकतर एक दूसरे के पड़ौसी होने के कारण किसान ऋण नहीं लेना चाहते थे क्योंकि उनकी वास्तविक आर्थिक दशा की जानकारी उनके दूसरे पड़ौसी को हो जाती थी।

सहकारिता के व्यापक सिद्धान्तों का जितना प्रभाव इंग्लैंड में दृष्टिगोचर होता है उतना कई देशों में दृष्टिगोचर नहीं होता। जन-साधारण में **कोआपरेटिव कांग्रेस, कोआपरेटिव यूनियन, कोआपरेटिव न्यूज, कोआपरेटिव वीमैन गिल्ड और कोआपरेटिव पार्टी** आदि शब्द खूब प्रचलित हैं। ज्यों-ज्यों राजनीतिक चेतना फैलने लगी, श्रमिकों ने यह अनुभव किया कि सहकारिता को भी राजनीति में प्रवेश करना चाहिये। इस प्रकार का पहला प्रश्न **विलियम मेक्सवेल** (William Maxwell) द्वारा १८९७ में उठाया गया था। सन् १९१७ में स्वान सी कांग्रेस में एक **कोआपरेटिव पार्लियामेण्टरी प्रतिनिधि समिति** का गठन किया गया। इस समिति ने सन् १९२० में **कोआपरेटिव पार्टी** (Co-operative Party) को जन्म दिया। सन् १९२६ में इस पार्टी के ५ सदस्य संसद में थे। पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् सन् १९२७ में श्रम-दल और कोआपरेटिव पार्टी में समान हित होने के कारण समझौता हो गया। इस प्रकार सहकारी प्रतिनिधि श्रम-दल (Labour Party) के साथ राजनीतिक क्षेत्र में गतिशील है। सन् १८७१ में **कोआपरेटिव न्यूज** नामक पत्र निकाला गया। सन १९१९ में **कोआपरेटिव कालेज** नामक महाविद्यालय मैनचैस्टर में सहकारी सिद्धान्तों के प्रचार के लिये चलाया गया। विगत वर्षों में सहकारी आन्दोलन ने शोध और गवेषणा कार्य को भी अपने हाथों में लिया है। इस प्रकार सहकारी आन्दोलन का उद्भव, विकास और वर्तमान स्थिति की कहानी विश्व के अविकसित और अर्द्ध-विकसित देशों के लिये प्रेरणास्पद है।

युद्धोत्तर कालीन इङ्गलैंड की आर्थिक स्थिति : एक अध्ययन

अध्याय २३

प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी महान परिवर्तनों की शताब्दी है। किसी भी देश की आर्थिक स्थिति का अध्ययन तब तक अपूर्ण माना जायगा जब तक कि इस शताब्दी में घटित दो महान विश्व-युद्धों और अभी-अभी कृत्रिम उपग्रह या स्पूतनिक द्वारा चन्द्रमा से प्रतिस्पर्द्धा के मानवीय प्रयत्नों का आर्थिक प्रभावों की दृष्टि से अध्ययन किया जाय। इन विगत ६० वर्षों में जो घटनाएं घटित हुई हैं उन्होंने कई नवीन राष्ट्रों का प्रकटीकरण किया और पुराने राष्ट्रों के नेतृत्व को चुनौती प्रदान की है। ऐसी स्थिति में इंग्लैंड जो कि द्वितीय विश्व-युद्ध तक किसी भी प्रकार विश्व का अग्रणी राष्ट्र रहा और अपनी औद्योगिक उन्नति के बल पर विश्व का प्रथम श्रेणी का राष्ट्र रहा वह द्वितीय महायुद्धों के आघातों से ऐसा क्षत-विक्षत हुआ कि अभी तक अपनी अर्थ-व्यवस्था से युद्ध के दूषित प्रभावों को पूर्णरूपेण मिटा नहीं पाया है। आज वह राष्ट्रमण्डल देशों का राष्ट्र है तथा अपनी बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति को पुनर्जीवित करने के लिये "यूरोपीय संयुक्त मण्डी" (European Common Market) का सदस्य बनना स्वीकार कर राष्ट्र-मंडल देशों के व्यापारिक सम्बन्धों के विच्छेद का प्रभाव भी वहन करने का प्रयत्न कर रहा है जिससे वह दिन भी आ सकता है कि राष्ट्रमंडल ही समाप्त हो जाय। प्रश्न उठता है कि इस प्रकार की विशृङ्खलित अर्थ-व्यवस्था के मूल में कौन से तथ्य गतिशील हैं। आइये इस अध्याय में हम इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था के आद्योपान्त स्वरूप का दिग्दर्शन करें।

प्रथम महायुद्ध और इंग्लैंड

प्रथम महायुद्ध से पूर्व इंग्लैंड का आर्थिक विकास अपने चर्मोत्कर्ष पर था। औद्योगिक-क्रांति का सफल प्रणेता इंग्लैंड के अन्य देशों से पूर्व औद्योगिक क्रांति का सृजन इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था के लिए वरदान सिद्ध हुआ। औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था का उत्तम आधार लिए हुए इंग्लैंड विशाल साम्राज्य का अधिष्ठाता बना जिसके विस्तृत भूभाग में सूर्य कभी अस्त ही नहीं होता था। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के पश्चात् यूरोप की राजनीतिक और आर्थिक घटनाओं ने नया मोड़ लिया और फलस्वरूप सन् १९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध हुआ। इस महायुद्ध का इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ा जिन्हें क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) **व्यापार पर प्रभाव**—प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व तक इंग्लैंड व्यापारिक क्षेत्र में विश्व का अगुआ राष्ट्र था। किसी देश का अगुआ होना इसी बात पर निर्भर करता है कि वह आयात की तुलना में निर्यात अधिक करे। इंग्लैंड की भी स्थिति इसी प्रकार की रही और उसके निर्यात सन् १९१४ से पूर्व तक उत्तरोत्तर वृद्धि पाते गये। परन्तु युद्धारम्भ के साथ ही निर्यातों का युद्ध पूर्व स्तर बनाये रखना सम्भव नहीं था क्योंकि युद्ध की आकस्मिक संकटपूर्ण स्थिति ने उत्पादन के साधनों, जहाजरानी और शक्ति के साधनों को अत्यधिक प्रभावित किया। युद्ध-काल में ब्रिटिश वस्तुओं का निर्यात सम्भव न हुआ अतः विश्व के उन आयातक देशों ने अपने उद्योग स्थापित और विकसित कर लिए। उदाहरणार्थ भारतवर्ष और जापान ने अपनी आर्थिक सुविधाओं; श्रम के सस्तापन से सूती वस्त्रोद्योग स्थापित और विकसित कर लिए और पूर्वीय बाजारों को हथियाने में इंग्लैंड से प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ की। इसी प्रकार कोयले की विश्व बाजार माँग पर तेल शक्ति के अधिकाधिक प्रयोग का विपरीत प्रभाव पड़ा और साथ ही साथ नवीन यूरोपीय कोयला खानें इंग्लैंड के लिए प्रतिस्पर्द्धा का कारण बन सकीं। इस प्रकार यह अनुमान लगाया गया है कि सन् १९१३ में ब्रिटिश निर्यातों का मूल्य ५२½ करोड़ पौंड था, जबकि १२९ प्रतिशत मूल्य स्तर में वृद्धि होने पर भी १९१८ में निर्यात मूल्य ५० करोड़ पौंड के लगभग रह गया। विशेषतया सूती वस्त्र; कोयला तथा लोहा-इस्पात के निर्यात में भारी कमी हुई। युद्धोपरांत काल में कुछ समय के लिए आर्थिक समृद्धि के लक्षण दृष्टिगोचर हुए तब निर्यातों का मूल्य १३३·४० करोड़ पौंड हो गया परन्तु आर्थिक मन्दी का प्रभाव शीघ्र ही दृष्टिगोचर हुआ और निर्यात घटकर ७० करोड़ पौंड मूल्य के रह गये। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध और आर्थिक मन्दी ने व्यापारिक क्षेत्र में इंग्लैंड की स्थिति दयनीय बना दी।

(२) **कृषि पर प्रभाव**—जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आंग्ल कृषि को भी व्यापार के समान ही कठिनाई का अनुभव करना पड़ा। युद्ध से पूर्व विश्व के अन्य देशों के कृषि जन्य पदार्थों का आयात सम्भव था परन्तु युद्ध काल में विदेशों से आयात रुक सा गया ऐसी स्थिति में 'कृषि' का विकास करने के अलावा कोई चारा नहीं था। सरकार का कृषि पर नियन्त्रण बढ़ा और राशनिंग की पद्धति प्रारम्भ की गई तथा सरकार ने खाद्य पदार्थों के स्वावलम्बन के कारण कृषि कार्य को भी प्रोत्साहन दिया। बंजर और बेकार भूमि को हल के अन्तर्गत लाया गया। फसलों के उत्पादन क्रम में परिवर्तन किया गया और सरकारी खाद्य विभाग ने अधिक तत्परता तथा कुशलता से इस कार्य को सम्हाला। कृषि पदार्थों तथा कृषि श्रमिकों की न्यूनतम कीमत और न्यूनतम मजदूरी निश्चित की गई। अनुमानतः इस काल में तीस लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर उत्पादन बढ़ाया गया तथा ४० लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्नों का उत्पादन हुआ। इस प्रकार यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि युद्ध काल आंग्ल कृषि के विकास और पुनर्जीवन का काल था। कृषि के महत्व को पुनः एक बार अनुभव किया गया।

(३) **उद्योग पर प्रभाव**—उद्योगों पर भी प्रथम विश्व-युद्ध का यह सामान्य प्रभाव परिलक्षित हुआ कि युद्ध जनित पदार्थों के उद्योगों को प्राथमिकता दी गई। विदेशी व्यापार और यातायात की अव्यवस्था और कठिनाइयों ने कई उद्योगों के लिये कच्चे माल की उपलब्धि और पक्के माल की बिक्री को विपरीत रूप से प्रभावित किया। सूती वस्त्र, कोयला और लोह-इस्पात उद्योगों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है।

सूती-वस्त्र उद्योग के अन्तर्गत उत्पादन पर बहुत भारी आघात हुआ। युद्ध से आयात पर (कच्चे माल—कपास के आयात पर) प्रतिबन्ध लगा और जहाजों को युद्ध काल में नियोजित किया गया। इन दोनों ही तथ्यों का विपरीत प्रभाव यह पड़ा कि सूती वस्त्र उद्योग ठप्प-सा हो गया। युद्धोपरान्त काल में कुछ समय जो आर्थिक समृद्धि (Economic Boom) का काल प्रारम्भ हुआ उससे वस्त्र की माँग में वृद्धि और उद्योग को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ किन्तु सन् १९२० के बाद पतन फिर शुरू हो गया। अनुमानित आँकड़ों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि सन् १९२४ में सन् १९१२ की तुलना में सूत का उत्पादन ३० प्रतिशत और वस्त्र का उत्पादन ३३% घटा। इस रूप में सूती वस्त्र उद्योग को देशी और विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा। इसी प्रकार **कोयला उद्योग** भी युद्धकाल में श्रमिकों की कमी अनुभव करता रहा। श्रमिकों की तथा नागरिक जनसंख्या की सेना में भर्ती गहरी खानों की खुदाई का कार्य चौपट कर सकी। निर्यात के अभाव में भी कोयला उद्योग पर संकट ही था। किन्तु इन उपर्युक्त उदाहरणों की तुलना में **लौह-इस्पात** उद्योग ने युद्ध-काल में प्रगति की क्योंकि इस उद्योग का सामरिक महत्व भी है। उत्पादन और मजदूरी में वृद्धि हुई, मूल्यों पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित हो गया। युद्धोत्तर काल में उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

(४) **अन्य प्रभाव**—बीसवीं शताब्दी की इस महत्वपूर्ण घटना ने इंगलैंड के आर्थिक-प्रभुत्व को सबसे बड़ी चुनौती दी। हम यदि यह कहें कि इस घटना के पश्चात् इंग्लैंड का अब तक का समय आर्थिक पुनर्निर्माण और आर्थिक पुनर्गठन का काल रहा है तो कोई आश्चर्य नहीं। कृषि, उद्योग और व्यापार में एक नवीन प्रवृत्ति परिलक्षित हुई। यातायात के साधनों में राज्य के स्वामित्व की पद्धति ने प्रवेश प्राप्त किया। मुद्रा और अधिकोषण के क्षेत्र में स्वर्ण-अधिमान (Gold Standard) पर आधारित देश अस्त-व्यस्त सा हो गया और स्वर्ण अधिमान को पुनःस्थापित करने के सन् १९३१ तक प्रयत्न होते रहे और अन्ततः उससे विदा लेनी पड़ी। बेकारी और विनियोग की समस्याएँ भी प्रकट रूप में युद्ध और युद्धोत्तरकालीन प्रभाव की देन कही जा सकती हैं। उद्योगों में एकीकरण और संयोग आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ।

अतः यह कहा जा सकता है कि आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रथम महायुद्ध ने प्रभावित किया। 'स्वतन्त्र-व्यापार नीति' (Free trade policy) के दिन लदे और राजकीय संरक्षण का प्रारंभ हुआ और युद्ध के पश्चात् निरन्तर विविध समस्याओं के हल के प्रयत्न लगभग बीस वर्ष तक (सन् १९१८ से सन् १९३८ तक) किये जाते रहे कि पुनः द्वितीय विश्व-महायुद्ध का आविर्भाव हुआ जिसने पुनः इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था को नियन्त्रित और युद्ध स्तरीय-स्वरूप प्रदान किया। द्वितीय महायुद्ध से ब्रिटेन की घरेलू पूंजी में ३,००० मिलियन पौंड तक की कमी हुई जो कि जहाजी नुक्सानों, बम विस्फोटों और औद्योगिक व्यवस्था और प्रतिस्थापना की कमी के कारण सम्भव हुई। अन्य प्रभावों का वर्णन निम्नांकित है :—

(१) **समुद्रपारीय सम्पत्ति की हानि**—लगभग १,००० मिलियन पौंड विनियोग युद्ध सामग्री क्रय करने के लिये बेच दिये गये जिसमें उत्तरी अमेरिका के ४२८ मिलियन पौंड भी सम्मिलित हैं। इन सम्पत्तियों से हुई आय ब्रिटेन के युद्ध पूर्व आयात के अधिकांश भाग के लिये दी गई।

(२) **नये समुद्रपारीय ऋण (New Overseas Debts)**—लगभग ३,००० मिलियन पौंड कीमत के नये विदेशी ऋण संचित हो गये (इनमें भारत के पौंड पावने (Sterling-balances) भी सम्मिलित हैं।)

(३) **व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)**—आयात होने वाले कच्चे माल के मूल्यों में तीव्रता से वृद्धि हुई और सन् १९४९ में १९३८ की तुलना में उतने ही माल का आयात करने के लिये २० प्रतिशत अधिक माल (About one-fifth more goods) निर्यात करना पड़ा।

(४) **निर्यात में कमी**—युद्ध के कारण निर्यात होने वाले माल की मात्रा में कमी हुई। सन् १९४४ में सन् १९३८ की तुलना में एक तिहाई कम निर्यात हुए थे।

(५) **अल्प कोष (Smaller Reserves)**—युद्ध पूर्व काल की तुलना में स्वर्ण और डालर कोषों के मूल्य आधे के लगभग रह गये।

(६) **डालर संकट (World Dollar Shortages)**—युद्ध से हुए विनाश और विध्वंस के कारण ब्रिटेन तथा अन्य स्टर्लिंग क्षेत्रों (अन्य कई देशों का भी) को उत्तरी अमेरिका से अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीदनी पड़ीं। इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये राष्ट्रों के पास डालर की आय अपर्याप्त थी।

युद्धोत्तर कालीन विकास और समस्याएँ (Post-war Developments and Problems)

द्वितीय महायुद्ध काल में इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था को जिस अप्रत्याशित संकट का सामना करना पड़ा उससे यह स्पष्ट है कि विजयी इंग्लैंड पराजित इंग्लैंड से बदतर स्थिति में है। आज भी युद्ध से जर्जरित क्षत-विक्षत अर्थ-व्यवस्था इंग्लैंड की सरकार और जनता के लिये सर दर्द बनी हुई है। हम क्रमशः उन प्रमुख समस्याओं का वर्णन करेंगे जो कि अभी इंग्लैंड के लिये परीक्षा सी सिद्ध हो रही है :—

(१) **उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति**—युद्ध काल में तो देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता और सुरक्षा की दृष्टि से उद्योग-धन्धे सरकारी नियन्त्रण में थे ही परन्तु युद्ध समाप्ति के पश्चात् श्री एटली के नेतृत्व में जो श्रम-दलीय सरकार बनी उसने उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को महत्व का प्रश्न बना दिया और सन् १९४६ में कोयला उद्योग, १९४७ में बिजली उद्योग, सन् १९४८ में गैस उद्योग, सन् १९४९ में लौह-इस्पात उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। यह ठीक है कि इस प्रकार श्रम-दलीय सरकार ने उद्योगों के आर्थिक संकट की निवृत्ति के लिये संगठित उपाय अपनाने का माध्यम निकाला। इन उद्योगों के प्रबन्ध और कार्य-संचालन के लिये सार्वजनिक निगम बनाई गई। सन् १९५१ से पुनः जब अनुदार दलीय सरकार पदारूढ़ हुई तो उनकी प्रवृत्ति राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में सिद्ध हुई। उसने लौह-इस्पात उद्योग को पुनः व्यक्तिगत (Private) क्षेत्र को सौंप दिया।

(२) **डालर संकट**—युद्धकाल में कल-कारखानों, मकानों, दुकानों के नष्ट होने तथा निर्यातों में भारी कमी होने के कारण ब्रिटेन को आयातों का सहारा लेना पड़ा। संयुक्त-राज्य अमेरिका ही इस प्रकार की वस्तुओं की पूर्ति कर सकता था।

इस रूप में डालर की प्राप्ति और भुगतान का संकट सामने आया। इंग्लैंड ने सन् १९४६ में ३$\frac{3}{4}$ करोड़ डालर का ऋण भी लिया था जिसमें दो शर्तें थीं :—

(१) ब्रिटेन अमरीका से अपनी खरीद में कमी नहीं करेगा।

(२) ब्रिटेन विश्व के सभी देशों के लिये डालर स्टर्लिंग विनियम करेगा।

इस प्रकार की स्थिति में भी तात्कालिक आर्थिक संकट पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकी और राष्ट्र-मण्डल देशों के डालर साधनों को भी एकत्रित किया गया। साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका के आयात-निर्यात बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक से भी ऋण लिया गया तथा १८ सितम्बर १९४९ को पौण्ड का अव-मूल्यन (Devaluation) किया गया। साथ ही मार्शल योजना के अन्तर्गत उसे कुछ अन्य देशों से सहायता मिल सकी है तब स्थिति का पहलू सन्तोषजनक दृष्टिगोचर होता है।

(३) **पौंड पावनों के भुगतान की समस्या**—युद्धोत्तर काल में एक महत्वपूर्ण समस्या जो ब्रिटेन के लिये चिन्ता का विषय थी वह यह कि युद्ध काल में उसे भारत, मिस्र इत्यादि देशों से ऋण लेने पड़े अथवा ब्रिटेन का वहाँ शासन होने से प्रतिरक्षा व्ययों का भार उन देशों पर डाला गया। वे सभी ऋण पौण्ड पावना (Sterling Balance) के रूप में संग्रह होते रहे। युद्धोत्तर काल में अपने औद्योगिक विकास को ध्यान में रखते हुए जब इन देशों ने पूँजीगत वस्तुओं के क्रय के लिये इच्छा प्रकट की तो ब्रिटेन के लिये इस रूप में सम्पूर्ण राशि को चुकाना समस्या होगई। विभिन्न सम-झौता वार्ताओं के अन्तर्गत भारत को ६५० लाख; १८० लाख और ८०० पौण्ड की राशियाँ उपयोग के लिए मिल सकी थीं। इसी प्रकार मिश्र की पौंड पावना राशि की समस्या के हल के समय-समय पर हल होते रहे। युद्धोत्तर काल में स्वेज नहर के संकट ने ब्रिटिश पूँजी और ऋणों की स्थिति को अधिक पेचीदा बना दिया। एक स्थिति तो यह आई कि ब्रिटेन ने सभी प्रकार के सम्बन्ध मिस्र (जो अब संयुक्त अरब गणराज्य (U. A. R.) कहलाता है) से तोड़ लिये। अब पुनः आर्थिक व्यापारिक भुगतानों के समझौते चल रहे हैं।

(४) **उत्पादन और रोजगार**—सन् १९४९ से ब्रिटेन में बेकारी में पर्याप्त कमी हुई है। यदि हम दोनों विश्व युद्धों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो मालूम होगा कि उस समय बेकारी का औसत १४% था तो सन् १९४९ और १९५६ के मध्य काम करने वाली जन-संख्या का २०% भाग बेकार था। औद्योगिक उत्पादन भी युद्धोत्तर काल में ५% औसत दर से वृद्धि पा रहा है। सन् १९३८ में १२ प्रतिशत की तुलना में सन् १९५६ में सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन (Gross national product) में १६% से कमी हुई है।

(५) **प्रतिरक्षा पर व्यय**—युद्ध समाप्त होने के कुछ वर्षों तक युद्ध या प्रति-रक्षा पर व्यय में ह्रास हुआ लेकिन सन् १९५० से पुनः इसमें वृद्धि हुई है। सन् १९५२ से प्रतिरक्षा व्यय सकल राष्ट्रीय उत्पादन के ९% से कम नहीं हुए हैं।

(६) **पुनर्निर्माण कार्यक्रम**—क्षत-विक्षत अर्थ-व्यवस्था के निर्माण का कार्य तेजी से सम्पन्न किया जा रहा है। इस क्षेत्र के कार्य सम्पादन के लिए अमरीका, कनाडा इत्यादि देशों से सहायता मिली, साथ ही राष्ट्रीय चरित्र का धनीमानो इंग्लैंड युद्ध के अवशेषों को मिटाने को कृतसंकल्प है। इस रूप में सफलता प्रशंसनीय है यद्यपि युद्धकाल की सी स्थिति तो नहीं प्राप्त हो सकी है।

(६) **मूल्यों की समस्या**—ब्रिटेन को भी अन्य देशों के समान ही मूल्यों की वृद्धि की समस्या का सामना करना पड़ा। सन् १९५६ तक के प्रथम युद्धोत्तर-कालीन दशक में ५०% मूल्य वृद्धि हुई। सरकार ने इस रूप में इसे नियन्त्रित रखने के लिये प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के साधन अपनाए। मुद्रा स्फीति को भी नियन्त्रित किया गया और बैंकिंग दरों में घट-बढ़ करके समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया।

(७) **आर्थिक असन्तुलन और निर्यातों की संवृद्धि का प्रयत्न**—युद्ध ने अर्थ-व्यवस्था को असन्तुलन प्रदान किया और निर्यात की वृद्धि की समस्या को प्रकट रूप से सामने रखा। इंग्लैंड धीरे-धीरे इस सन्तुलन की अवस्था को प्राप्त करने के लिए तथा निर्यातों के प्रोत्साहन के लिए जो नवीनतम प्रयत्न करने जा रहा है उसे हम ब्रिटेन का "यूरोपीय-संयुक्त मंडी" (European Common Market) में शामिल होने का प्रयत्न कह सकते हैं। अनुमान लगाया गया है कि इस प्रकार के प्रवेश से ब्रिटेन अपने निर्यातों को अधिक सन्तुलित कर सकेगा क्योंकि एशिया और अफ्रीका के नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों से इस दशक में इंग्लैंड का निर्यात घटता जा रहा है क्योंकि इन देशों में स्वसाधनों को विकसित कर औद्योगीकरण का मार्ग अपनाया जा रहा है। अतः इंग्लैंड के लिए कोई विकल्प नहीं है सिवा इसके कि वह यूरोपीय संयुक्त मण्डी में शामिल हो कर निर्यातों को सन्तुलित करे। यद्यपि इंग्लैंड राष्ट्र-मंडल का सदस्य है इस नाते एक विपरीत विचारधारा यह प्रचलित सी है ब्रिटेन को राष्ट्रमंडल देशों के आर्थिक और व्यापारिक हित को ध्यान में रखते हुए यूरोपीय संयुक्त मंडी में शामिल नहीं होना चाहिए। घाना की राजधानी अंकारा में हुए अभी राष्ट्र मंडल देशों के वित्त मंत्रियों के सम्मेलन से ऐसी प्रतिध्वनि सुनाई दी फिर भी इंग्लैंड का संयुक्त मंडी में शामिल होना निश्चित-सा है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन के कई उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये और इस रूप में बाजार उसके हाथ से निकल गये। अतः उसकी अर्थ-व्यवस्था पर इस प्रकार के राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना आवश्यक था। इस असन्तुलन की स्थिति में ब्रिटेन अपने को अव्यवस्थित-सा पा रहा है और गतिशील अर्थ-व्यवस्था के पहलुओं को ध्यान में रखते हुए वह यूरोपीय संयुक्त मंडी का हल ढूँढ़ रहा है। देखते-देखते इन विगत पन्द्रह वर्षों में भारत, पाकिस्तान, श्री लङ्का, ब्रह्मा, मलाया, घाना और इसी प्रकार के अन्य एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्र इंग्लैंड से राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके हैं उसने इंग्लैंड की आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव डाला है। अतः आज का इंग्लैंड युद्ध जर्जरित आर्थिक विभीषिकाओं के हल का परीक्षण केन्द्र बना हुआ है। उसे जहाँ एक ओर अपनी आर्थिक प्रतिष्ठा तथा समृद्धि पुनः प्राप्त करनी है तथा दूसरी ओर विश्व की नवीन राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में सन्तुलन स्थापित कर नेतृत्व प्राप्त करना है। देखना यह है कि किस प्रकार इंग्लैंड इस कार्य को सम्पादित करता है।

यूरोपीय संयुक्त मंडी एवं इंगलैंड

(European Common Market & England)

अध्याय २४

"We regard it as a first priority to secure a fundamental reshaping of the present frame-work of World trade. As a member of the European Community, the possibilities of moving at last towards world-wide agreements on trade should be greatly improved. We believe that it would decisively reinforce those European forces already working in favour of liberal and progressive policies."

—*Mr. Macmillan, British Prime-minister*

The Community of the six aims, through the establishment of a Common Market and the gradual assimilation of the member states' economic policies, at promoting;

—harmonious development of the economy within the entire community,

—steady and balanced economic expansion,

—increased stability,

—faster raising of the living standard, and

—closer relations between the member states.

With a view to realising these aims the following measures are, according to the treaty, to be adopted.

1. Combination of the six participating states in a customs union.
2. Liberalising the movement of persons, services and capital.
3. Introducing a common policy in the spheres of agriculture and communications.
4. Applying the agreed terms of the Treaty as regards the safeguards against distortions of competition and the assimilating of the provisions of the countries' internal laws, so far as this is necessary for the proper functioning of the Common Market.
5. Associating the member state's overseas territories.
6. Setting up a European Social Fund and a European Investment Bank.

यूरोपीय संयुक्त मंडी में इङ्गलैंड के प्रवेश से सम्भावित आर्थिक परिणाम

पिछले कुछ समय से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जगत में इंग्लैंड का यूरोपीय संयुक्त मंडी में प्रवेश करने के विषय पर एक बड़ा वाद-विवाद हुआ है। इंग्लैंड द्वितीय महायुद्ध तक विश्व का सर्वोच्च देश था और आर्थिक साधन और बाजारों की दृष्टि से भी उसे किसी देश अथवा देशों के समूह से, समझौता करने की आवश्यकता नहीं थी। वस्तुतः उस समय तक इंग्लैंड इतने विशाल साम्राज्य का स्वामी था कि जिसका उपयोग वह बाजार के रूप में कर सकता था, परन्तु द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् इंगलैंड के हाथ से एक-एक करके उपनिवेश निकलते चले गये और अब स्थिति यह है कि जो पहले **ब्रिटिश कॉमनवेल्थ** नामक गुलाम राष्ट्रों या उपनिवेशों की इकाई थी वह सिवाय एक आध को छोड़ स्वतन्त्र राष्ट्रों की कॉमनवेल्थ (राष्ट्र मंडल) बन गई है। इङ्गलैंड भी इस प्रकार के राष्ट्रमण्डल का एक सदस्य है। ऐसी स्थिति में इङ्गलैंड की अर्थ-व्यवस्था का अस्त-व्यस्त होना और युद्धजनित तथा साम्राज्य-जनित प्रभावों का विपरीत प्रभाव पड़ना इङ्गलैण्ड के लिये जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित कर रहा है। इंग्लैंड उसका आंशिक समाधान यूरोपीय या संयुक्त मंडी का सदस्य होकर प्राप्त करना चाहता है। इससे पूर्व कि हम इङ्गलैंड की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन करें, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि यूरोपीय संयुक्त मंडी के आविभाव और इङ्गलैंड के उसमें प्रवेश की इच्छा का अध्ययन करे।

यूरोपीय संयुक्त मंडी का आविर्भाव

यूरोपीय संयुक्त मन्डी यूरोप के ६ राष्ट्रों (फ्रांस, जर्मनी इटली, हालैन्ड (नीदरलैंड), वेल्जियम तथा लक्समवर्ग) का सामूहिक आर्थिक संगठन है, जिसका आधार २५ मार्च सन् १९५७ की रोम-सन्धि है। इस प्रकार के संगठन की आवश्यकता द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् यूरोप में अनुभव की गई। एक धारणा तो यह कार्य कर रही थी कि युद्ध में पराजित जर्मन राष्ट्र पुनः शक्तिशाली न बने और उसके आर्थिक साधनों का विजयी राष्ट्रों द्वारा अधिकाधिक उपयोग किया जाय। परन्तु यूरोप के विजयी राष्ट्र भी पराजित राष्ट्रों के समान युद्ध का प्रभाव अनुभव कर रहे थे। अतः युद्धोपरान्त काल में **मार्शल सहायता कार्य-क्रम (Marshal Aid Programme)** के अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका ने यूरोपीय मित्र राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देना आरम्भ किया जिससे ऐसे राष्ट्र अपनी अर्थ-व्यवस्था को युद्ध-पूर्व स्तर की बना सके। इसी कार्य-क्रम के अन्तर्गत **यूरोपीय-समिति (Council of Europe)** स्थापित की गई जिसमें मंत्री-स्तरीय समिति और सलाहकार परिषद् की व्यवस्था थी। इस प्रकार की संधि सन् १९४९ की मई में ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, हालेंड, वेल्जियम, लक्समवर्ग, आयरलैंड, नार्वे, स्वीडन; डेन्मार्क के मध्य सम्पन्न हुई।

लगभग इसी समय एक और विशेष घटना घटित हुई। फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी (युद्धकाल के पश्चात् पराजित जर्मनी, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के रूप में विभाजित कर दिया गया) के मध्य उनके लोहा, इस्पात और कोयला साधनों के उपयोग के सम्बन्ध में 'यूरोपीय समिति' के अस्तित्व में आने के एक वर्ष पश्चात् मई सन् १९५० में एक समझौता हुआ और अप्रैल १९५१ में **'यूरोपियन कोयला, इस्पात कम्यूनिटी'** नामक संस्था सरकारी-स्तर पर समझौते के फलस्वरूप स्थापित की गई। इस संस्था में फ्रान्स और पश्चिमी जर्मनी के अतिरिक्त

इटली, बेल्जियम; हालैण्ड और लक्समवर्ग भी शामिल हो गये। इस प्रकार एक संयुक्त बाजार कोयला, लोहा और इस्पात का अपना स्वरूप प्राप्त कर सका। लगभग इसी प्रकार **यूरोपीय अणु-शक्ति संस्था** या **यूरेटम** (**European Atomic Energy Authority : Euratom**) भी अस्तित्व में आई जिसका उद्देश्य सामूहिक रूप से अणुशक्ति के विकास और नियन्त्रण की व्यवस्था करना था। सन् १९५५ में **'यूरोपीय आर्थिक समाज'** (**European Economic Community E. E. C.**) **यूरोपीय संयुक्त मंडी** (**European Common Market E. C. M.**)—स्थापना की जब चर्चा चल रही थी तब इङ्गलैंड को भी आमंत्रित किया गया परन्तु इङ्गलैण्ड ने स्पष्ट रूप से यह आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। इसकी अपेक्षा इङ्गलैंड ने, 'कोयला-इस्पात कम्यूनिटी' तथा 'यूरोपीय अणु-शक्ति संस्था' की सदस्यता चाही परन्तु यह प्रार्थना इसलिये अस्वीकार की गई कि रोम सन्धि के देशों का दृष्टिकोण एकांगी सदस्यता देने का नहीं था।

ऐसी स्थिति में इंगलैंड ने एक प्रतिद्वन्दी संस्था के रूप में **"यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार ऐसोशिएशन"** (**European Free Trade Association**) की स्थापना मई सन् १९६० में की। इस संस्था में ब्रिटेन के अतिरिक्त स्विट्जरलैंड, आस्ट्रिया, पुर्तगाल, नार्वे, स्वीडन तथा डेन्मार्क सहित ६ देश शामिल हुए। इस प्रकार यह सात राष्ट्रों का संगठन था परन्तु यह यूरोपीय संयुक्त मंडी के समान प्रभावशाली न बन सका। सन १९५५ की मंत्री-स्तरीय बातचीत के पश्चात् मार्च सन १९५७ में रोम संधि के अन्तर्गत **यूरोपीय संयुक्त मण्डी** या **यूरोपीय आर्थिक समाज** अस्तित्व में आया जिसमें फ्रान्स, पश्चिमी जर्मनी, इटली, हालैण्ड, बेल्जियम, लक्समवर्ग राष्ट्र सम्मिलित हुए तथा १ जनवरी सन् १९५८ से यह संस्था प्रभावशाली ढङ्ग से कार्य करने लगी। आज तो **यूरोपीय संयुक्त मण्डी** एक ऐसा प्रभावशाली संयंत्र है जो सोवियत रूस को छोड़ यूरोप का सबसे शक्तिशाली आर्थिक संगठन है।

रोम संधि के अन्तर्गत "यूरोपीय संयुक्त मंडी" के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) संधि के अन्तर्गत तटकर समाप्त करने का प्रावधान है जिसके अनुसार १२ से १५ वर्षों के अन्तर्गत सभी प्रकार के व्यापारिक प्रतिबन्ध और कर सदस्य देशों पर नहीं लगेंगे। (सर्वसम्मति से अब यह समय १९७० निश्चित हुआ है जो कि १२ वर्ष का काल कहा जा सकता है।)

(२) सन्धि के अन्तर्गत निश्चित समय-चक्र रखा गया है जिसमें आर्थिक एकीकरण सम्भव हो सकेगा। इस १२ वर्ष की अवधि को ३ चरणों में विभाजित किया गया है। प्रथम चरण (चार वर्ष की समाप्ति) की समाप्ति पर आन्तरिक तटकर में ४०% कटौती प्रत्येक वस्तु पर होगी और निर्यात कर भी **आर्थिक समाज** में समाप्त कर दिये जायेंगे। सन १९६२ में प्रथम चरण समाप्त हो गया और अब दूसरा चरण चालू है। इस काल में भी ४०% कटौती का लक्ष्य है और बाकी तटकर सन १९७० तक समाप्त हो जायेंगे।

(३) गैर-सदस्य राष्ट्रों पर आयात-कर लगाया जा सकता है। आयात-कर की दरें समान होंगी।

(४) यातायात-खर्च सदस्य राष्ट्रों में समान या एक रूप होगा और श्रम सम्बन्धी अधिनियम भी एक से होंगे।

(५) प्रत्येक राष्ट्र (६ देशों में से प्रत्येक) को पूंजी और श्रम का एक रूपता से उपयोग का अधिकार होगा।

(६) सन्धि के अन्तर्गत कृषि पदार्थों के आयात नियमन के लिये सदस्य राष्ट्रों और गैर-सदस्य-राष्ट्रों के लिये व्यवस्था है। संक्रांति काल की समाप्ति पर कृषि पदार्थों की 'केन्द्रीय विपणि संस्था' (Central Marketing Organization) बनाने का भी विचार है।

(७) अन्त में सभी आर्थिक प्रतिबन्ध समाप्त होकर सदस्य राष्ट्रों में सामान, सेवाएं, श्रम और पूंजी स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकेंगी।

(८) सदस्य राष्ट्रों की अधीनस्थ बस्तियों के लिये भी व्यवस्था है।

(९) संधि में 'यूरोपियन सामाजिक कोष' और 'यूरोपीय विनियोग बैंक' नामक आर्थिक संस्थाएं स्थापित करने की व्यवस्था भी है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट है कि 'यूरोपीय संयुक्त मंडी' का आर्थिक प्रभाव दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है। रोम संधि के अनुसार 'यूरोपीय आर्थिक समाज' वाले देशों के अन्तर्गत औद्योगिक और कृषिजन्य पदार्थों को सभी प्रकार के करों से मुक्त रखा जायगा और समाज से बाहर वाले देश के आयात पर तटकर लगेगा। 'यूरोपीय संयुक्त मंडी' न केवल आर्थिक उद्देश्यों तक ही सीमित है वरन् सन्धि के अन्तर्गत वित्तीय, सामाजिक, वैज्ञानिक समस्याओं का भी उसी प्रकार समाधान किया गया है, वर्तमान में चाहे यह विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों की संस्था हो परन्तु कुछ इसकी सामान्य संस्थाएं—यूरोपीय संसदीय समिति, न्यायालय, मंत्रि-परिषद्, आर्थिक और सामाजिक समितियाँ और आयोग—इसे राष्ट्रीय सत्ता से भी अधिक महत्ता प्रदान करती हैं जिसका राजनीतिक उद्देश्य स्पष्ट है और वह संयुक्त यूरोप की सम्भावना को जन्म देती है। यह एक ऐसा अनुभव है कि यूरोपीय राष्ट्र द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से पीड़ित होने के पश्चात् सयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत रूस के प्रभावों से अपने को संयुक्त करके बचा सकते हैं।

इंग्लैंड यूरोपीय संयुक्त मंडी का सदस्य क्यों बनना चाहता है?—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् का इंग्लैंड युद्ध पूर्व का इंग्लैंड नहीं है। अतः किसी ने ठीक ही कहा है कि विजयी इंग्लैंड पराजित इंग्लैंड से भी निकृष्ट है। इंग्लैंड के यूरोपीय संयुक्त मण्डी के सदस्य बनने की प्रेरणा देने वाले कारण सम्भवतः ये हैं :—

(१) इङ्गलैंड ने जिस यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संस्था की स्थापना की थी वह अपनी उदार व्यापार नीतियों में अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सकी है। इङ्गलैंड को उससे जितना अपेक्षित आर्थिक लाभ प्राप्त होना चाहिये था वह नहीं हो पा रहा है। अतः दूसरे उत्तम विकल्प के रूप में इङ्गलैंड यूरोपीय संयुक्त मन्डी का सदस्य बनना चाहता है।

(२) इंग्लैंड का निर्यात व्यापार राष्ट्रमण्डलीय देशों से युद्ध के पश्चात् संरक्षण के अभाव में निरन्तर ह्रासोन्मुख रहा है। निर्यात के प्रोत्साहन और स्थायित्व के लिये यह आवश्यक है कि उसे बाजार प्राप्त हो। राष्ट्रमंडलीय देश भी आर्थिक विकास और औद्योगिक क्रांति के सम्पादन में व्यस्त है अतः इंग्लैंड का औद्योगिक माल वहाँ पूर्णतः खप नहीं पाता और कच्चे माल के स्रोत के रूप में राष्ट्रमंडलीय देश उससे दूर होते जा रहे हैं।

(३) यूरोपीय संयुक्त मंडी के सदस्य देशों ने अपने आपसी व्यापार में सभी प्रकार के तटकर और अलगाव की स्थितियाँ समाप्त करदी हैं तथा इस प्रकार से कीमतों को न्यूनतम स्तर पर स्थिर रखने और उत्पादन-लागत घटाने में सफल हुए हैं। वे अफ्रेशियाई देशों से कच्चा माल प्राप्त करने में सफल हुए हैं, सम्भवतया इंग्लैंड को भी इसी प्रकार के आकर्षण ने सदस्यता के लिए प्रेरित किया हो।

(४) यूरोपीय संयुक्त मंडी के सदस्य राष्ट्रों ने अपनी राष्ट्रीय आय बढ़ाने में अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। सन् १९५० से १९६० तक के काल में प्रतिवर्ष इन राष्ट्रों की आय में ५% वृद्धि हुई तथा औद्योगिक उत्पादन में औसत वृद्धि ७% की हुई है।

(५) इंग्लैंड का व्यापार सन्तुलन बिगड़ रहा है और भुगतान सम्बन्धी घाटे की समस्या भी मुँह बाये खड़ी हैं अतः इंगलैंड अपनी उत्पादन-व्यवस्था तथा आर्थिक प्रबन्ध में परिवर्तन चाहता है।

(६) यूरोपीय संयुक्त मण्डी स्वतः इंगलैंड के लिये भी विशिष्ट बाजार बन गया है। संयुक्त मंडी के देश इंग्लैंड के माल को ले सकते हैं और ले रहे हैं तथा उसका नकदी में भुगतान कर रहे हैं। यदि इंगलैंड किसी कारण इस मंडी की सदस्यता से बाहर रहता है तो उसे तटकर की भारी दीवाल से सिर टकराना पड़ेगा जो कि उसके लिये मँहगा पड़ेगा, उसके स्थान पर यदि वह सदस्य हो जाता है तो उसका माल इन देशों में कर-मुक्त रूप में प्रवेश पायेगा।

(७) भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री हेरोल्ड मेकमिलन के मतानुसार ब्रिटेन का यूरोपीय संयुक्त मंडी का सदस्य होना राष्ट्रमंडलीय देशों के लिये हितकर होगा। इंग्लैंड इनका प्रमुख प्रवक्ता होगा और उनके आर्थिक हितों के लिये सदा प्रयत्नशील होगा। इस रूप में चार तर्क प्रस्तुत किये गये हैं—(अ) विश्व-व्यापार की आवश्यक्ता, (आ) सुव्यवस्थित बाजारों की आवश्यकता, (इ) विकासशील देशों की मान्यता जिससे वे अपने उद्योग और निर्यात को विकसित कर सके और (ई) उन देशों के लिए अतिरिक्त अन्न का नियमन जिनको खाद्यान्न की आवश्यकता है।

(८) इंगलैंड इस नतीजे पर पहुँच चुका है कि यदि वह यूरोपीय संयुक्त मन्डी का सदस्य नहीं बनता तो वह कई राजनीतिक परिवर्तनों और विकास धाराओं से अलग हो जायगा। साथ ही ज्यों-ज्यों रोम की सन्धि के अन्तर्गत प्रस्तावों का दृढ़ता से पालन किया जायगा त्यों-त्यों उसके साथ व्यापार में भेद-भाव बढ़ता जायगा तथा प्रतिस्पर्द्धा तीव्रतर होती जायगी।

(९) इंगलैंड का यह भी अनुभव है कि वर्तमान परिस्थिति में यह सम्भावना है कि यूरोप से अलग-थलग रहने पर गम्भीर राजनीतिक परिणाम उसे भोगने पड़ सकते हैं।

(१०) इंग्लैंड की आर्थिक-शक्ति के ह्रास से उसका राजनीतिक प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कम हो जायगा और उधर यह ६ राष्ट्रों का समूह अपने बढ़ते हुए प्रभाव से निदिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति कर सकेगा।

अतः उपर्युक्त परिस्थितियों और तथ्यों के परिणामस्वरूप इंग्लैंड ने यूरोपीय संयुक्त मंडी की सदस्यता के लिये आवेदन-पत्र दिया जिस पर पर्याप्त समय से विचार

विमर्श हो रहा है। जहाँ एक ओर ब्रिटेन अपनी अर्थ-व्यवस्था की सुदृढ़ता के लिये इसे आवश्यक समझता है वहाँ राष्ट्रीय मण्डलीय देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं पर भी इसका अनुकूल और प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है अतः सम्बन्धित सरकारें भी इस सम्बन्ध में इन विगत महीनों में इस पर विचार-विमर्श करती रही हैं तथा इंग्लैंड की सरकार पर यह दबाव डालती रही है कि यूरोपीय संयुक्त मंडी की सदस्यता में साथी देशों के पारस्परिक हितों का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये। इस प्रकार की सबसे प्रभावशाली बैठक सितम्बर सन् १९६२ की राष्ट्रमन्डलीय देशों के वित्त मन्त्रियों की अकारा (घाना) में बैठक कही जा सकती है। इस बैठक की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र थी कि एक क्षण तो यह अनुभव किया गया कि ब्रिटेन यूरोपीय संयुक्त मंडी की सदस्यता के लिये प्रयत्न छोड़ देगा। लेकिन यदि हम इस परिस्थिति पर एक तटस्थ आलोचक के दृष्टिकोण से विचार करें तो यह मानना होगा कि ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय संयुक्त मन्डी की सदस्यता स्वीकार करना हमारे या राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ कोई विश्वासघात नहीं है। जब किसी राष्ट्र के सामने अपने जीवन-मरण का, जीवन अस्तित्व का प्रश्न प्रस्तुत हो उस समय वह अपना सम्पूर्ण ध्यान इस प्रकार की ज्वलन्त समस्या के हल के लिये लगायेगा न कि मित्रों की सहायता की ओर। इस पर भी ब्रिटिश-प्रधान मन्त्री का यह मत है "राष्ट्रमण्डल और यूरोप दो भिन्न प्रकार के संगठन हैं और एक की सदस्यता दूसरे की सदस्यता को हानि न पहुँचाकर लाभ ही पहुँचायेगी।" अतः इंग्लैंड इस बात का निरन्तर प्रयत्न करेगा कि राष्ट्रमण्डलीय देशों की व्यापारिक प्राथमिकताएँ और तटकर सम्बन्धी सुविधाएँ पर्याप्त सीमा तक सुरक्षित रहें। इसी प्रकार यूरोपीय संयुक्त मन्डी में ब्रिटिश प्रवेश के मुख्य प्रवक्ता श्री हीथ ने भी यह माना है कि कई राष्ट्र मंडलीय देशों की अर्थ-व्यवस्था ब्रिटिश बाजार पर आधारित है क्योंकि उनके माल को बिना किन्हीं प्रतिबन्धों और करों के प्रवेश मिलता रहा है, अतः इंगलेंड निरन्तर इस बात का प्रयत्न करेगा कि जहाँ तक सम्भव हो ऐसे देशों के हितों की रक्षा हो।

वर्तमान स्थिति—इस रूप में हम वर्तमान स्थिति में इंगलैंड और "यूरोपीय आर्थिक समाज" (E.E.C.) के राष्ट्र मण्डलीय देशों से होने वाले व्यापार पर विचार कर सकते हैं :—

वर्ष			कुल निर्यात जो राष्ट्र मंडलीय देशों द्वारा ब्रिटेन और यूरोपीय आर्थिक समाज को किया गया।
१९६०		पौंड	५,८३५,०००,०००
,,	इनमें से ब्रिटेन	,,	१,३४९,०००,०००
,,	यूरोपीय आर्थिक समाज	,,	७२१,०००,०००

इस प्रकार सूदूर राष्ट्र मण्डलीय देशों के सन् १९६० के निर्यात का २३% ब्रिटेन को और १२% 'यूरोपीय आर्थिक समाज' को किया गया, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिये कि सभी देश इस प्रकार से इंग्लैंड पर निर्भर करते हैं। कुछ देश ऐसे भी हैं जो ब्रिटेन के निर्यात पर कम निर्भर कर 'यूरोपीय आर्थिक समाज वाले देशों के व्यापार या निर्यात पर अधिक निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिये मलाया, सिंगापुर, घाना, युगान्डा का नाम लिया जा सकता है। निम्नलिखित तुलनात्मक प्रतिशत आंकड़े जो कि निर्यात से सम्बन्ध रखते हैं, इस स्थिति को स्पष्ट करते हैं :—

(१) मलाया से ब्रिटेन को निर्यात कुल का	१३%
,, ,, यू० आ० स० ,, ,,	१८%
(२) सिंगापुर से ब्रिटेन को निर्यात कुल का	८%
,, ,, यू० आ० स० ,, ,,	९%
(३) घाना से ब्रिटेन को निर्यात कुल का	३१%
,, ,, यू० आ० स० ,, ,,	३५%
(४) युगान्डा से ब्रिटेन को निर्यात कुल का	१६%
,, ,, यू० आ० स० ,, ,,	२१%

वहाँ दूसरी ओर ऐसे देश हैं जो बहुत अधिक इंग्लैंड पर निर्भर करते हैं :—

(१) सायरा लिओन (Sierra Lcone) से ब्रिटेन को निर्यात का कुल	७३%
,, ,, से यू० आ० स० ,, ,,	१२%
(२) न्यूजीलैंन्ड से ब्रिटेन को निर्यात का कुल	५३%
,, ,, यू० आ० स० ,, ,,	१७%
(३) नाइजीरिया से ब्रिटेन को निर्यात का कुल	४८%
,, ,, यू० आ० स० ,, ,,	३०%

और भारत की स्थिति इन देशों के मध्य की है अर्थात् उसका कुल निर्यात व्यापार का २७% ब्रिटेन से और ८% 'यूरोपीय आर्थिक समाज' से सम्पन्न होता है। अतः विभिन्न राष्ट्र मन्डलीय देशों के व्यापार दृष्टिकोण से चार वर्ग किये जा सकते हैं :—

(१) प्रथम वर्ग में कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड को शामिल किया जा सकता है जिनका व्यापार २२% इंग्लैण्ड के साथ और ११% यू० आ० स० के साथ होता है।

(२) द्वितीय वर्ग में भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका को शामिल किया जा सकता है जिनके कुल निर्यात व्यापार का २१% इंग्लैंड से तथा ७% यू० आ० स० से सम्पन्न होता है।

(३) तीसरे वर्ग में वे सभी स्वतन्त्र देश शामिल किये जा सकते हैं जोकि उष्ण कटिबन्धीय परिधि में आते हैं जिनके कुल निर्यात का २५% इंग्लैंड और ७% यू० आ० स० के साथ व्यापार सम्पन्न होता है।

(४) वे शासित-प्रदेश या उपनिवेश जिनके कुल निर्यात का २१% इंग्लैंड तथा ७% यू० आ० स० के साथ सम्पन्न होता है।

अतः इंग्लैंड के यूरोपीय संयुक्त मंडी में शामिल होने के प्रश्न के साथ ही यह मान लिया गया कि इन विभिन्न वर्गों के साथ विभिन्न प्रकार का प्रबन्ध करना अनिवार्य होगा। इसका परिणाम यह है कि इन देशों को जो निर्यात के कम होने तथा उन पर अतिरिक्त चुंगी लगने से आर्थिक हानि होगी उसको कुछ समय तक न होने देने के लिये समझौते सम्पन्न किये जायँ। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड इंग्लैण्ड को खाद्यान्न का निर्यात करते हैं और इसी प्रकार कनाडा और आस्ट्रेलिया खनिज तथा धातुएँ तथा कनाडा उत्पादित माल भी इंग्लैंड को भेजते हैं। खाद्यान्न के क्षेत्र में 'यूरोपीय संयुक्त मंडी' के सदस्यों ने न्यूजीलैंड की समस्या को विशेष समस्या माना हैं। ब्रिटेन न्यूजीलैंड का ९०% मक्खन और ६०% माँस आयात करता है अतः मंडी के सदस्य देशों ने इस समस्या के समाधन के लिये भी सुझाव स्वीकार कर लिये हैं।

आस्ट्रेलिया और कनाडा के खाद्यान्न के निर्यात के सम्बन्ध में यू० आ० स० की मूल्य नीति के सन्दर्भ में विचार किया जा सकता है जिसमें सम्भवतया ब्रिटेन अपना प्रभाव काम में ला सकेगा। यू० आ० स० के सदस्य देश इस बात पर तो सहमत हो गये हैं कि मूल्य नीति उचित होनी चाहिये। ये सदस्य इस बात के लिये भी उत्सुक हैं कि एक ऐसा विश्व-व्यापक समझौता खाद्यान्न सम्बन्धी वस्तुओं के सम्बन्ध में होना चाहिये ताकि समुद्र पार उत्पादकों के हितों का ध्यान रखा जा सके। इसी प्रकार निर्मित मालों के सम्बन्ध में भी यह समस्या मुँह बाये खड़ी है। कनाडा की सालमन मछली और आस्ट्रेलिया के फल विशेष रूप से समस्या उपस्थित करते हैं।

कनाडा के निर्मित माल में अल्यूमीनियम और अखबारी कागज की विशेष समस्या है और ब्रिटेन ने इनके लिये निःशुल्क आयात की बात कही है। इसी प्रकार अफ्रीका और महाद्वीप के स्वतन्त्र राष्ट्रमंडलीय देशों तथा कैरीवियन देशों (दक्षिणी अमेरिका) और अधिकांश इंगलैंड की अधीनस्थ बस्तियों के लिये यू० आ० स० ने यूरोपीय संयुक्त मंडी के ऐसोशिएटेड सदस्यता का प्रस्ताव रखा है और इन देशों को वे सभी प्राथमिकताएँ देना स्वीकार कर लिया है जो फ्रांस, बेल्जियम और उच्च अधीनस्थ बस्तियों के लिये स्वीकार की गई हैं।

भारत, पाकिस्तान और श्री लंका की समस्याओं और आवश्यकताओं का भी अध्ययन किया गया है। चाय के सम्बन्ध में सामान्य तटकर घटाने का समझौता हो गया है। सूती वस्त्रों के सम्बन्ध में भी कुछ रियायतें देने का निर्णय किया गया है। इसमें क्रमशः निम्न प्रकार से संरक्षण की बात कही गई है :—

ब्रिटेन द्वारा मूल्यानुसार		यू० आर्थिक स० द्वारा
३.५	प्रथम सोपान	२०% प्रथम १८ माह के लिये
७.०	द्वितीय सोपान	२०% प्रथम के १८ माह पश्चात्
१२.५	तृतीय ,,	३०% एक वर्ष पश्चात्
—	चतुर्थ ,,	३०%

कुछ खनिज पदार्थों और खेल-कूद की वस्तुओं पर सामान्य तटकर शून्य तक घटा दिया जायगा। अन्य औद्योगिक वस्तुओं के लिए इस प्रकार की रियायतें धीरे-धीरे समाप्त कर दी जायगी। यह सामान्य तटकर का नियम पाँच सोपानों में व्यवहार में लाया जायगा। भारतीय चमड़ा (East India Kips) कुछ भारी जूट पदार्थों और इसी प्रकार के पदार्थों के सम्बन्ध में अभी कोई निर्णय नहीं हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत से जाने वाले जूट पदार्थों पर तटकर लगेगा किन्तु साथ ही ब्रिटिश जूट उद्योग को दिया जाने वाला संरक्षण समाप्त कर दिया जायगा। कहवा और काजू के सम्बन्ध में अभी रियायतें प्राप्त नहीं की गई हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इङ्गलैंड ने 'यूरोपीय संयुक्त मण्डी' की सदस्यता प्राप्त करने के प्रयत्न के साथ-साथ इस बात का प्रयत्न भी किया है कि राष्ट्रमण्डलीय देशों को भी लाभ पहुँचे तथा अनावश्यक रूप से उन देशों की आर्थिक स्थिति पर इसका विपरीत प्रभाव न पड़े। जब इस प्रकार पर्याप्त समय से यूरोपीय संयुक्त मंडी के ६ सदस्य देशों और इङ्गलैंड में मन्डी प्रवेश की शर्तों पर विचार-विनिमय चल रहा था कि अकस्मात ही फ्रांस के कठोर रवैये से ब्रिटिश प्रवेश की बात पर तुषारापात हो गया।

BIBLIOGRAPHY

Acworth, W. M., The Railways of England.

Allen, G. G., British Industries and their Organisation, 1959.

Arndt, H. W. The Economic Lessons of the Nineteen Thirties.

Ashley W. J., Economic Organisation of England.

Ashton, S., Industrial Revolution.

Bevridge, W. H., Pillars of Social Security 1943.

" Full Employment in a Society—A Report, 1945.

Birnie, An Economic History of Europe.

Bhir & Pradhan., Modern Economic Development Vol. I & II; 1958.

Bracey, H. E., English Rural Life, 1959.

Burn, D., (Editor) The Structure of British Industry, Vol. I, & II 1958.

Blund, A. E., and *Brawn, P. A.* etc., English Economic History Select Documents, 1925.

Bowley, A. L., Some Economic Consequences of the Great War, 1931.

British Information Service., Summary of Britains Economic Position.

" " Economic Planning in U. K.

Carr-Saunders, A. M. Jones, D. C., and Moser, C. A., A Survey of Social Conditions in England and Wales, 1958.

Clapham, J. A., A Concise Economic History of Britain upto 1750 (1949).

" An Economic History of Modern Britain, 3 Vols, 1938.

" England in the Eighteenth Century.

Clark, G. N., Wealth of England, 1946-1760, (1946).

Cohan E. W., The English Social Service—Methods of Growth.

Cole, G. D. H., A Short History of the British Working Class Movement.

" British Trade & Industry.

Court, W. B. A., Concise Economic History of Britain From 1750 to Recent Times, 1954.

Course, A. G., The Merchant Navy Today, 1956.

Croome, H. M. and Hammond, R. J., Economy of Britain.

Cunningham, W., The Growth of English History and Commerce. Vol. II and III.

Crossley, E. L. The United Kingdom Dairy Industry 1959.

Das Gupta, A., Economic & Commercial Geog.1961.

Day, J. P.. Introduction to World Economic History Since the Great War.

Day, Clive., Economic Development in Modern Europe.

Digby, M. and Gorst, S. Agricultural co-operation in the United Kingdom, 1957.

Dobb, M., Studies in the Development of Capitalism.

Dubey, R. N., (i) Economic Development of England 1951 (ii) Economic & Commercial Geography, 1959

Edlin, A. L., (ii) Economic & Englands Forests, 1958.

Ellis, H., British Railway's History, 1959.

Fay, C. R., Life and Labour in the Nineteenth Century.

,, Co-operation At Home and Abroad; Vol. I.

Findly, R. M , Britain Under Protection.

Flanders, A., Trade Unions, 1952.

Flanders, A., and Clegg, (Ed.)., The System of Industrial Relations in Great Britain, 1954.

Freeman, T. W., Conurbations of Great Britain, 1959.

Fuchs, C. J., The Trade Policy of Great British and her Colonies Since, 1860.

Halayya, M., A Text Book of Economic History, 1951.

Halevy, E., A History of the English People in 1815, Book II.

Hall, M. P., The Social Services of Modern England, 1959.

Heaton, H., British Way to Recovery.

Heckscher, E. F., Merchantilism, 1931.

H. M. S. O, London., Economic Survey for 1950-1951 and 1956, 1961.

Census 1961 : England & Wales General Report, 1958.

Social Services in Britain, 1959.

Problems of Social Policy, 1950.

Studies in Social Services, 1954.

Distribution of Industry, 1948.

Reorganisation of Cotton Industry, 1959.

Report of the Iron & Steel Board, 1960.

Fisheries Yearbook and Directory, 1960.

Report of Royal Commission on Population 1949.

Hirsch, F. P., and Hunt, K.E., British Agriculture; Structure & Organisation, 1958.

Hobson, J. A., The Evolution of Modern Capitalism.

Holyoake, G. F., Co-operation Today,

Howell, G., Trade Unionism—New and Old.

Hunt, W., and Poole, R. L., A hundred Years of Economic Development, 1840-1940 (1948).

Kahn, A. E., Great Britain in World Economy, 1947.

Knight, H. M., and Barnes, H. C , and Flugel, F., Economic History of Europe.

Kowles, L. C. A., Industrial and Commercial Revolutions in England in 19th Century.

,, Economic Development in the 19th Century.

Lafitte, F., Britains Way to Social Security.

Lewis, W. A., Economic Survey (1919-1939) 1953.

Liposn, E., Economic History of England, Vol. II & III.

,, Planned Economic Versus Free Enterprise—The Lessons of History.

,, Europe in the 19th Century.

Mamoria, C. B., Economic & Commercial Geography (Hindi), 1961.

Maney, G., Climate and British Scene, 1952.

Mantoux, P., The Industrial Revolution in the Eighteenth Century, 1961.

Melchett, L., Imperial Economic Unity.

Milton & Briggs,, Economic History of England.

Nageshrao, S., Modern Economic Development, 1953.

Nee, J. U., Rise of British Coal Industry, 2 Vols. 1932.

Ogg, F. A., and Sharp., W. R. Economic Development of Modern Europe.

P. E. P. (i) Agriculture & Land Use, 1957.
(ii) British Shipping, 1959.

Robbins, L., The Great Depression.

Robson, R., The Cotton Industry in Britain, 1957.

Ross, H. M., British Railways.

Rostow, H. M., British Economy in the 19th Century.

Robertson, D. H., The Control of Industry.

Savkar, D. S., Modern Economic Development of Great Powers, 1961.

Sargent, J. R., British Transport Policy, 1958.

Scott, J. D., Life in Britain, 1956.

Slater, G.,	(i) Making of Modern England.
,,	(ii) Growth of Modern England.
Smart, W.,	Economic Annals of 19th Century.
Southgate, H. W.,	Economic History of England.
Stamp, L. D.,	(i) The Face of Britain, 1957.
	(ii) Land of Britain—Its Use and Misuse, 1950.
Beaver, S. H.,	The British Isles—A Geographic and Economic Survey, 1954.
Srivastava, C. P.,	Modern Economic Development of England, 1948.
Srinivasraghwan, T.,	Modern Economic History—Vol. 1, 1954.
Sheth, K.,	Modern Economic Development of Great Powers, 1952.
Thornton, R. H.,	British Shipping, 1959.
Townshend—Rose, H.,	The British Coal Industry, 1951.
Toynbee, A.,	Lectures on Industrial Revolution of the 18th Century.
Trevelyan, G. M.,	Social History of England.
Viswanathan, M. Rajendran, S., and Vasudevan, K.,	Modern Economic History of England, America and Russia, 1959.
Waters, C. M..	An Economic History of England.
Webb, B., and S.,	(i) The English Poor Law Policy.
	(ii) English Trade Unionism.
Wood, W. V. and Stamp, J.,	Railways, 1825-1928.
Worswick, G. D. N., and others.	The British Economy, 1945-1950 (1952).
Williams, H. T., (Ed)	Principles of British Agriculture Policy, 1960.
Youngson, A. J ,	The British Economy, 1920-1957 (1960).

Publications of Central Office of Information, London :

(i) Britain, 1956, 1959, 1960, 1961, 1963.
(ii) The European Recovery Programme (1947-50).
(iii) Nationalised Industries in Britain Report, 1960.
(iv) Post-war Industrial Progress in U. K., 1958.
(v) U. K. Ship Building Industry, 1957.
(vi) U. K. Steel Industry, 1959.
(vii) Commercial Ports of U. K., 1960.
(viii) Trade Unionist in Britain, 1960.

National Coal Board :

British Coal—The Rebirth of An Industry, 1957.

The British Petroleum Company :

(i) British Oil Industry, 1953.
(ii) The oilfields of Britain, 1956.
(iii) Our Industry, 1959.

IMPORTANT QUESTIONS

Topic-Wise Selection

England's Situation

1. Estimate the influence of social conditions on the economic development of India and England. (*R. U. 1949*)
2. "England's natural resources are found more suitable to industrial revolution rather than agricultural development." Do you agree with the above statement ? Justify your views. (*R. U. 1952, 61*)
3. Discuss the effects of Gulf Stream on England's economy—agricultural and industrial. (*R. U. 1953*)

Agriculture

4. Give a short analysis of the leading features of British agricultural policy after 1915. (*R. U. 1949*)
5. Account for the revolutionary changes initiated in British agricultural policy between 1929 and 1919. (*R. U. 1950*)
6. Name the first pioneers of British Agriculture and discuss the effect of the changes introduced by them in the system. (*R. U. 1952*)
7. Discuss the growth of British Agriculture in the later half of the 19th century and compare it with India since 1940. (*R. U. 1951, 61*)
8. Describe the main features and important results of English Agricultural revolution which started in the 2nd half of eighteenth century. Has it any lessons for India ? (*R. U. 1949*)
9. Give a critical estimate of the efforts made by Great Britain to reorganise agriculture in the present century ? (*Bihar B. A. Hons. 1956*)
10. Sketch the history of Agriculture in England from 1846 to 1914 ; indicating the policy of the state throught this period. (*R. U. 1957*)
11. Discuss the effects of the Second World War on British Agriculture, foreign trade and industries. (*R. U. 1957, 63*)
12. Describe the conditions of British Agriculture in the last quarter of the 19th century. What steps were taken by the Government to help the agriculturists. (*Bihar Univ. B. A. Hons. 1958*)

13. Estimate the services of the following to English Agriculture:
    (1) Lord Townshend
    (2) Robert Bakewell
    (3) Arthur Young
    (4) Iethro Tull (*R. U. 1959*)
14. Discuss the principal causes that led to the mechanisation of Agriculture in England in 19th century. (*B. H. U. 1956, 60*)
15. Trace the growth of British Agriculture in the first half of 19th century. (*Punjab B. Com, I, 1958*)
16. "If the (3rd) third quarter of the 19th century was the golden age of English Agriculture, the last quarter was a time of unrelieved and unexempted depression." Discuss and account for contrast. (*Bihar Univ. B. A. Hons. 1961*)
17. Examine critically the statement, "The Agrarian Revolution in Great Britain during the second half of the 18th century was a necessary condition for development of the Industrial Revolution." (*Bihar B. A. Hons. 1962*)
18. Give a brief history of corn laws and explain the circumstances under which they were repealed. (*Punjab B. Com. I, 1955*)
19. Briefly describe the pre-revolution conditions of Agriculture in England and indicate in what ways they were revolutionised? (*Punjab B. Com. I, 1959*)
20. Briefly discuss the salient features of British Agriculture during the last 100 years. (*Punjab B. Com. I, 1960*)
21. "The Agrarian Revolution was economically justifiable, its social effects were disastrous. (*Punjab B. Com. I, 1960*) (*R. U. 1962*)
22. Point out the main features of the British Agricultural Revolution. How it effected the peasants? (*R. U. B. Com. 1963*)
23. Account for the revolutionary changes initiated in British Agriculture policy between 1929 and 1949. (*R. U. T. D. C. (F) 1963*)
24. "Agricuture in the 18th and 19th century in England went through a revolution analogous in many points to the contemporary revolution in industry". Explain. (*R. U. T. D. C. (F) 1962*)
25. Bringing out the main features of Agricultural policy followed in Britain in between the two wars, discuss the National Agricultural policy of 1932-38. (*R. U. T. D. C. (F) 1961*)
26. Give briefly the Agricultural revival in England in the 18th century, bringing out the main features of the Agrarian Revolution thus brought about. (*R. U. T. D. C. (F) 1961*)

Industry & Transport

27. "The term 'Industrial Revolution' is used, not because the process of change was quick, but because when accomplished

the change was fundamental." Discuss and describe the economic and social effects of Industrial Revolution in Great Britain. *(Bihar B. A. Hons. 1959)*

28. "The 19th century is the outcome of French ideas and British technique." Discuss this statement with special reference to economic development in U. K. *(Bihar Uni. B. A. Hons. 1960)*

29. The Industrial Revolution in England had far reaching effects on every aspect of her economic life." *(Bihar B. A. Hons. 1961)*

30. Give a brief sketch of Industrial Revolution. How did it affect the people in England ? *(R. U. 1950)*

31. "For many years it has been the recurrent theme of the economist that industrial Productivity in this country was too low, by comparison with production in U. S. A. and also with what could be produced with the existing resources and skill of British industry if they were better applied." *(The Economist, August 1948)*

    With reference to the above statement write briefly the recent industrial history of Britain. *(R. U. 1950)*

32. Discuss the factors which brought about the great change in English Industry in the middle of the 18th century. *(R. U. 1951)*

33. "The Locomotive and steams ship replaced national economy by international economy." Comment. *(R. U. 1952)*

34. Account for the Industrial Leadership of England in the 19th century. *(R. U. B. Com. 1963)*

35. Describe the importance of Arkwright, cart-wright, crompton and Kay in British Industrial history. *(R. U. B. Com. 1952, 1960)*

36. Describe the economic and social effects of the Industrial Revolution in England. *(R. U. 1957 1960)*

37. Discuss the economic and social effects of the Industrial Revolution of the eighteenth century. Briefly describe the main inventions which hearlded it in England. *(R. U. 1958)*

38. What do you know about Britain's shipping industry ? How far has it been responsible for the making of modern Britain. *(R. U. 1951, 1960)*

39. Discuss briefly how the Great War affected the economy of England specially in the spheres of Trade and Industries. *(R. U. T. D. C. (F) 1961)*

40. "The economic history of England can well be inter-preted as the story of her coal mines." Comment. *(R. U. 1953, 59)*

41. Discuss the growth of British Iron & Steel industry since 1900. *(R. U. 1953, 61)*

42. What led to the development of cotton industry in England specially at Lanchashire when England was neither a producer nor consumer of cotton. *(R. U. 1953)*

43. Give an account of the inventions that revolutionised the cotton industry in England. *(R. U. B. Com., 1963)*

44. "Is it correct to call what took place in England between 1750 and 1850 an industrial revolution." Discuss. *(R. U. 1951)*

45. Discuss the present position and future prospects of the cotton textile industry of England. *(R. U. Supplementary 1961)*

46. Why did the Industrial Revolution take place first in England? In what way did it improve the economic condition of the people ? *(B. H. U. 1955, Patna B. A. 1960)*

47. write a brief note on the salient features of the industrial revolution in the U. K. *(B. H. U. 1959, 61)*

48. Outline the growth of the textile industry or the iron and steel industry or the coal industry in Great Britain since 1931, analysing, the present day problems and lines of reform. *(B. H. U. M. Com., 1952)*

49. Define 'Industrial Revolution.' Why did the industrial revolution occur first in Great Britain ? *(Patna 1960)*

50. Describe briefly the development of shipping in England during the 19th century. *(Patna B. A. Hons. 1960)*

51. Discuss the role of the transport in the economic development of the U. K. *(Patna 1960)*

52. Examine critically (a) the causes and (b) the economic and social effects of the industrial revolution of Great Britain. *(Patna B. A. Hons. 1961)*

53. Why England became the pioneer of Industrial Revolution ? Discuss the socio-economic effects of Industrial Revolution. *(Punjab B. Com. I, 1958)*

54. State the main features of Industrial Revolution and discuss why it took place, first in England in the eighteenth century ? *{Punjab B. Com., I, 1958 / R. U. B. Com., I, 1962}*

55. Give a critical account of the development of either Railway or Canal Transport in England. What were its effects on the economic life of that Country ? *(Punjab B. Com., I, 1959)* *(R. U. B. Com., I, 1962)*

56. "The chief characteristics of Railway Department between 1894 is the progressive intensification of control of the Railways by the State." Discuss the statement is relation to the British Railways. What were the arguments for the nationalisation of the Railways. *(Bihar Unvi. B. A. Hons. 1959)*

57. What do you understand by the term 'Industrial Revolution'? Why Industrial Revolution came first in Great Britain and not other countries ? *(Punjab B. Com., I, 1960)*

58. Account for the decline of canal transport in England.
(*Punjab B. Com. I, 1961*)

59. Comment on the labour's policy of nationalisation and discuss how far nationalisation has improved the prospects of coal industry. (*Punjab B. Com., I, 1961*)
(*R. U. B. Com., 1962*)

60. Explain briefly the social and economic effects of the Industrial Revolution in England. (*R. U. T. D.C. (F) 1963*)

61. Give an account of the development of either road or inland water transport in Britain. (*R. U. T. D. C. (F) 1962*)

Trade Union Movement & Factory Legislation.

62. Trace briefly the growth of Trade Unionism in Britain from the 15th century until the first quarter of the present century.
(*Bihar B. A. Hons. 1956*)

63. Give a brief account of the growth of organised labour movement of G. B. during the 19th century.
(*Bihar B. A. Hons. 1957*)

64. Trace the growth of the Trade Union Movement in England, discussing its main activities. How has it influenced the condition of labour ? (*R. U. 1957*)

65. Describe the change in the outlook of labour brought about by Industrial Revolution. What were the reasons for it ?
(*R. U. 1951*)

66. How would you avoid strikes in a capitalistic state ? What has been done in India and England so far in this connection and to what results ? (*R. U. 1952*)

67. Describe the development of factory-laws in U. K. from 1901 to 1919. (*Bihar B. A. Hons. 1962*)

68. Trace the growth of Trade Union Movement in England. How does it compare with that in India ? (*R. U. 1958*)

69. "Labour is a living force in England." Discuss the role of Trade Unionism in this respect. (*R. U. 1961. Supple.*)

70. Discuss the salient features of the present day Trade Union Movement in England. How far has labour been able to secure the necessary recognition of its rights and a share in the management of industries ? (*B. H. U. 1959*)

71. Account for the de-terioration in the position of the working classes during the period 1760 and 1850 and discuss legislative measures taken to ameliorate their conditions.

72. "Out of the 'Great Betrayal' of 1832 and the 'Biach years' of 1834 arose chartism."* Trace the growth of the British working class struggle for the amelioration of their socio-economic conditions between 1815 and 1855 keeping in view the above statement. (*Punjab 1960 B. Com I.*)

73. Give a brief account of the labour movement in England from the beginning of this century.
(*Punjab 1961, B. Com, I. Bihar B. A. Hons. 1960.*)

74. Trace the development of Co-operative movement in Great Britain since 1844. (*Bihar B. A. Hons. 1962*)

75. Trace the development of Trade Unionism in England. How does it compare with that in India ? (*R. U. T. D. C. (F) 1963*)

76. "The 19th century witnessed the enactment of series of Factory Acts to protect those who were in need of assistance and protection in the framing of conditions of employment." Discuss the important reforms brought about by these acts. (*R. U. T. D. C. (F.) 1962*)

Social Insurance.

77. Describe briefly the broad features of the plan for social security in Great Britain as outlined by Lord Beveridge. How far has it been effectively worked out ?

78. What do you mean by Social Insurance ? How has it been provided in England ? Do you also find it in India. (*R. U. 1949 & 1961*)

79. Give a brief historical account of the development of the social Security in G. B. during the 20th century. (*Bihar B. A. Hons. 1958, 1961*)

80. Give a brief appraisal of the social-insurance schemes undertaken in G. B. after the first world war. (*R. U. 1960*)

81. Review the development of the social security legislation in G. B. upto the twenties of the present century. (*Patna 1961, B. A. Hons*).

82. What steps have been taken by the British Government for the relief of the poor in the present century ? (*Punjab 1959, B. Com. I.*)

83. What do you understand by Social Insurance ? What is its necessity, and how has it been provided in England ? (*R. U. B. Com. 1963*)

84. Trace briefly the developments in social security in England during the 20th century. (*R. U. T. D. C. (F) 1961*)

Foreign Trade

85. In what ways did the British Government deviate from its usual free trade policy after the war 1914-18. Explain the circumstances which necessitated this change. (*R. U. 1949*)

86. Briefly describe the recent fiscal policy of Britain. How has it affected similar policy in India. (*R. U. 1949*)

87. The adoption of the free trade policy by England and show how it affected her industrial economy at its different stages. (*R. U 1953*)

88. Account for the remarkable growth of foreign trade of England in the 15th century. What were the causes of the reaction, against free trade policy after 1870 ? (*R. U. 1957*)

89. In 19th century Britain there was point of Laissez-faire and social suffering. Discuss. (*Bihar B. A. Hons. 1956*)

90. Discuss the circumstances that forced England to adopt the

protectionst policy after the world depression of the thirities and assess the effects of this change. (*R. U. T. D. C.* (*F*) *1963*)

91. "The characteristic change in British Commercial Policy after 1895 is a reaction from world economics to imperial economics." Knowles.

Under what circumstances and with what result was this change in policy effected ? (*R. U. 1957*)

92. The general results of the growth of Mechnical Transport after 1870 were revolutionary. Briefly indicate these results and discuss the resulting changes in British foreign trade. (*R. U. 1959*)

93. Describe the steps by which England accepted the policy of laissez-faire. Why did she give it up later on ? (*B. H. U. 1955, 57*)

94. What is meant by Imperial Preference ? What was the effect of the policy of imperial preference on British economy ? (*B. H. U. 1958*)

95. Write briefly on the development of the policy of free trade in the U. K. and examine its effect on the trade with colonies. (*B. H. U. 1950, 60*)

96. "British Classical Economic thought during the 19th century was a fine apology in the hands of the rising captains of industry and powerful landed aristocracy for unfettered exploitation of the working classes at home and a policy of New constructive imperialism abroad." Comment. (*Punjab 1960 B. Com. I*)

97. Examine the importance of Foreign trade in the British economy. What measures have been adopted in recent years by the British govt. to expand her foreign trade ? (*Punjab 1960 B. Com. I*)

98. "The characteristic change in British Commercial policy after 1915 is a reaction from world economics to imperial economics." Comment. (*Punjab 1960 B. Com. I*)

99. Trace the origin, development and subsequent-abandonment of the policy of Free trade in U. K. (*T. D. C.* (*F*) *1962*)

Miscellaneous

100. Discuss the factors that led to disequilibrium in the British economy after world war II. (*B. H. U. 1955*)

101. What was the contribution of the Empire Countries to the development of British economy in the latter half of 19th century. (*B. H. U. 1956*)

102. Discuss the importance of trade with Empire Countries to the U. K. Do you agree with the view that the Empire countries financed the second; "Industrial Revolution." (*B. H. U. 1957*)

103. Give the main features of the Marshall plan and its contribution in rehabilitating British economy in the post-war period. (*B. H. U. 1957*)

304. Write briefly on Industrial and Agricultural revolutions in U. K. Would you conclude that rapid expansion in industrial production necessarily depends on similar expansion in agricultural production ? (*B. H. U. 1958*)

105. Describe briefly some of the problems that Britain has faced since the end of world war II. (*B. H. U. 1958*)

106. Examine carefully the main features of British economy in the period of 1920-30. (*B. H. U. 1959*)

107. State briefly the main features of the capitalist system. What has been the effect of imperialism on it in England ? [*B. H. U. 1959 M. Com.* (*Prev.*)]

108. Examine the grounds on which state interference in economic life is advanced in the capitalistic countries. How far has such interference been accepted in the U. K. in the Second Post-war Period ? (*B. H. U. 1959, M. Com. Prev.*)

109. Examine in brief the attempts made by the U. K. in stabilising her economic position in the post-war period.

110. What factors are responsible for the increasing participation of State in economic activities. Discuss, in relation to Great Britain. (*Patna B. Com. 1961*)

111. Account for the loss of Great Britain's pre-eminence as an industrial power in recent years. (*Patna B. Com. 1961*)

112. Discuss the effects of second world war on the economy of Great Britain. (*Patna 1960*)

113. Account for the comparative decline of England as a world economic power in the inter-war period. [*Patna 1956 B. A.* (*Hons.*)]

114. Account for the supremacy of Great Britain in industry, commerce, navigation and finance in the last century. [*Patna 1954 B. A.* (*Hons.*)]

115. Discuss the effects of Second World War on Britain's Economy What measures have been adopted by the Britain Govt. in the post-world war II period to promote rapid recovery and expansion of her war ravaged economy ? [*Punjab 1958* (*B. Com. I*)]

116. Trace the growth of the co-oprative Movement in Great Britain during last 100 years. (*Punjab 1958* (*B. Com. I*)

117. Write short notes on —
   (a) Navigation Acts (*Raj. 1961*)
   (b) Corn Laws (*Raj. 1961*)
   (c) The Empire in Alliance (*B. H. U. 1961*)
   (d) The Empire in Trust (,, ,,)
   (e) National Insurance Acts. 46-53. (,, ,,)
   (f) Agricultural Act 1947. (,, ,,)

118. Discuss briefly the economic position of Great Britain in 1815 and 1914. (*R. U. 1962*)